Oshin Samant
T.Y BAMS

॥श्रीः॥

रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद्, नई दिल्ली द्वारा निर्धारित
नवीन पाठ्यक्रमानुसार)

(प्रथम भाग)

लेखिका

डॉ. निक्की बुलानी

B. A. M. S., M. D. (Ayu.)
Ph. D. राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर
आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी, जोबनेर (राज.)

आयुर्वेद संस्कृत हिन्दी पुस्तक भण्डार

जयपुर

प्रकाशक

आयुर्वेद संस्कृत हिन्दी पुस्तक भण्डार

झालानियों का रास्ता, किशनपोल बाजार

जयपुर-302001 (राजस्थान), दूरभाष - 2312974

© आयुर्वेद संस्कृत हिन्दी पुस्तक भण्डार
सर्वाधिकार सुरक्षित

ISBN : 978-93-84276-04-1

प्रथम संस्करण 2016

मूल्य :- 350.00

प्रमुख वितरक

जगदीश संस्कृत पुस्तकालय

भगवानदास मार्केट के सामने, तेलीपाडा

वाली गली के अन्दर, चौडा रास्ता, जयपुर (राजस्थान)

फोन नं.- 0141-2562577

लेजर टाईप सैटिंग: - सरस्वती कम्प्यूटर्स, जयपुर।

मुद्रक :- वी. आर. प्रिन्टर्स, जयपुर।

शुभाशंसा

रोग निदान एवं विकृति विज्ञान यह संभवतया आयुर्वेद शास्त्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय हैं त्रिसूत्र आयुर्वेद हेतु लिङ्ग तथा औषध के तीन चतुर्थांश से भी अधिक भाग 'निदान' द्वारा व्याप्त है। चिकित्सा कर्म से पूर्व सम्यक निदान का महत्व सभी आचार्यों ने प्रस्थापित किया हैं। CCIM ने अपने पाठ्यक्रम के माध्यम से III year BAMS छात्रों को चिकित्सा के पूर्व निदान का अध्ययन करवाना सुनिश्चित किया है। तथापि इस पाठ्य क्रम के सुचारु अध्ययन अध्यापन हेतु हिन्दी में अच्छी पुस्तकों का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति हेतु अब वैद्य निक्की बुलानी द्वारा लिखित यह पुस्तक आयी है। वैद्य निक्की ने अथक परिश्रम कर इस पुस्तक को CCIM के पाठ्यक्रमानुसार आकार दिया है। उनको अनेक शुभाशीष है।

आशा ही नहीं वरन् विश्वास है कि यह पुस्तक युगानुरूप संदर्भों के साथ नये युग के छात्रों का श्रृंग ग्रहण न्याय के अनुसार मृगश्रृंग को हाथ से छुआकर (Hands on!) मार्गदर्शन करेगी।

पुनश्च वैद्य निक्की को शुभकामनाओं के साथ।

वैद्य. पवनकुमार गोदतवार
विभागाध्यक्ष
रोग एवं विकृति विज्ञान
राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

शुभकामना

प्रस्तुत ग्रन्थ **''रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान''** में भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार विकृति विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्षों का क्रमानुसार एवं व्यवस्थित रूप से सम्पूर्ण विषय का एकत्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की विवेचन शैली एवं विषय का प्रतिपादन सरल रूप से इस प्रकार किया गया है, जिससे पाठकों को समझने में किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होगी। आयुर्वेद एवं आधुनिक वैज्ञानिक पहलुओं पर भी यथास्थान विचार करके लिखा गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ. निक्की बुलानी ने जो लेखन कार्य किया है, वह छात्रों, शिक्षकों तथा जिज्ञासुओं के लिए समान रूप से लाभकारी सिद्ध होगा।

लेखिका के द्वारा पुस्तक के लेखन में जो परिश्रम किया गया है, वह बुद्धिमतापूर्ण प्रयास प्रशंसनीय है।

प्रो. पीयूष मेहता

विभागाध्यक्ष (कौमारभृत्य)

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

शुभाशीष

प्रस्तुत ग्रन्थ **''रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान''** में भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद् द्वारा स्वीकृत नवीन पाठ्यक्रम के अनुसार विकृति विज्ञान के सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक पक्षों का क्रमानुसार एवं व्यवस्थित रूप से सम्पूर्ण विषय का एकत्र वर्णन किया गया है। ग्रन्थ की विवेचन शैली एवं विषय का प्रतिपादन सरल रूप से इस प्रकार किया गया है, जिससे पाठकों को समझने में किसी भी प्रकार की परेशानी नहीं होगी। आयुर्वेद एवं आधुनिक वैज्ञानिक पहलुओं पर भी यथास्थान विचार करके लिखा गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ गयी है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि डॉ. निक्की बुलानी ने जो लेखन कार्य किया है, वह छात्रों, शिक्षकों तथा जिज्ञासुओं के लिए समान रूप से लाभकारी सिद्ध होगा।

लेखिका के द्वारा पुस्तक के लेखन में जो परिश्रम किया गया है, वह बुद्धिमतापूर्ण प्रयास प्रशंसनीय है।

डॉ. श्रीकृष्ण खाण्डल

सह-आचार्य

(रोग एवं विकृति विज्ञान)

राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर

प्राक्कथन

आयुर्वेदिक चिकित्सा का प्रथम सोपान रोग परीक्षा व रोगान्तर्गत निहित समस्त दोषादि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना है। इसके बिना चिकित्सा नहीं की जा सकती है।

अष्टाङ्ग आयुर्वेद के प्रत्येक रोग का निदान रोगविकृति विज्ञान की परिसीमा के अन्तर्गत ही किया जाता है। यह आयुर्वेद का सैद्धान्तिक व मूल भूत ज्ञान है। इन सिद्धान्तों का व मूलभूत सूत्रों का संकलन प्रस्तुत ग्रन्थ में करने का प्रयास किया है वे इन सभी की व्यवहारिक उपयोगिता का परिष्कृत संकलन किया है। केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा परिषद्, दिल्ली द्वारा सम्पूर्ण भारत में एक ही पाठ्यक्रम चल रहा है, इसी पाठ्यक्रम को केन्द्रित कर प्रस्तुत ग्रन्थ का आधार तय किया है क्योंकि पाठ्यक्रम के सभी आयुर्वेदिक विषय व आधुनिक चिकित्सा विज्ञान विषय जैसे कि Inflammation, healing etc. आदि सभी विषयों का संकलन किसी भी आयुर्वेदिक ग्रन्थों में सम्मिलित रूप से नहीं मिलता है जिससे छात्रों को अधिक परेशानी होती है यद्यपि विषयों का आधुनिक ग्रन्थों से अध्ययन किया जा सकता है परन्तु उन ग्रन्थों में इन विषयों अत्यधिक विस्तृत विवेचन किया गया है। इन सभी का अध्ययन करना समय की दृष्टि से भी व सभी प्रकार के छात्रों के लिए सम्भव नहीं है। अत: पाठ्यक्रम को सरल व सभी छात्रों के लिए अध्ययनगम बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ में दोष, दूष्य, स्रोतस, आवरण, व्याधि आदि विषयों का यथासम्भव बृहत्रयी व लघुत्रयी ग्रन्थों से संकलन कर उनकी व्यवहारिक उपयोगिता का स्पष्टीकरण सरल उदाहरणों द्वारा किया गया है, ताकि छात्र विषय को आत्मसात् कर सकें। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विषय जैसे अनुक्त व्याधियाँ, व्याधिनामकरण आदि विषय भी किसी ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है। वास्तव में यह विषय किसी भी ऐसी व्याधि के ज्ञान के लिये उपयोगी है जिनके बारे में शब्दश: वर्णन सहिताओं में नहीं मिलता है। शोध कार्यों में भी यह मानकीकरण कर दिया गया कि जिन रोगों का वर्णन संहिताओं में नहीं है उन रोगों को चरक विमानस्थानान्तर्गत आसोदेश में वर्णित बिन्दुओं के आधार पर ही किया जाएगा।

पाठ्यक्रम में वर्णित सभी विषय जैसे दोषादि ज्ञान, व्याधि ज्ञान, निदान पंचक ज्ञान आदि का यत्र तत्र वर्णन संहिता ग्रन्थों में मिल जाता है। इन सभी विषयों को स्नातक स्तर व पी.जी. प्रवेशार्थ उपयोगी बिन्दुओं के रूप में पाठ्यक्रम के आधार पर संकलित किया है। ताकि विषय सरल व अधिकाधिक उपयोगी रहे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में छात्रों के मार्गदर्शन के लिये पूर्व परीक्षा प्रश्नों को भी संकलित किया है।

साथ ही आधुनिक प्रयोगशालीय परीक्षण जैसे Blood test, serum test, X- ray, USG, CT scan, MRI आदि का वर्णन स्थूल रूप से किया गया है। स्नातक छात्रों को इन सभी विषयों को विस्तृत अध्ययन करवाना

सम्भव नहीं यह क्लिष्ट विषय है इन क्लिष्ट विषयों को यथासम्भव सरल व ग्रहणोपयोगी शैली में वर्णित किया गया है। आयुर्वेद के समस्त आप्त ऋषिगणों, टीकाकारों, व्याख्याकारों व आयुर्वेदिक विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों को श्रद्धा पूर्वक आभार व्यक्त करती हूँ, इन सभी के मार्गदर्शन द्वारा ग्रन्थ अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त हुआ है।

सर्वप्रथम मेरे पितृजों को, मेरे गुरुदेव श्री बाकें बिहारी गुरुमहाराज जी, मेरी माता श्रीमती ज्योति बुलानी, मेरे पिता श्री प्रकाश चन्द बुलानी, मेरे अग्रज सुमित बुलानी के आशीर्वाद के बिना यह ग्रन्थ पूर्ण होना असम्भव था।

गुरुवर डॉ. पीयूष मेहता पूर्व विभागाध्यक्ष, रोगविकृति विज्ञान, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान की आभारी हूँ जिनके प्रोत्साहन से पुस्तक कार्य प्रारम्भ किया था।

गुरुवर डॉ. श्री कृष्ण खाण्डल सह-**आचार्य** विकृति विज्ञान राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान के अमूल्य ज्ञान व मार्गदर्शन के द्वारा ही क्लिष्ट विषयों का सरलीकरण किया।

गुरुवर डॉ. पवन कुमार गोदतवार **विभागाध्यक्ष** रोगविकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर द्वारा प्राप्त निरन्तर सहयोग व मार्गदर्शन से ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संकलन में मेरे सहयोगी डॉ. संगीता शर्मा, डॉ. डोली सुमन, डॉ. उपासना शर्मा, कु. पूर्वा पारीक, कु. सुरभि बजाज, कु. करिश्मा वरलानी, कु. विजया चौधरी ने विशेष योगदान दिया है। श्रीमती रीटा मिश्रा एवं श्री महेन्द्र मिश्रा, श्री दिनेश साबु जी की भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

श्रीमान् ओमप्रकाश जी शर्मा, संचालक जगदीश संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर की भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को मेरे आग्रह स्वरूप स्वीकार कर इस ग्रन्थ को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने का प्रयास किया है, सरस्वती कम्प्यूटर के टंकणकर्त्ता श्री बजरंग लाल शर्मा द्वारा इस पुस्तक का टंकण कार्य पूर्ण किया इसलिये वो भी साधुवाद के पात्र है।

उक्त प्रयास पाठकगणों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, व आशा है कि आयुर्वेद जगत् को इसका लाभ मिलेगा। प्रयास के अन्तर्गत किसी प्रकार की त्रुटि संधारण एवं मार्गदर्शन के लिये में आपकी आभारी रहूँगी।

डॉ. निक्की बुलानी

आभार प्रदर्शन

वसुदेवसुतम् देवं कृष्णं चारुमर्दनं देवकी परमानन्दं कृष्णं वन्दे जगत् गुरुम्।।

श्री राधा गोविन्द देव जी

प्रो. बनवारी लाल मिश्रा, पूर्व विभागाध्यक्ष, पंचकर्म विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

प्रो. ओमप्रकाश उपाध्याय, कुलपति, सन्त गुरु रविदास आयुर्वेद विश्वविद्यालय, होशियारपुर।

प्रो. महेश चन्द्र शर्मा, निदेशक एस बी एल डी, आयुर्वेद विश्वभारती सरदार शहर, चूरू (राज.)

प्रो. अभिमन्यु कुमार, निदेशक, अखिल भारतीय आयुर्वेद संस्थान, दिल्ली।

प्रो. महेन्द्र सिंह मीना, निदेशक, शिरडी साँई बाबा आयुर्वेद महाविद्यालय, किशनगढ रेनवाल (राज.)

प्रो. शंकर राव, निदेशक, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

प्रो. गोविन्द सहाय शुक्ला, डीन, विभागाध्यक्ष, रसशास्त्र, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर।

डॉ. ओम प्रकाश दाधीच, डीन, विभागाध्यक्ष शरीर क्रिया विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

प्रो. पीयूष मेहता, पूर्व विभागाध्यक्ष, रोगविकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

प्रो. श्रीकृष्ण खाण्डल, एसोसियेट प्रोफेसर, रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. पवन गोदतवार, विभागाध्यक्ष रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

प्रो. कमलेश कुमार शर्मा (विद्यार्थी), विभागाध्यक्ष स्वस्थवृत्त विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. सुशीला शर्मा, एसोसियेट प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष, स्त्री एवं प्रसूति विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. सन्तोष कुमार भटेड, एसोसियेट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, पंचकर्म विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. पी. सुरेश, एसोसियेट प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष, रसशास्त्र विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. मोहन लाल जायसवाल, एसोसियेट प्रोफेसर, द्रव्यगुण विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, एसोसियेट प्रोफेसर, रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. प्रमोद मिश्रा, एसोसियेट प्रोफेसर, कायचिकित्सा विभाग, राजस्थान आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जोधपुर।

डॉ. इन्दुमति मिश्रा, एसोसियेट प्रोफेसर, कायचिकित्सा विभाग, मदन मोहन मालवीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर।

डॉ. नम्रता जोशी, एसोसियेट प्रोफेसर, रसशास्त्र विभाग, आई. एम. एस., बी. एच. यू., वाराणसी।

डॉ. बी. के. सेवतकर, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. शिशिर कुमार मण्डल, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. गोविन्द पारीक, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मौलिक सिद्धान्त विभाग विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. असित् कुमार पांजा, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, मौलिक सिद्धान्त विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. राकेश नागर, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, कौमारभृत्य विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. रितु शर्मा, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रोग एवं विकृति विज्ञान विभाग, राष्ट्रीय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर।

डॉ. दीपमाला यादव, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, कौमार भृत्य विभाग, एम. एस. एम. इन्स्टीट्यूट ऑफ आयुर्वेद, खानपुर।

डॉ. शिवानी गुप्ता, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, रोगनिदान एवं विकृति विज्ञान, वाई. एम. टी. आयुर्वेद कॉलेज, खारघर, मुम्बई।

डॉ. नीलम गुप्ता, लेक्चचर, गंगाशील आयुर्वेद कॉलेज, बरेली।

डॉ. विवेक दुबे, आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी, छत्तीसगढ़।

डॉ. अर्पिता माथुर, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, शरीर रचना विभाग, श्री शिरडी साँई बाबा आयुर्वेदिक कॉलेज, किशनगढ-रेनवाल, जयपुर।

डॉ. नितेश व्यास, असिस्टेन्ट प्रोफेसर, शरीर क्रिया विभाग, श्री शिरडी साँई बाबा आयुर्वेदिक कॉलेज, किशनगढ-रेनवाल, जयपुर।

डॉ. चेतना अग्रवाल, आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी, राजस्थान।

विषयानुक्रमणिका

अध्याय-1

दोष दूष्यादि विज्ञानम्

1-90

रोग निदान परिचय 1
परिभाषा 1
महत्त्व 2
दोष वृद्धि, क्षय, प्रकोप के सामान्य निदान व लक्षण 3
दोषो की वृद्धि, क्षय व प्रकोप के सामान्य कारण 4
वात प्रकोप के हेतु 5
प्रकुपित वात के लक्षण 5
पित्तप्रकोप के हेतु 6
प्रकुपित पित्त के लक्षण 6
कफप्रकोप के हेतु 7
प्रकुपित कफ लक्षण 7
वात वृद्धि लक्षण 8
पित्तवृद्धि के लक्षण 8
कफवृद्धि के लक्षण 9
वातक्षय के लक्षण 10
पित्तक्षय के लक्षण 11
कफक्षय के लक्षण 11
पञ्चविध दोष भेद की विकृतावस्था 12
वात के पाँच भेद 12
पित्त के पाँच भेद 15
कफ के पाँच भेद 17
दोष धातु का आश्रय आश्रयी भाव 18
धातुक्षय, वृद्धि लक्षण व प्रदोषज विकार 19
रस धातु प्राकृत कर्म 19
रस क्षय के लक्षण 20
रस वृद्धि के लक्षण 20
रस प्रदोषज विकार 21
रक्त धातु प्राकृत कर्म 23
रक्त क्षय लक्षण 23
रक्त वृद्धि लक्षण 23
रक्त प्रदोषज विकार 23
मांस धातु प्राकृत कर्म 25
मांसक्षय लक्षण 25
मांसवृद्धि लक्षण 26
मांसप्रदोषज विकार 26
मेद धातु प्राकृत कर्म 27
मेदक्षय लक्षण 27
मेद वृद्धि लक्षण 28
मेद प्रदोषज विकार 28
अस्थिधातु प्राकृत कर्म 29
अस्थि क्षय लक्षण 29
अस्थि वृद्धि लक्षण 30
अस्थि प्रदोषज विकार 30
मज्जा धातु प्राकृत कर्म 30
मज्जा क्षय लक्षण 30
मज्जा वृद्धि लक्षण 31
मज्जा प्रदोषज विकार 31
शुक्र धातु प्राकृत कर्म 31
शुक क्षय लक्षण 32
शुक्र वृद्धि लक्षण 32

शुक्र प्रदोषज विकार 32
उपधातु 33
उपधातु प्रदोषज विकार 33
मल क्षय वृद्धि लक्षण व प्रदोषज विकार 34
मल प्रदोषज विकार 35
पुरीष सामान्य कर्म 35
पुरीष क्षय लक्षण 35
पुरीष वृद्धि लक्षण 36
मूत्र प्राकृत कर्म 36
मूत्र क्षय लक्षण 36
मूत्र वृद्धि लक्षण 36
स्वेद प्राकृत कर्म 36
स्वेद क्षय लक्षण 36
स्वेद वृद्धि लक्षण 37
इन्द्रिय प्रदोषज विकार 37
अग्नि दुष्टि 37
पर्याय व भेद 38
जाठराग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र 38
भूताग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र 40
धात्वाग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र 41
अग्नि दुष्टि के हेतु 42
अग्नि दुष्टि के भेद व लक्षण 42
आम 45
परिभाषा 45
आम का स्वरुप 46
आमजन्य सामान्य लक्षण 47
आम उत्पत्ति में कारण 47
साम, निराम दोष, दूष्य लक्षण 48
साम वात लक्षण 49
निराम वात लक्षण 49
साम पित्त लक्षण 49
निराम पित्त लक्षण 49
साम कफ लक्षण 50
निराम कफ लक्षण 50
साम व निराम रस आदि दूष्य 50
साम रस लक्षण 50
साम रक्त लक्षण 51
साम मांस लक्षण 51
साम मेद लक्षण 51
साम अस्थि लक्षण 51
साम मज्जा लक्षण 51
साम शुक्र लक्षण 52
साम पुरीष लक्षण 52
निराम पुरीष लक्षण 52
साम मूत्र लक्षण 52
निराम मूत्र लक्षण 52
आम व निरामावस्था के ज्ञान का महत्त्व 52
दोष पाक व धातुपाक 53
धातुपाक 54
मलपाक या दोष पाक 54
आवरण 55
निरुक्ति 56
परिभाषा 56
आवरक व आवृत में अन्तर 56
आवरण के भेद 57
पित्तावृत्त वात लक्षण 58
कफावृत्त वात लक्षण 58
रक्तावृत्त वात लक्षण 59
मांसावृत्त वात लक्षण 59
मेदावृत वात लक्षण 60
अस्थ्यावृत वात लक्षण 60
मज्जावृत्त वात लक्षण 60
शुक्रावृत्त वात लक्षण 60
अन्नावृत वात लक्षण 61
मूत्रावृत वात लक्षण 61
विडावृत वात के लक्षण 61
अन्योन्यावरण 61
प्राण वायु से आवृत व्यान वात लक्षण 62

व्यान वायु से आवृत प्राण वात लक्षण 62
प्राण वायु से आवृत समान वात लक्षण 62
समान वायु से आवृत अपान वात लक्षण 63
प्राण वायु से आवृत उदान वात लक्षण 63
उदान वायु से आवृत अपान वात लक्षण 63
उदान वायु से आवृत प्राण वात लक्षण 63
अपान वायु से आवृत उदान वात लक्षण 63
व्यान वायु से आवृत अपान वात लक्षण 64
अपान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण 64
समान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण 64
उदान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण 65
पित्तावृत प्राण वात लक्षण 65
कफावृत्त प्राण वात लक्षण 65
पित्तावृत उदान वात लक्षण 66
कफावृत्त उदान वात लक्षण 66
पित्तावृत समान वात लक्षण 66
कफावृत्त समान वात लक्षण 66
पित्तावृत व्यान वात लक्षण 67
कफावृत्त व्यान वात लक्षण 67
पित्तावृत अपान वात लक्षण 67
कफावृत्त अपान वात लक्षण 68
द्वन्द्वावृत वात लक्षण 68
आवरण का निदान 68

उपद्रव 69

त्रयोरोगमार्गा 69

रोगमार्गों में दोषों की गति 71
शाखा से कोष्ठ की ओर दोषों का गति 72
कोष्ठ से शाखाओं की ओर गति 72

दोष गति 73

दोषो की त्रिविध गति 73
दिशा के अनुसार गति 74
द्विविध गति 74

स्त्रोतस 75

स्त्रोतस पर्याय 75
स्त्रोतस के भेद 76
स्त्रोतस प्रकार 76
स्त्रोतो दुष्टि हेतु 76
स्त्रोतोदुष्टि के सामान्य लक्षण 77
प्राणवहस्त्रोतस मूल 78
प्राणवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 78
प्राणवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण 79
प्राणवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 79
उदकवहस्त्रोतस मूल 79
उदकवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 79
उदकवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण 80
उदकवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 80
अन्नवह स्त्रोतस मूल 80
अन्नवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 80
अन्नवहस्त्रोतसदुष्टि लक्षण 81
अन्नवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 81
रसवहस्त्रोतस मूल 82
रसवहस्त्रोतसदुष्टि हेतु 82
रसवह प्रदोषज विकार 82
रसवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 82
रक्तवहस्त्रोतस मूल 82
रक्तवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 83
रक्तवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण 83
रक्तवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 83
मांसवह स्त्रोतस मूल 83
मांसवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 84
मांसवह स्त्रोतोदुष्टि लक्षण 84
मांसवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण 84
मेदोवहस्त्रोतस मूल 84
मेदोवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु 84
मेदोवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण 85
मेदोवहस्त्रोतसविद्ध लक्षण 85
अस्थिवहस्त्रोतो मूल 85
अस्थिवह स्त्रोतो दुष्टि हेतु 85

अस्थिवह स्रोतो दुष्टि लक्षण 85
मज्जावह स्रोतोमूल 86
मज्जावह स्रोतो दुष्टि हेतु 86
मज्जावह स्रोतो दुष्टि लक्षण 86
शुक्रवह स्रोतो मूल 86
शुक्रवह स्रोतो दुष्टि हेतु 86
शुक्रवह स्रोतो दुष्टि लक्षण 86
शुक्रवह स्रोतस विद्ध लक्षण 87
मूत्रवहस्रोतो मूल 87
मूत्रवहस्रोतोदुष्टि हेतु 87
मूत्रवहस्रोतो दुष्टि लक्षण 87
मूत्रवह स्रोतोविद्ध लक्षण 87
पुरीषवहस्रोतो मूल 88
पुरीषवहस्रोतो दुष्टि हेतु 88
पुरीषवहस्रोतो दुष्टि लक्षण 88
स्वेदवह स्रोतस मूल 89
स्वेदवह स्रोतस दुष्टि हेतु 89
स्वेदवह स्रोतस दुष्टि लक्षण 89
खवैगुण्य व स्रोतो दुष्टि 89

अध्याय-2

व्याधि विज्ञानम् 91-172

व्याधि शब्द की निष्पत्ति व परिभाषा 91
रोगों का वर्गीकरण 92
व्याधि घटक 105
व्याधिनामकरण सिद्धान्त 107
बीज, बीजभाग व बीजभागावयव दुष्टि 109
बीजभाग 110
बीजभागावयव 110
बीजदुष्टि स्वरुप 111
बीजभाग तथा बीजभागावयव दुष्टि का स्वरूप 111
आनुवांशिक विकार 113
Mendelian Disorder 114
Somatic Cell Disorder 115
Chromosomal Disorder 115
Mitochondrial Disorder 120
Multifactorial Genetic Disorder 120
Congenital Disorder 121
Traumatic Disorder 121
Environmental Disorder 123
ICD 123
DSM Classification 124
सामान्यज विकार व नानात्मज विकार 125
सामान्यज विकार 125
नानात्मज विकार 133
निदानार्थकर व्याधि 138
हेतु संकर 138
लिङ्ग संकर 139
व्याधि संकर 139
व्याधि अवस्था 140
अष्ट महागद 141
अष्टौनिन्दितीय व्याधियाँ 148
अतिस्थूल 149
अतिकार्श्य 152
व्याधिक्षमत्व 154
ओज 156
ओज की उत्पत्ति 156
ओज के गुण, प्रमाण व कर्म 157
ओज क्षय के निदान 158
ओजोविस्रस के लक्षण 158
ओजो व्यापद के लक्षण 158
ओज क्षय के लक्षण 159
ओज वृद्धि लक्षण 159
ओज और व्याधिक्षमत्व का सम्बन्ध 159
सात्म्य असात्मय 163
वैरोधिक आहार 167

अध्याय-3

Basic Pathology 173-233

Definition & Division 173
Cell Adaptation & Cell Injury 173
Inflammation 182
Healing 186
Edema 190
Shock 191
Haemorrhage 193
Thrombosis 193
Embolism 196
Ischemia 197
Infarction 197
Immunity 198
Acquired Immuno Deficiency Syndrome 204
Hypersensitivity Reaction 205
Autoimmune Disease 207
Tumour 208
Nutritional Disorder 212
Obesity 213
Starvation 214
Disorder of vitamins 215
Infection 219
Microbiology 226
Bacteria 227
Virus 229
Fungi 232

अध्याय-4

निदानपञ्चकविज्ञानम् 234-296

रोग एवम् रोगी परीक्षा 234
रोगी परीक्षा का महत्त्व 234
रोग परीक्षा का महत्त्व 235
रोग एवम् रोगी परीक्षा अन्तर 235
निदान पञ्चकम् महत्त्व 236
निदान/हेतु 239
परिभाषा 239
निदान के पर्याय 240
निदान के भेद 241
पूर्वरूप 248
परिभाषा 248
भेद 248
रूप 250
परिभाषा 250
पर्याय 251
भेद 251
व्याधि व लक्षण में भेद 254
उपशय 255
परिभाषा 255
भेद 256
सम्प्राप्ति 259
परिभाषा 259
पर्याय 260
भेद 260
सम्प्राप्ति घटक 265
षट्क्रिया काल 267
षट्क्रियाकाल का महत्त्व 267
निदान पंचक व षट्क्रियाकाल में सम्बन्ध 272
उपद्रव 273
परिभाषा 273
महत्त्व 274
उदर्क 275
अरिष्ट: 275
परिभाषा 275
अरिष्ट का महत्त्व 276
अरिष्ट भेद 277

इन्द्रिय विषयक अरिष्ट 279
पूर्वरुपीय अरिष्ट 282
स्वप्न विषयक अरिष्ट 285
रूपगम्य अरिष्ट 285
सद्योमरणीय अरिष्ट 287

साध्य असाध्यत्व **289**
सुख साध्य रोगों का स्वरूप 290
कृच्छ्रसाध्यरोगों का स्वरूप 291
याप्य रोगों का स्वरूप 292
प्रत्याख्येय/अनुपक्रम रोग का स्वरूप 293
अनुक्त व्याधि का नैदानिक सिद्धान्त **294**

अध्याय-5

परीक्षाविज्ञानम् **297-342**

रोगी परीक्षा विधियाँ **297**
त्रिविध परीक्षा **298**
दर्शनादि त्रिविध परीक्षा **300**
चतुर्विध परीक्षा **300**
षड्विध परीक्षा **303**
अष्टस्थान परीक्षा **303**
नाडी परीक्षा 304
मूत्र परीक्षा 305
मल परीक्षा 306
जिह्वा परीक्षा 307
शब्द परीक्षा 307
स्पर्श परीक्षा 307
दृक् परीक्षा 307
आकृति परीक्षा 307
दशविध परीक्ष्य भाव **308**
दश विध आतुर परीक्षा **314**
ECG **325**
CT-SCAN **328**
MRI **330**
USG **335**
Laboratory investigation for metabolic & endocrinological disorder **337**

गत वर्षों के प्रश्न पत्र **343-357**

अध्याय-1

दोष दूष्यादि विज्ञानम्

रोग निदान परिचय (Introduction of Rog Nidan)

रोग निदान अर्थात रोग व रोगी की परीक्षा कर रोग को सुनिश्चित करना चिकित्सा का प्रथम सोपान है। रोग विनिश्चय सम्यक् होने पर ही रोग की चिकित्सा फलदायी हो सकती है। रोगो के निदान के लिये आयुर्वेदीय परीक्षा पद्धति की विशिष्ट महत्त्वता है, क्योंकि आधुनिक काल में रोग विनिश्चय हेतु केवल प्रयोगशालीय परीक्षण व आधुनिक रोग परीक्षण विधियों पर निर्भरता आयुर्वेदिक चिकित्सा की दृष्टि से अपर्याप्त है यद्यपि रोग का निदान आधुनिक पद्धति से किया जा सकता है तथापि आयुर्वेदिक औषधियों के चयन हेतु, दोष, दूष्य, अग्निमांद्य, आम, स्त्रोतो दुष्टि आदि सम्प्राप्ति घटकों को जानना भी परम आवश्यक है। रोग निदान हेतु बृहत्रयी ग्रन्थों जैसे चरक संहिता, सुश्रुत संहिता व अष्टांग संग्रह में पर्याप्त वर्णन मिलता है तथापि अल्प बुद्धि वालों के लिये रोग निदान के ज्ञान हेतु माधव निदान ग्रन्थ की रचना की गयी जो कि लधुत्रयी ग्रन्थ है, जिसमे रोगों का विशद विवेचन मिलता है परन्तु समयानुसार पूर्वोक्त बताये गये रोगों का स्वरुप ही बदलता जा रहा है अत: रोगो का सैद्धान्तिक ज्ञान होना साथ ही उनका व्यवहारिक ज्ञान होना आवश्यक है। रोगविनिश्चय हेतु माधवनिदान ग्रन्थ की रचना 7 वी शती में माधवकर द्वारा की गयी। इस ग्रन्थ में तपो ज्ञान युक्त मुनियों के द्वारा दिये गये ज्ञान का संकलन किया गया। इस ग्रन्थ को बुद्धिमान व अल्पबुद्धि वालो के लिये लिखा गया था। माधव निदान ग्रन्थ पर मधुकोष टीका सर्वाधिक प्रचलन में रही। मधुकोष टीका गुरु व शिष्य द्वारा लिखी गयी जिनके नाम क्रमश: श्री विजयरक्षित व श्री कण्ठदत्त शास्त्री हैं।

आयुर्वेदिक निदान पद्धति का व्यवहारिक ज्ञान (Practical Knowledge) होना व आयुर्वेदिक चिकित्सा का मुख्य सिद्धान्त (सम्प्राप्ति विघटन) समझाना ही रोग निदान का मुख्य उद्देश्य है।

पर्याय - रोग विनिश्चय, रोग निर्णय, Diagnosis

परिभाषा

रोगाणां विशेषेण वातजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादिरुपेण निश्चयो ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो।

(मधुकोष टीका पञ्चनिदान अध्याय श्लोक- 2-3)

माधव निदान को रोग विनिश्चय ग्रन्थ भी कहा जाता है। मधुकोष टीका के अनुसार रोग विनिश्चय हेतु निम्न ज्ञान परमावश्यक है।

1. रोगों के वातादि भेद का ज्ञान करना।
2. रोगों का साध्यता व असाध्यता की दृष्टि से ज्ञान करना।

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्। सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्।। नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्। सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति।।

(पञ्चनिदान अध्याय श्लोक- 2-3)

माधव निदान ग्रन्थ का मुख्य अभिधेय विषय उपद्रव, अरिष्ट, निदान, व्याधि लक्षणों का विस्तार से तथा सूक्ष्म रुप से ज्ञान प्राप्त करना है। रोग निदान का विषय अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण सर्वज्ञ वैद्य ही इसे जान सकता है। अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धि वाले वैद्यों को रोगों (आतकों) का ज्ञान सुगमता से कराने के निमित्त यही रोगविनिश्चय ग्रन्थ (माधव निदान) सहायक होता है।

रोग निदान को आधुनिक मतानुसार Medical diagnosis के समकक्ष माना जाता है।

Medical Diagnosis

Defination :- Determining cause and effect. It is a process of determining by history taking of patient, Physical examination and one or more diagnostic procedures. Diagnosis is often challenging because many signs and symptoms are nonspecific like skin redness is the symptom of various disease. So the differential diagnosis is also a major component of diagnosis.

Abbreviation of diagnosis is **Dx**

Medical diagnosis- रोगों के कारण व उनके लक्षणों का ज्ञान किया जाता है।

रोगी के इतिवृत्त को जानकर, उसके शारीरिक व प्रयोगशालीय परीक्षणों के द्वारा रोगों का निदान किया जाता है। रोगों का निदान करना आसान नहीं है क्योंकि एक ही लक्षण अनेक रोगों से सम्बन्धित हो सकते है अतः प्रत्येक रोग का सापेक्ष निदान करना भी परमावश्यक है।

महत्त्व

1. महर्षि चरक ने आयुर्वेद के त्रिसूत्रात्मक ज्ञान "**हेतुलिङ्गौषध ज्ञानं**-----" का 2/3 भाग हेतु व लिङ्ग दोनों है, जो कि निदान पंचक के ही अंश है। अतः त्रिसूत्र ज्ञान में निदान पंचक ज्ञान का प्राधान्य है।

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरम् औषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चात् ज्ञान पूर्व समाचरेत्।।

(च. सू. 20/20)

सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करे तत्पश्चात् औषध की परीक्षा करें। उपादेयता के आधार पर चिकित्सा में विभिन्न कल्पनाओं का प्रयोग किया जाता है।

2. व्याधेतत्व परीज्ञानं वेदनायाश्च निग्रह । (ब्रह्मवैवर्त पुराण) के अनुसार वैद्य को व्याधि की परीक्षा ठीक प्रकार करना व वेदना का निग्रह करना चाहिये। रोग निदान के कारण ही वैद्य का महत्त्व है। क्योंकि औषध व उनका उपयोग का ज्ञान सभी को है परन्तु उनका सही स्थिति में प्रयोग करना रोग विनिश्चय द्वारा ही सम्भव है।

3. रोग उत्पन्न करने वाले कारकों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

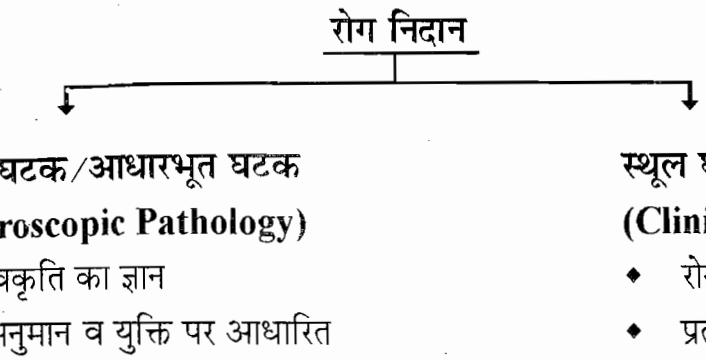

(i) सूक्ष्म घटक या आधारभूत घटकों- की विकृतावस्था का ज्ञान विभिन्न चरणों में किया जाता है।

(अ) **दोष की विभिन्न अवस्थायें** - प्रकोप, क्षय, विभिन्न भेदों की विकृत अवस्था का ज्ञान करना, आश्रय आश्रयी भेदों का ज्ञान करना।

(ब) **धातु व उपधातु की विभिन्न अवस्थायें**-क्षय, वृद्धि, प्रदोषज विकारों, विद्ध लक्षणों का ज्ञान करना।

(स) **मल की विभिन्न अवस्थायें** - क्षय, वृद्धि, प्रदोषज विकार को जानना।

(द) **अग्नि दुष्टि का ज्ञान करना**

(य) **दोषों की विभिन्न गति का ज्ञान करना**- आवरण गति का ज्ञान करना।

(र) **स्त्रोतो की दुष्टि का ज्ञान करना**

(ii) स्थूल घटक- व्याधि के लक्षणों की परीक्षा [Sign and symptoms], करना व नामकरण करना।

आयुर्वेद में लाक्षणिक ज्ञान की अधिक महत्त्वता नहीं है क्योंकि आधारभूत तत्व को जाने बिना रोगों का निदान पूर्ण नहीं होता है।

4. रोग व रोगी परीक्षा रोग निदान का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। इसी के द्वारा रोग का ज्ञान किया जाता है।

दोष वृद्धि, क्षय, प्रकोप के सामान्य निदान व लक्षण

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरे दोषसंग्रहः। मानसः पुनरुदिष्टो रजश्च तम एव च।। (च. सू. 1/57)

रोग के अधिष्ठान शरीर एवं मन है अतः दोष भी दो प्रकार के है

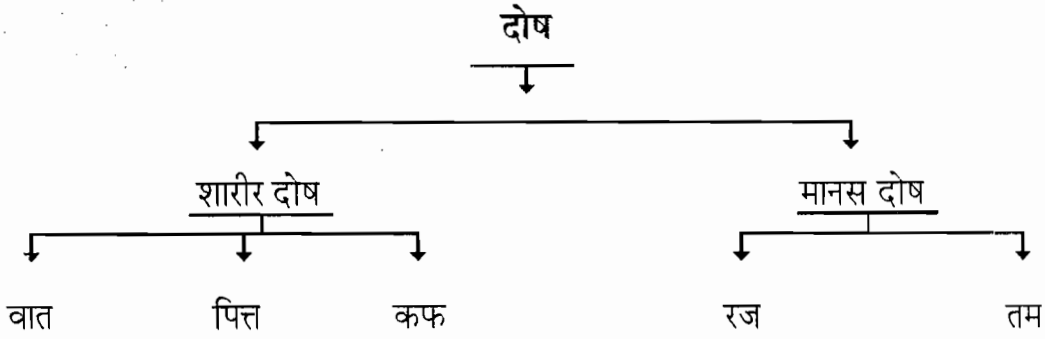

दोषो की विकृतावास्था के पुनः दो भेद होते हैं- 1. वृद्धि 2. क्षय

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कुर्वते।

(च. सू. 17/62)

दोषों की प्रवृद्धावस्था के अनुसार यथाबल लक्षण उत्पन्न होते है, क्षीण हुये दोष अपने लक्षणों को शरीर में कम प्रदर्शित करते है जबकि सम दोष अपने प्राकृत रुप में रहते हुये अपना- अपना कार्य करते है।

दोषो की वृद्धि, क्षय व प्रकोप के सामान्य कारण

दोषो के समान गुण धर्म वाले आहार-विहार का अधिक सेवन करने से दोषो की वृद्धि व विपरीत गुण धर्म वाले आहार-विहार का सेवन करने से दोषो का क्षय होता है।

यथाबल दोषो की वृद्धि को सुश्रुत ने स्पष्ट किया।

सर्वैभावेस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति।

(सु. सू. 21/ 38)

सर्व भावों से, तीन भावों से, दो भावों से अथवा एक भाव से संसर्ग होने से दोष वृद्धि होती है। जैसे कलाय (मटर) सभी भावों से वायु की वृद्धि करता है। चौलाई का साग रुक्ष, शीत और लाघु गुणों के कारण तीन भावों से वायु की वृद्धि करता है। ईख, रुक्ष और शीत गुणों के कारण दो भावों से वायु की वृद्धि करता है। सीधु रौक्ष्य गुण के कारण एक भाव से वायु की वृद्धि करता है। कटु रस अथवा मद्य पित्त को सभी अंश से बढ़ाते है। हींग कटु, तीक्ष्ण, उष्ण गुणों के कारण तीन भावों से पित्त की वृद्धि करती है। अज़वाइन तीक्ष्ण, उष्ण गुणों के कारण दो भावों से पित्त को बढ़ाती है। तिल उष्ण गुण के कारण केवल एक भाव से पित्त को बढ़ाता है। मधुर रस या भैंस का दुग्ध सभी भावों से कफ को बढ़ाता है। कशेरुक, शीत व गुरु गुण के कारण दो भावों से कफ को बढ़ाता है। मृणाल शीत गुण के कारण एक अंश से कफ को बढ़ाता है।

इन्ही गुणों की उत्तम, मध्यम व हीन भावों के अनुसार परस्पर विरोधी दोषों का क्षय भी होता है।

वृद्धि के भेद

वृद्धिर्हि द्विधा। चय प्रकोप भेदेन

वात, पित्त, कफ सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर वृद्धि को प्राप्त होते है अतः वृद्धि के दो भेद होते हैं।

1. चय जन्य वृद्धि
2. प्रकोप जन्य वृद्धि

चय जन्य वृद्धि ही उत्तरकाल में प्रकोपजन्य वृद्धि में परिवर्तित होती है। अतः दोषानुसार दोषों के संचय व प्रकोप का वर्णन किया जा रहा है। आचार्य वाग्भट ने वृद्धि के भेद संचय व प्रकोप का स्पष्ट वर्णन करते हुयें तदानुसार प्रशमन का भी वर्णन का दिया।

वात का संचय, प्रकोप व प्रशमन

उष्णेन युक्ता रुक्षाद्या वायोः कुर्वन्तिसञ्चयम्। शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः।

(अ. ह. सू. 12/19)

उष्णवीर्य से युक्त रुक्ष आदि गुण वातदोष का संचय करते हैं, **शीतवीर्य से युक्त रुक्ष** आदि गुण वात दोष का प्रकोप करते है और **उष्ण वीर्य से युक्त स्निग्ध** आदि गुण वातदोष का शमन करते है।

अतः दोषों की वृद्धि के अन्तर्गत कोप जन्य वृद्धि का ज्ञान होना भी परमावश्यक है।

आचार्य चरक ने वात वृद्धि (प्रकोपजन्य) के निदान व लक्षणों का विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान अध्याय- 12 वातकलाकलीय अध्याय के अन्तर्गत किया है।

माधवनिदान की मधुकोष टीका में वात के प्रकोप के निदान व लक्षणों का वर्णन किया है।

वात प्रकोप के हेतु

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद्भङ्गात् क्षयाज्जागराद्वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासातः। रुक्ष क्षोभ कषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेत्, वायुर्वारिधरागमें परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च।।

(तीसटाचार्य मधुकोश टीका मा. नि. पंचनिदान)

आहारज निदान	विहारज निदान	मानसिक निदान
1. रुक्ष द्रव्यों का अतिसेवन	1. अतिव्यायाम	1. अतिशोक
2. कठिन द्रव्यों का अतिसेवन	2. अपतर्पण	2. अतित्रास
3. तिक्त द्रव्यों का अतिसेवन	3. ऊंची जगह से गिरना	
4. कषाय द्रव्यों का अतिसेवन	4. भग्न या अंग भंग	
5. अति शीत द्रव्यों का सेवन	5. धातु क्षय	
	6. जागरण	
	7. वेग विधारण	
	8. अधिक बलवान से लड़ना	
	कालानुसार- वर्षाकाल. भोजन जीर्ण होने के पश्चात्, अपराह्न में।	

प्रकुपित वात के लक्षण

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैविकारैरुपतपयति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय मनोव्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयन्ति कालमवाधारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति प्राणांश्चोपरुणद्धि। (च. सू. 12/8)

1. नानाविध विकार से उपतप्त (Manifestation of various diseases)
2. बलवर्णसुख आयु का उपाघात (Reduced Strength, Complexion, Peace, life Expectancy)
3. मन दुखी (Sorrowness)
4. सभी इन्द्रियों का हनन (Loss of sensations)
5. गर्भ नष्ट (Intra uterine death)
6. गर्भ में विकृति उत्पन्न (Deformities in embryo)
7. गर्भ को सुखा कर दीर्धकाल तक धारण (Intrauterine growth retardation)
8. भय (Fear)
9. शोक (Grief)

10. मोह (Confusion)

11. प्रलाप (Delerium)

12. प्राण नष्ट (Death)

माधवनिदान की मधुकोष टीका में पित्त के प्रकोप के निदान व लक्षणों का वर्णन किया है।

पित्तप्रकोप के हेतु

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसंपर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रि समये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्। (तीसटाचार्य मधुकोश टीका मा. नि. पंचनिदान)

आहारज निदान	विहार निदान
कटु रस सेवन	क्रोध
अम्ल रस सेवन	उपवास
लवण रस सेवन	आतप
उष्ण भोजन सेवन	स्त्री संपर्क
विदाही भोजन	**कालानुसार-**
तीक्ष्ण भोजन	भोजन के जीर्ण होते समय
तिल	शरद व ग्रीष्म ऋतु
अतसी	मध्यान्ह व अर्धरात्रि में
दधि	
सुरा	
आरनाल	

प्रकुपित पित्त के लक्षण

मरीचिरुवाच- अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोतिः, तद्यथा - पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्ष मोहं प्रसादमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति। (च. सू. 12/11)

आचार्य मरीच ने पित्त के अन्तर्गत रहने वाली अग्नि के कुपित अथवा अकुपित होने पर शुभ व अशुभ कर्मों का वर्णन किया है।

1. पक्ति अथवा अपक्ति (Digestion or indigestion)

2. दिखाई देना अथवा दिखाई नहीं देना (Normal vision or vision loss)

3. शरीर का ताप कम अथवा बढ़ना (Temprature reduced or increased)

4. प्राकृत अथवा विकृत वर्णो का उत्पन्न होना (Complexion normal or abnormal)

5. शौर्य, भयं (Courage or fear)

6. क्रोधं, हर्ष (Anger or cheerfull)

7. मोह, प्रसाद (Confusion or delightfullness)

8. सुख, दुख (Happy or sorrow)

9. इच्छा, द्वेष (Desire and hate) आदि का होना अथवा नहीं होना।

कफप्रकोप के हेतु

माधवनिदान की मधुकोष टीका में कफ के प्रकोप के निदान व लक्षणों का वर्णन किया है।

गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः। तुहिनपतनकालेश्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे बसन्ते। (मा. नि. पंचनिदान मधुकोश टीका)

आहारज निदान	विहारज निदान
गुरु भोजन	अधिक निद्रा करने से
मधुर भोजन	**कालानुसार-**
अतिस्निग्ध	दिन व रात्रि के आदि काल में
दुग्ध विकार	भोजन करने से
इक्षु विकार	बसन्त ऋतु में
द्रव भोजन	
दधि सेवन	
सर्पि प्रयोग	

प्रकुपित कफ लक्षण

काप्य उवाच - सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिता-कुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा- दाढ़र्य शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीवतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमित्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति।। (च. सू. 12/12)

आचार्य काप्य ने कफ में रहने वाले सोम के कुपित, अकुपित होने पर उत्पन्न होने वाले शुभ व अशुभ कर्म निम्न बताये हैं।

1. दृढता, शिथिलता (Compact or Loosenes)
2. उपचय व कार्ष्य (Healthy or emaciation)
3. उत्साह व आलस्य (Excitment or lazyness)
4. वृषता व क्लीवता (sexual activity increased or decreased)
5. ज्ञान व विज्ञान (Sensefull or senseless)
6. बुद्धि व मोह (Mindfullness or confusion) आदि कर्मो में प्रवृत्त होता है।

वात वृद्धि लक्षण

वात वृद्धौ वाक्पारुष्यं कार्श्यं काष्ण्यं गात्रस्फुरणं उष्णकामिता निद्रानाशो अल्पबलत्वं गाढवर्चस्त्वं च। (सु. सू. 15/13)

कार्श्यकाष्ण्यं गात्रकम्प स्फूरणोष्णकामिता संज्ञानिद्रानाश बलेन्द्रियोपघातास्थिशूलमज्जाशोष मलसङ्गाध्मानाटोप मोहदैन्यभयशोकप्रलापादिभिवृद्धोः वायुः पीडयति। (अ. स. सू. 19/6)

वृद्धस्तु कुरूतेऽनिलः। कार्श्यकाष्ण्यौष्णकामत्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलाप-भ्रमदीनताः। (अ. ह. सू. 11/5-7)

वात वृद्धि के निम्न लक्षण होते हैं।

1. दुबलापन (Emaciation)
2. त्वचा का कृष्ण होना (Blackish discolouration)
3. स्फुरण (Throbbing pain)
4. उष्ण द्रव्यों के सेवन की इच्छा (Desire for warm food intake)
5. निद्रा का नाश होना (Insomnia)
6. अल्प बल (Loss of strength)
7. विबन्ध अथवा मलसंग अथवा गाढ़वर्च (Constipation)
8. शरीर में कम्प (Tremor)
9. संज्ञा का नाश (Loss of consciousness)
11. इन्द्रिय उपघात (Diminished sensory sensation)
12. अस्थि में शूल (Pain associated with bone)
13. मज्जा में शोष (Macceration in bone marrow)
15. आध्मान (Abdominal distension)
16. आटोप (Abdominal Temponade)
17. मोह (Confusion)
18. दीनता (Looking helpless)
19. भय (fear)
20. शोक (Grief)
21. प्रलाप (Delirium)

पित्तवृद्धि के लक्षण

पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रियदौर्बल्यं पीत-विण्मूत्रनेत्रत्वं च। (सु. सू. 15/18)

पीतत्वग्लानीन्द्रियदौर्बल्यौजोविस्त्रंसशीताभिलाष दाहतिक्तास्यतातृण्मूर्च्छाऽल्पनिद्रताक्रोधादिभिः पित्तम्। (अ. स. सू. 19/6)

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुतृड्दाहाल्पनिद्रताः। (अ. हृ. 11/7)

1. त्वचा का वर्ण पीत होना (Yellowish discolouration of skin)
2. शरीर का ताप बढ़ना (Febrile)
3. शीत पदार्थों के सेवन की इच्छा (Desire for cold food)
4. अल्प निद्रा (Insomnia)
5. मूर्च्छा (Faint)
6. बल की हानि (Strengthlessness)
7. इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने में दुर्बलता (Diminished sensation of sensory organs)
8. मूत्र, मल व नेत्रों का पीत वर्ण का होना (Pale urine or stool or eyes)
9. ग्लानि (Fatigue)
10. ओज का विस्त्रंस (Displacement of oja)
11. शीत अभिलाषा होना (Desire of coldness)
12. दाह (Burning)
13. तिक्तास्यता (Bitter taste)
14. तृष्णा (Thirst)
15. क्रोध (Anger)

कफवृद्धि के लक्षण

श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्य्यं गौरवमसादस्तन्द्रा निद्रा सन्ध्यस्थिविश्लेषश्च। (सु. सू. 15/18)

श्वैत्यशैत्यस्थौल्यआलस्यगौरवाङ्गसादस्त्रोतः पिधानमूर्च्छानिद्रातन्द्रा श्वास कास प्रसेकहल्लासाग्नि-सादसन्धिविश्लेषादिभिः श्लेष्मा।। (अ. स. सू 19/6)

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्। श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः।। (अ. हृ. सू. 11/7)

1. त्वचा का वर्ण श्वेत होना (Whitish discolouration of skin)
2. शीतता का अनुभव (Feeling of coldness)
3. स्थिरता (Stability)
4. गुरुता (Heaviness)
5. अवसाद (Depression)
6. तन्द्रा (Drowsiness)

7. निद्रा (Sleep)

8. सन्धियों में शिथिलता या ढीलापन (Looseness of joints)

9. स्थौल्य (Obesity)

10. आलस्य (Laziness)

11. स्त्रोतसों में अवरोध (Obstruction in channels)

12. मूर्च्छा (Faint)

13. श्वास (Breathlessness)

14. कास (Cough)

15. कफप्रसेक (Productive cough)

16. हल्लास (Nausea)

17. अग्निसाद। (Diminshed digestion)

वातक्षय के लक्षण

वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च। (सु.सू.15/11)

प्रसेकारुचिहल्लासमोहाल्पवाक्चेष्टताप्रहर्षाङ्गसादाग्निवैषम्यादिभिः क्षीणो वायुः पीडयति।

(अ. स. सू 19/9)

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्। संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्धयुक्तामयसम्भवः।।

(अ. हृ. 11/15)

1. चेष्टा का मन्द होना (Diminished Activities)

2. वाक् शक्ति का दुर्बल होना (Dull voice and less speech)

3. हर्ष का अभाव (Loss of cheerfullness)

4. संज्ञा का नाश होना (Loss of sensation)

5. प्रसेक (Watery secretion from mouth)

6. अरुचि (Anorexia)

7. हल्लास (Nausea)

8. मोह (Confusion)

9. अंगसाद (Bodyache)

10.विषमाग्नि (Uneven digestion)

पित्तक्षय के लक्षण

पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभत्वं च। (सु. सू.15/11)

स्तम्भशैत्यानियततोददाहारोचका विपाकाङ्गपारुष्यकम्पगौरवनखनयनशौक्ल्यादिभिः पित्तम्।

(अ. स. सू. 19/9)

पित्तेमन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः। (अ. हृ. सू. 11/16)

1. शरीर का ताप कम होना (Low temprature)
2. अग्नि का दुर्बल होना (Impaired digestion)
3. प्रभा का क्षय (Lusterless)
4. शरीर में स्तम्भता (Shocked)
5. शीतता (Feeling cold)
6. अनियत तोद (Irregular pain)
7. अरोचक (Anorexia)
8. अविपाक (Indigetion)
9. अंगों में परुषता (Harshness)
10. कम्प (Tremors)
11. गौरव (Heaviness)
12. नख, नयन का सफेद होना (Whitish discolouration of eyes and nails)

कफक्षय के लक्षण

श्लेष्म क्षये रुक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतरश्लेष्माशय शून्यता सन्धिशैथिल्यं तृष्णादौर्बल्यं प्रजागरणं च।

(सु. सू. 15/11)

भ्रमोद्वेष्टनानिद्राङ्गमर्दपरिशोषतोददवदाहस्फोटनवेपनधूमायनसन्धिशैथिल्यहृदयद्रवश्लेष्माशय-शून्यतादिभिःश्लेष्मा। (अ. स. सू. 19/9)

कफे भ्रमः। श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रवः श्लथसन्धिता।। (अ. हृ. 11/16)

1. रुक्षता (Dryness)
2. आन्तरिक दाह (Internal burning)
3. आमशय तथा अन्य स्थानों पर श्लेष्मा की शून्यता (Loss of shleshma from their own site)
4. सन्धियों में शिथिलता (loss of strength of joints)
5. तृष्णा (Thirst)
6. दुर्बलता (Weakness)
7. रात्रि जागरण (Night awakening)

8. भ्रम (Giddiness)

9. उद्वेष्टन (Muscle cramps)

10. अंगमर्द (Bodyache)

11. परिप्लोश (Burning sensation in sensory organ)

12. तोद (Pinpointed pain)

13. दव दाह अर्थात स्थानीय जलन (Localized burning sensation)

14. स्फोट (Blisters)

15. वेपन (Tremors)

16. मुंह से धुऐं की प्रवृति (Mouth emit Hot fumes)

17. हृदय की धड़कन में वृद्धि (Palpitaion)

पञ्चविध दोष भेद की विकृतावस्था

दोषो की विकृतावस्था जानने से पूर्व प्राकृतावस्था जानना आवश्यक है, दोषों की विकृत कार्मुक्ता (Patho-genesis) के फलस्वरुप ही अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती है इन व्याधियों का स्पष्ट वर्णन संहिताओं में नहीं मिलता है वरन् प्राकृत कर्मो पर पर्याप्त वर्णन किया गया है। अत: दोषो के प्राकृत कर्मो (Physiology), का ज्ञान होना आवश्यक है।

(1) चरक सूत्र स्थान के नानात्मज रोग प्रकरण से पहले तीनों दोषों के प्राकृत कार्यों का वर्णन किया है।

(2) चरक चिकित्सा स्थान में ग्रहणी के प्रारम्भ में 13 प्रकार की अग्नियों के प्राकृत कार्यों का उल्लेख किया है।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार **प्राकृत ज्ञानाधीनत्वाद् विकृति** अर्थात् प्रत्येक विकार को जानने से पूर्व प्राकृत क्रिया शारीर का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक होता है, अत: दोषों के प्राकृत व वैकृत कर्मो का सूक्ष्म वर्णन किया जा रहा है।

वायु के पाँच भेद

प्राण वायु के प्राकृत कर्म

स्थानं प्राणस्य मूर्धोर: कण्ठजिह्वास्य नासिका:। ष्ठीवन क्षवथूद्गार श्वासाहारादि कर्म च।

(च. चि. 28/6)

वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक। सोऽन्नं प्रवेश्यत्यन्त: प्राणश्चाप्यवलम्बते।।

प्रायश: कुरुते दुष्टो हिक्का श्वासादिकान् गदान्। (सु. नि. 1/13-14)

.....प्राणोऽत्र मूर्धग:। उर: कण्ठचरो बुद्धि हृदयेन्द्रियचित्तधृक्।

ष्ठीवन् क्षवथूद्गार नि:श्वसान्न प्रवेशकृत्।। (अ. ह. सू. 12/4)

हृदिप्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि संस्थितः। उदानः कण्ठदेशेस्याद् व्यानः सर्वशरीरगः।

(मधुकोश टीका 5/33)

प्राण वायु के स्थान -

हृदय, मुख, शिर, जिव्हा, नासिका, कण्ठ तथा उर। हृदय प्राण वायु का प्रमुख स्थान है।

प्राकृतवस्था Physiological condition	विकृतावस्था Pathological condition
श्वास कर्म (निश्वसन व उच्छवसन्)	श्वसन संस्थान सम्बन्धित विकार-श्वास, कास, हिक्का
आहार कर्म (अन्न का अन्तः प्रवेश करना)	आहरण सम्बन्धित विकार
मूर्धा अथवा उर्ध्व जत्रुगत इन्द्रियों का नियमन	इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण अक्षमता
बुद्धि व हृदय का नियमन	हृद् रोग व मानसिक रोग
उद्गार (डकार) की प्रवृत्ति	उद्गार की अप्रवृत्ति
ष्ठीवन (थूकना) की प्रवृत्ति	ष्ठीवन की अप्रवृत्ति
देह का धारण करना	प्राण वायु के कर्म रुकने पर मृत्यु को प्राप्त

उदान वायु -

प्राकृत कर्म -

उदानस्य पुनः स्थानम् नाभ्युरः कण्ठ एव च। वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नौजोबलवर्णादि कर्म च।

(च. चि. 28/6)

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादि विशेषोऽभिप्रवर्तते।।

उर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः।। (सु. नि. 1/14-15)

उरः स्थानमुदानस्य नासा नाभिगलांश्चरेत्। वाक्प्रवृत्ति प्रयत्नोर्जा बलवर्णस्मृतिक्रियः।

(अ. ह. सू. 12/5)

उदान वायु के स्थान - नाभि, उर, कण्ठ । कण्ठ उदान वायु का विशेष स्थान है।

प्राकृतावस्था Physiological condition	विकृतावस्था Pathological condition
भाषण, गान आदि वाणी की सम्यक् प्रवृत्ति	बोलने में असमर्थता
प्रयत्न करना	नासा व कण्ठ आदि की चेष्टायें नहीं होना।
	मुख्य कार्य - उर्ध्व जत्रुगत विकार होना
ऊर्जा -शक्ति देना	ऊर्जा -शक्ति का ह्रास होना
बल वर्ण की प्राप्ति	बल व वर्ण का हास होना
स्मृति देना	स्मृति का हास होना

समान वायु

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्त्रोतांसि समधिष्ठितः। अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः।।

(च. चि. 28/8)

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसङ्गतः। सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि।।

गुल्माग्नि सादातिसार प्रभृतीन् कुरुते गदान्।। (सु. नि. 1/16)

समानोऽग्नि समीपस्थः कोष्ठेचरतिसर्वतः। अन्नं गृहणाति पचति विवेचयति मुञ्चति।।

(अ. हृ. सू. 12/8)

स्थान - स्वेदवह स्त्रोतस, दोषवहस्त्रोतस, अम्बुवहस्त्रोतस अर्थात समान वायु इन स्त्रोतसों में रहती है। इसका विशेष स्थान नाभि है।

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
अन्न को ग्रहण कर पचाना	भोजन के पाचन में विकृति आना
जाठराग्नि को बल देना	जाठराग्नि की दुष्टि होना। अग्निमांद्य व अजीर्ण, गुल्म, अतिसार, ग्रहणी रोग उत्पन्न होना।
आहार रस व मल मूत्र का विवेचन करना	मल भाग की वृद्धि व रस का क्षय होना।

व्यान वात -

देहं व्याप्नोति सर्व तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्। गतिप्रसारणाक्षेप निमेषादिक्रियः सदा।।

(च. चि. 28/9)

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक स्त्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।।

क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान्। (सु. नि. 1/ 17-18)

व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः । गत्यपक्षेपणोत्क्षेप निमेषोन्मेषणादिकाः।।

प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम्।। (अ. ह. सू.12/6-7)

स्थान - सर्वशरीर

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
रस व रक्त का संवहन करना	सम्यक् संवहन नहीं होने से सर्व शरीरगत विकार जैसे पक्षवध ,अर्दित व अर्धावभेदक
स्वेद का स्त्रवण	स्वेद अतिस्त्रवण अथवा अल्पस्त्रवण
संधियों की गति	संधियों का अत्यधिक गतिशील होना अथवा गतिहीन होना।
अवक्षेपण व उत्क्षेपण करना	मांस पेशियों का प्रसारण व आकुंचन सम्यक् रुप से नहीं होना
निमेष उन्मेष करना	पलकों का बन्द व खुलने मे कठिनाई होना।

अपान वात -

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वंक्षणौ गुदम्।। अपानस्थान मन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च ।। सृजत्यार्तवगर्भौ च..... ।। (च. चि. 28/10-11)

पक्वाधानालयोऽपानः कालेकर्षति चाप्ययम्। समीरणः शकृन्मूत्र शुक्रगर्भार्त्तवान्यधः।। कुरुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान्।। (सु. नि. 1/19)

अपानोऽपानगः श्रोणिबस्ति मेढ्रोरुगोचरः। शुक्रार्तव शकृन्मूत्रगर्भ निष्क्रमण क्रियः।।

(अ. हृ. सू. 12/9)

स्थान - दोनो वृषण, बस्ति, मेढ्र, नाभि, उरु, गुदा, पक्वाशय

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
पुरीष, मूत्र, शुक्र, गर्भ, आर्तव का निष्क्रमण करना	पुरीष, मूत्र, शुक्र, गर्भ, आर्तव का निष्क्रमण नहीं होना। गुदा व बस्ति रोग होना

पित्त के पाँच भेद

पाचक पित्त -

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि।। तत्रस्थमेव चात्मशक्तया शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा। (सु. सू. 21/10)

....तत्र पक्वामाशय मध्यगम्।। पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजस गुणोदयात्।। व्यक्त द्रवत्वं पाकादिकर्मणाऽनल शब्दितम्। पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा।। तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।। करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्।। (अ. हृ. सू. 12/11-12)

स्थान - आमाशय व पक्वाशय मध्य स्थान

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
चतुर्विध अन्न का पाचन करना दोष रस मूत्र पुरीष को अलग अलग करना अन्य स्थानों पर स्थित पित्त को व समस्त अग्नियों को बल प्रदान करना	अजीर्ण रस, मूत्र, पुरीष का असम्यक् विवेचन अन्य स्थान पर स्थित पित्त को व अग्नि को अनुग्रहित नहीं करने के कारण अग्निमांद्य जनित विकार जैसे ग्रहणी दोष, अम्लपित्त आदि उत्पन्न

रंजक पित्त -

यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृदुक्तः ।। (सु. सू. 21/10)

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रस रञ्जनात्। (अ. हृ. सू. 12/13)

स्थान - यकृत्, प्लीहा , आमाशय

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
रस का रंजन कर रक्त निर्माण करना	रस का रंजन नहीं होने से पाण्डु व कामला उत्पन्न

आलोचक पित्त -

यद्दृष्ट्यां पित्त तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रुपग्रहणाधिकृतः। (सु. सू. 21/10)

रुपलोचनतः स्मृतम्। दृक्स्थमालोचकम्।। (अ. ह. सू. 12/14)

स्थान - नेत्र

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
वस्तुओं के रुप का दर्शन करना	नेत्र रोग यथा तिमिर, दृष्टि पटल रोग होना।

साधक पित्त -

यत् पित्तं हृदयसंस्थितं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा। सोऽभिप्रार्थितमनोरथ साधनकृदुक्तः।

(सु. सू. 21/10)

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थ साधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तम्। (अ. ह. सू. 12/13)

स्थान - हृदय

साधक पित्त - हृदरोग व मानस विकार

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
बुद्धि मेधा व अभिमान आदि मनोरथों का सम्पादन करना	मानसिक रोग जैसे हर्ष, क्रोध, भय का होना। हृदय की विकृतियाँ होना।

भ्राजक पित्त-

यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा। सोऽभ्यङ्ग परिषेकावगाहावलेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता, छायानां च प्रकाशकः।। (सू. सु. 21/10)

त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात्त्वचः। (अ. ह. सू. 12/14)

स्थान - त्वचा

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
त्वचा को उष्मा देना वर्ण व छाया का प्रकाशन करना	त्वचा पर उष्मा की वृद्धि अथवा क्षय विवर्णता व म्लानता होना । त्वक् रोग की उत्पत्ति।

कफ के पाँच भेद

संधि संश्लेषण स्नेहन रोपण पूरण बलस्थैर्यकृत् श्लेष्मापञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति।

(सु. सू. 15/6)

तर्पक कफ-

शिरः संस्थोऽक्षतर्पणात् तर्पकः। (अ. हृ. सू. 12/17)

स्थान - शिर

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
मस्तिष्क का संर्तपण व स्नेहन करना	मस्तिष्क विकृतियाँ होना।
चक्षु का तर्पण करना	चक्षु के जलीय अंश में दुष्टि होने से दृष्टि रोग होना

बोधक कफ-

रसबोधनात् बोधको रसनास्थायी। (अ. हृ. सू. 12/ 17)

स्थान - जिव्हा

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
जिव्हा में रहकर रस का बोधन करना	रस का बोधन नहीं होना

क्लेदक कफ-

यस्त्वामाशय संस्थितः। क्लेदकः सोऽन्नसङ्घात क्लेदनात्। (अ. हृ. सू. 12/16)

स्थान - आमाश्य

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
अन्न का क्लेदन करना	क्लेदन न होने से अजीर्ण
अन्न के पिण्ड रुप का संघात करना	भोजन का संघात नहीं होने से वमन य उर्ध्व अम्लपित्त होना

अवलम्बक कफ

उरस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः। हृदयस्यान्नवीर्यच्च तत्स्थ एवाम्बु कर्मणा।। कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम्। अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा।। (अ. हृ. सू. 12/15)

स्थान - समस्त संधियां

प्राकृतावस्था (Physiological condition)	विकृतावस्था (Pathological condition)
सन्धियों का स्नेहन कर दृढ़ता प्रदान करना	संधिशोथ व सन्धिगत् रोग उत्पन्न।

दोष धातु का आश्रय आश्रयी भाव

वात आदि दोषों तथा रस आदि धातुओं में आश्रय एवं आश्रयी सम्बन्ध होता है

तत्रास्थनि स्थितो वायुः। पित्तं तु स्वेद रक्तयोः । श्लेष्मा शेषेषु। तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः।।

(अ. हृ. 11/27)

वात अस्थि पर आश्रित है पित्त स्वेद व रक्त पर आश्रित है। श्लेष्मा रस मांस मेद मज्जा शुक्र मूत्र पुरीष पर आश्रित है।

आश्रयी	आश्रय
वात	अस्थि
पित्त	स्वेद, रक्त
श्लेष्मा	रस, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष आदि

रक्त के स्वधर्मी द्रव्यों का सेवन करने से पित्त की भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार जो औषधि या आहार विहार आश्रय को क्षीण करता है तो वह आश्रयी को क्षीण करता है। जैसे रक्त बढ़ाने वाले द्रव्यों से पित्त स्वतः बढ़ जाता है व रक्त घटाने वाले द्रव्यों से पित्त भी घट जाता है।

परन्तु अस्थि व वायु में यह सिद्धान्त लागू नहीं होता है क्योंकि अस्थि की वृद्धि करने वाले द्रव्यों में तर्पण गुण की प्रधानता होती है जिससे कफदोष बढ़ता है तथा वात दोष घटता है।

उदाहरण - रुक्ष, तिक्त, कटु, कषाय, अपतर्पण, लंघन द्रव्य वात की वृद्धि करते है परन्तु अस्थि का क्षय करते है। तथा अस्थि की वृद्धि स्निग्ध, मधुर, अम्ल, लवण व बृंहण द्रव्यों से होती है परन्तु इन्ही द्रव्यों से वात का क्षय होता है।

आश्रय आश्रयी भाव का चिकित्सात्मक महत्त्व

1. **व्याधि की साध्य असाध्यता का ज्ञान** -यदि प्रकुपित दोष अपने आश्रय पर दुष्टि नहीं करे वरन् अन्य दोष के आश्रय में जाकर रोग उत्पन्न करें तो रोग सुखसाध्य होता है। चरक ने सुखसाध्य रोग के लक्षण इस प्रकार बताये।

न चं तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् .....। (च. सू. 10/11)

दोष व दूष्य अर्थात आश्रय समान गुण वाले न हो तो रोग सुख साध्य होता है।

उदाहरण - अनुषङ्गी रोग, एक क्षुद्र रोग है जिसमे कफदोष अस्थि को दूषित करता है इसलिये इसमें रुजा कम होती है। अतः सुखसाध्य रोग है।

साध्यासाध्यवस्था में अपवाद - प्रमेहे तुल्यदूष्यता .....सुखसाध्यस्यलक्षणं ।

प्रमेह रोग कफदोष की दुष्टि से उत्पन्न होता है प्रमेह रोग के दस दूष्य या आश्रय होते है

बह्वबद्धं मेदो मांसं शरीरजक्लेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका रसश्चौजः संख्यात इति दूष्यविशेषाः ।

(च. नि. 4/7)

इनमें से अधिकांश कफ के आश्रय ही है। उसके बावजूद भी कफज प्रमेह साध्य होता है। जबकि पित्तज प्रमेह व वातज प्रमेह इन दूष्यों के समान न होने पर भी असाध्य होते है।

प्रमेह के अपवाद होने की पुष्टि - प्रमेह रोग के निदान गुरु, मधुर, क्लिन्न, द्रव भोजन होते है इन निदानों का सेवन करने से कफज प्रमेह जैसे इक्षुबालिकामेह या उदकमेह उत्पन्न होता है। निरन्तर निदानों का सेवन करने से रक्त में ग्लूकोज का स्तर बढता चला जाता है परन्तु शरीर की कोशिकाओं को ग्लूकोज की आपूर्ति नहीं हो पाती है जिससे कोशिकाऐ प्रोटीन व fat को तोड़कर उर्जा प्राप्त करती है जिससे Ketones [Aceto acetic ester, acetones, Butyric acid] का निर्माण होता है यह अम्ल भाव को प्राप्त प्रमेह पित्तज प्रमेह को उत्पन्न करता है। यही प्रोटीन व fat का लगातार कोशिकाओं द्वारा प्रयोग होने के कारण शरीर में इन तत्वों की कमी हो जाती है जिससे रोगी कृश हो जाता है। अन्ततः वातज प्रमेह के लक्षण उत्पन्न होते है यह असाध्य प्रमेह है।

2. काल, रोगी प्रकृति, देश आदि भी यदि दोष व उसके आश्रय के समान हैं तो रोग निश्चित रुप से असाध्य हो जायेगा।

उदाहरण स्वरुप - रक्तपित्त रोग में आश्रयी दोष पित्त है व आश्रय दूष्य रक्त है यदि रोगी की प्रकृति पित्तज व रोग शरद ऋतु में उत्पन्न हुआ है तथा रोग कफपित्त प्रधान आनूप प्रदेश में उत्पन्न हुआ है तो यह रक्तपित्त रोग निश्चित रुप से असाध्य होगा।

3. चिकित्सा के निर्धारण हेतु भी आश्रय आश्रयी सम्बन्ध का महत्त्व है। जैसे वात का आश्रय अस्थि है वात की प्रधान चिकित्सा बस्ति है अतः अस्थि प्रदोषज विकार में भी बस्तिकर्म का निर्देश किया गया है। **सर्ववातविकाराणां तैलान्यन्यान्यतः।** स्नेह वात शामक है। इसलिये अस्थिगत वात में बाह्य- आभ्यान्तर स्नेह का प्रयोग करते है।

4. पित्त का आश्रय रक्त है अतः रक्तपित्त में दोनो के शमन के लिये शीतल चिकित्सा का प्रयोग करते है।

5. कफका आश्रय मांस मेद आदि है इसलिये अतिस्थौल्य में लेखन चिकित्सा रुप में कर्षण चिकित्सा यथा लेखन महाकषाय की बस्ति का प्रयोग करते है।

धातुक्षय, वृद्धि लक्षण व प्रदोषज विकार

रोग उत्पन्न करने के लिये दोष कारणभूत होते हैं। यही दोष प्रसर अवस्था के बाद स्रोतसों में पहुंच कर वहां स्थित धातुओं को दूषित कर दूष्य रुप में परिणत करते है। धातुयें दूषित होकर अनेक रोग उत्पन्न करती है। अभी तक हमने धातुओं के प्राकृत कर्मो का अध्ययन किया है रोगावस्था जानने के लिये धातुओं के क्षय, वृद्धि व दूषित लक्षणों को तथा तदनुसार होने वाले रोगों को जानना आवश्यक है। जिनका विस्तृत वर्णन किया जा रहा है।

शरीर में रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र सात धातुयें होती हैं। जिनके प्राकृत व वैकृत कर्मों का उल्लेख किया जा रहा है।

रस धातु

रस धातु के प्राकृत कर्म [Physiological action]

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टि च करोति। (सु. सू. 15/7)

1. प्रीणन - पोषण करना
2. तुष्टि - तृप्ति करना
3. रक्त पुष्टि - रक्त धातु का निर्माण करना

रस क्षय के लक्षण

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते। हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये। (च. सू. 17/64)

रसक्षये हृत्पीडा कम्पशून्यतास्तृष्णा च। (सु. सू. 15/13)

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता। (अ. हृ. सू. 11/16)

शब्दासहत्वहृदयद्रवकम्पशोषशूलशून्यतास्पन्दनघट्टनैरल्पयाऽपि च चेष्टया श्रमतषीभ्यां रसः।

(अ. स. सू. 19/10)

1. शब्दासहिष्णुत्वं (Unable to tolerate noise)
2. हृद्रव (Palpitation)
3. हृद्शूल (Chest Pain)
4. स्वल्प चेष्टा करने पर हृदय को हिलाने के समान आभास (Exhaustion after mild activity)
5. कम्प (Tremors)
6. शून्यता (Numbness)
7. तृष्णा (Thirst)
8. रुक्षता (Dryness)
9. शोष (Emaciation)

रस वृद्धि के लक्षण

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति। (सु.सू.15/19)

रसोऽपि श्लेष्मवत्। (अ. हृ. सू. 11/18)

प्रसेकारोचकास्यवैरस्यहृल्लासस्त्रोतोरोधस्वादुद्वेषाङ्गमर्दादिभिरन्यैश्च श्लेष्मविकारप्रायै रसः।

(अ. स. सू.19/7)

1. हृदयोत्क्लेद (Hypervolemia or fluid retension in heart)
2. प्रसेक (Hypersalivation)
3. अरोचक (Anorexia)
4. आस्यवैरस्य (Disgeusia)
5. हल्लास (Nausea)
6. स्त्रोतोरोध (Obstructed channels)
7. स्वादुद्वेष (Distaste)
8. अंगमर्द (Bodyache)
9. श्लेष्म विकार (Manifestation of kapha vitiated doshas)

रस प्रदोषज विकार

अश्रद्धा चारुचिश्च आस्यवैरस्यमरसज्ञता। हल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः।।

पाण्डुत्वं स्त्रोतसां रोधः क्लैव्यं सादः कृशाङ्गता। नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च।

(च. सू. 28/9-10)

तत्र अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोवरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकाल-वलिपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः। (सु. सू. 24/10)

1. अश्रद्धा - अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परं त्वनिच्छा। (चक्रपाणि)

अन्नद्वेष अथवा अन्न का तिरस्कार। व्यक्ति को क्षुधा हो सकती है परन्तु फिर भी अन्न सेवन की इच्छा नहीं होती है जैसे किसी कार्य में व्यस्त होने के कारण इच्छा होने पर भी कार्य की व्यस्तता के कारण भोजन नहीं करता है। इस व्यक्ति को आग्रह कर भोजन कराया जा सकता है व भोजन कराने पर वह स्वाद को समझता व सरहाता भी है।

2. अरुचि - अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः। (चक्रपाणि)

रोगी को क्षुधा होती है व अन्न के प्रति प्रीति भी होती है परन्तु भोजन करने पर रुचि का बोध नहीं होता है। परिणामस्वरुप वह भोजन करे तो छर्दि आदि विकार हो सकते है।

3. आस्यवैरस्य - उचितादास्यादन्यथात्वम्। - मुख का स्वभाविक रस होता है उससे भिन्न होना ही आस्यवैरस्य कहलाता है। कफदोष के कारण भोजन में मधुर रस का बोध होता है। पित्त से दूषित होने पर अम्ल रस का बोध होता है। वात के कारण भोजन में फीकापन का अवबोध होता है।

4. अरसज्ञता - रसाप्रतिपत्तिः - रस की प्रतीति नहीं होना।अर्थात भोजन करने पर किसी भी रस का बोध नहीं होता है।

5. हल्लास - हल्लास हृदयादीषदव्यथः पटुवम्बु निर्गमः। (योगरत्नाकर)

लालास्राव अधिक होना। आमाश्य में क्लेदक कफकी वृद्धि होने पर वायु प्रकुपित होकर हृदय को व्यथित करती हुयी लालास्राव को अधिक उत्पन्न करती है।

6. गौरवं - आर्द्र चर्मावनद्धं वा यो गात्रमभिमन्यते। तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत्।

(सु. शा. 4/54)

त्वचा गीले चर्म से लपेटी हुयी सी प्रतीत होती है। सिर में अत्यधिक गुरुता होती है।

7. तन्द्रा - तमोवातकफात्तन्द्रा ....। (सु. शा. 4/55)

इन्द्रियार्थेष्वसम्प्राप्तिगौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्राऽऽतस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्।।

(सु.शा. 4/48)

इन्द्रियों द्वारा इन्द्रियार्थ (रुप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) का ज्ञान नहीं होता है। शरीर में गुरुता जृम्भा व थकावट होना व व्यक्ति का निद्रा वेग से पीड़ित दिखाई देना।

8. अंगमर्द - शरीर टूटना। व्यान वायु की दुष्टि के कारण शरीर में ऐंठनवत् पीडा होती है।

9. ज्वर - देहेन्द्रियमनस्तापकरः। (च. नि. 1/35)

यह रस प्रदोषज विकारों में से एक महत्त्वपूर्ण विकार है क्योंकि रस धातु की दुष्टि होते ही रस का अनुगत करने वाली अग्नि सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर शरीर, मन व इन्द्रियो में संताप उत्पन्न करती है।

10. तम - यह वात नानात्मज विकार भी है अत: रस प्रदोषज विकार यदि वात के प्राधान्य से उत्पन्न हो तो तम अर्थात आंखों के आगे अंधेरा आना लक्षण भी दिखाई देता है।

11. पाण्डु - रस दुष्ट होने से उत्तर धातु रक्त की पुष्टि सम्यक् रुप से नहीं होने के कारण पाण्डु रोग उत्पन्न होता है।

12. स्त्रोतोवरोध- स्त्रोतोरोध यह रस प्रदोषज विकार होने के साथ साथ दोषादि की सामावस्था का भी लक्षण है

स्त्रोतोरोध बलभ्रंश गौरवानिल मूढता.....। (अ. हृ. सू. 13/23-24)

आद्य धातु रस का पूर्ण परिपाक न होने के कारण आमरस का निर्माण होता है। यह आम रस ही समस्त रोगोत्पत्ति का कारण होता है। आद्य रस धातु के प्रदोषज विकार ही अन्य धातुओं में विकृति उत्पन्न करते है क्योंकि स्त्रोतो रोध होते ही आम रस धातु का निर्माण होता है जो कि उत्तरोत्तर क्रम से अन्य धातुओं में भी विकार उत्पन्न करते हैं।

13. क्लैव्य - पुंस्त्वनाश अथवा शुक्र का **निष्फलत्व** होना। रस प्रदोषज विकार के अन्तिम परिणामस्वरुप शुक्र धातु का नाश होना स्वभाविक ही है। रस को पोषण न मिलने पर अन्तिम शुक्र धातु को पोषण नहीं मिलता है।

14. साद - अंगसाद: अंगवैकल्यं (अ. हृ. सू. 4/10 अरुणदत्त) अंग ग्लानि।

अंगों मे शिथिलता होना अथवा शरीर में अनुत्साह होना। रस का मुख्य कर्म तुष्टि अर्थात प्रसन्नता प्रदान करना है अत: रस दुष्टि के कारण शरीर में उत्साह हानि होना स्वभाविक है।

15. कृशाङ्गता - अन्नद्वेष, अरुचि, अग्निमांद्य आदि कारणों से रस का क्षय होने के कारण रक्त के समान इतर धाातुओं का भी क्षय होकर कृशता उत्पन्न होगी।

16. अग्निनाश - शान्तेऽग्नौ म्रियते.....। अग्नि नाश होते ही व्यक्ति की मृत्यु हो जायेगी अत: रस प्रदोषज विकार उग्र रुप धारण कर मृत्यु अथवा आयु का क्षय करते है।

17. अकाल वलय व अकाल पालित्य - यह आयु क्षय के द्योतक लक्षण है क्योंकि युवावस्था में ही रस धातु दुष्ट होने के कारण त्वचा पर वृद्ध व्यक्तियों की तरह झुर्रिया पड़ना व अकाल बालों का पकना आदि लक्षण दिखाई देते है।

आचार्य सुश्रुत ने चरक द्वारा वर्णित रस प्रदोषज विकारों के अतिरिक्त अन्य विकार बताये यथा

18 हृदय रोग - दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गता। (सु. उ. 43/4)

रसवह स्त्रोतस का मूल हृदय है वातादि दोष रस धातु को दूषित कर हृद्रोग उत्पन्न करते है।

19 अविपाक - अग्निमांद्य के कारण भोजन का पाक नहीं होता है जिससे अजीर्ण के लक्षण उत्पन्न होते है परिणामस्वरुप भोजन को जिस रस रुप में परिणत होना चाहिये, उस रुप में परिणत न होकर दोष भेद से विभिन्न विकार उत्पन्न करता है।

रक्त धातु -

प्राकृत कर्म -

रक्तं वर्ण प्रसादं मांसपुष्टि जीवयति च। (सु. सू. 15/7)

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते।। (च. सू. 24/4)

1. वर्ण का प्रसादन करना।
2. मांस पुष्टि करना।
3. जीवन प्रदान करना व प्राणियों का प्राण।
4. बल प्रदान करना।

रक्त क्षय लक्षण- परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये। (च. सू. 17/65)

शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यं च। (सु. सू. 15/13)

रक्तेऽम्लशिशिरप्रीतिशिराशैथिल्य रुक्षताः। (अ. हृ. सू. 11/17)

त्वग्रौक्ष्याम्लशीतभिलाषसिराशैथिल्यैरसृक्। (अ. स. सू. 19/10)

1. त्वक् परुषता (Roughness in skin)
2. त्वक् स्फोट (Cracked skin)
3. त्वक् म्लान (Muddy color of skin)
4. त्वक् रुक्ष (Dry skin)
5. अम्ल प्रार्थना (Desire of sour food)
6. शीतप्रार्थना (Desire of cool things)
7. सिरा शैथिल्य (Hypotension or low blood pressure)

रक्त वृद्धि लक्षण - रक्तं रक्ताङ्गाक्षितां सिरापूर्णत्वं च। (सु. सू. 15/19)

रक्तं विसर्प प्लीहविद्रधीन्। कुष्ठवातास्त्रपित्तास्त्रगुल्मोपकुश कामलाः। व्यङ्गाग्निनाशसम्मोहरक्तत्व-ङ्नेत्रमूत्रताः। (अ. हृ. सू. 11/8-9)

कुष्ठविसर्पपिटिकासृग्दराक्षिमुखमेण्ढ्र गुदपाकप्लीहगुल्मविद्रधित्यङ्गकामलाऽग्निनाशतमः प्रवेशरक्ताङ्गनेत्रतावातरक्तैरेभिरन्यैश्च पित्तविकारप्रायैरसृक्। (अ. स. सू. 19/7)

1. त्वचा का रक्त वर्ण होना (Reddish discolouration of skin)
2. नेत्र का रक्त वर्ण होना (Reddish discolouration of sclera)
3. सिरा पूर्णता (Fullness in veins or arteries or hypertension)
4. विसर्प (Erysipelas)
5. प्लीहाविद्रधि (Abcess in spleen)
6. कुष्ठ (Skin diseases)
7. वातरक्त (Gout)
8. रक्तपित्त (Bleeding disorders)
9. गुल्म (Stony hard growth in Abdomen)
10. उपकुश (Dental disease)
11. कामला (Jaundice)
12. व्यंग (Discolouration of face)
13. अग्नि नाश (Indigestion)
14. सम्मोह (Faint due to high blood pressure)
15. रक्त मूत्रता (Haematuria)

रक्त प्रदोषज विकार - कुष्ठ्वीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दरः। गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहागुल्मोऽथ विद्रधिः। नीलिका कामलाव्यङ्गः पिप्लवस्तिलकालकाः।। दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्त्रमण्डम्। रक्तप्रदोषाज्जायन्ते।।

(च. सू. 28/11-12)

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च। (सु. सू. 24/11)

1. **कुष्ठ - कुष्ठ चिरक्रियैः स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते** - कुष्ठ चिर क्रिया वाले, स्थिर एवं निर्बल रक्तपित्त वाले दोषों से होता है। तथा कुष्ठ में तीनो दोष व चारों दूष्य त्वक्, रक्त, मांस, लसिका एक साथ दूषित होते है।

2. **विसर्प - विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबलरक्तपित्तैः।** विसर्प अचिरकारी विसर्पणशील प्रबल रक्तपित्त वाले दोषों से होता है तथा विसर्प में तीनों दोष व चारों दूष्य त्वक्, रक्त, मांस, लसिका एक साथ दूषित नहीं होते है।

3. **पिडका - अपक्वाः पिडकाः।** यह विकार त्वचा स्थित व्रणों के समान भगन्दर की पूर्वा वस्था है व दद्रु व पामा का लक्षण है। पिडका में दोष रक्त के साथ दुष्ट तो होते है परन्तु पाक को प्राप्त नहीं होते है।

4. **रक्तपित्त** - पित्त रक्त के साथ संयुक्त होकर व उसे दूषित करता है। संसर्ग के कारण पित्त, रक्त के समान गन्ध व वर्ण ले लेता है जिससे पित्त दूषित रक्त का स्राव होने लगता है इस रोग को रक्तपित्त कहा जाता है।

5. **असृग्दर - कुपितोऽनिलः। रक्त प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः।** (च. चि. 30/208)

शरीर में कुपित हुयी वायु रक्त को अपनी मात्रा से अधिक उत्पन्न कर देती है और रजोवाही सिराओं में आश्रित होकर तथा अपनी मात्रा से बढ़े हुये रक्त को लेकर रज को बढ़ा देती है रज का स्वभाविक मात्रा से बढ़ना ही असृग्दर कहलाता है।

6. **गुद पाक** - गुद पाक के समकक्ष रोग अहिपूतना होता है यह कफज रक्त की दुष्टि से उत्पन्न होता है कफ दोष के कारण कण्डू होने से पीडिका और स्राव उत्पन्न हो जाते है तथा गुदा के चारों तरफ व्रण उत्पन्न हो जाते है।

7. **मेढ्रपाक** - यह पित्त नानात्मज विकार है जिसमें पित्त, रक्त के साथ दुष्ट होकर रक्त वर्ण की स्राव युक्त पिडका उत्पन्न करता है।

8. **मुखपाक** - यह भी पित्त नानात्मज विकार ही है। पित्त रक्त के साथ दूषित होकर मुख में छाले उत्पन्न करता है।

9. **प्लीहावृद्धि** - चरक के अनुसार प्लीहावृद्धि वात के कारण उत्पन्न शोथ है। शोथ में वृद्ध हुये कफ, पित्त व रक्त, वात के मार्ग को अवरोधित करदेतें है, जिससे वात उन्मार्ग में जाकर उत्सेध युक्त लक्षण वाला शोथ उत्पन्न करता है।

10. **रक्तगुल्म** - गर्भाशयगत प्रकुपित वात रक्त को अवरोधित कर पीड़ा और दाह से युक्त गुल्म को उत्पन्न करता है इसके लक्षण पैत्तिक गुल्म के समान होते है।

11. **विद्रधि - दुष्टरक्तमितमात्रत्वात् स वै शीघ्रं विदह्यते । ततः शीघ्रविदाहित्वाद्विविद्रधीत्यभिधियते।।** (च. सू. 17/95)

दुष्ट रक्त की अधिकता होने से वह शीघ्र विदाहयुक्त हो जाता है।

12. **न्यच्छ** - पित्त, रक्त व वात की दुष्टि से शरीर में बढ़े या छोटे, श्याव या कृष्ण वर्ण के पीड़ारहित मण्डलों को न्यच्छ कहते है। इसे लांच्छन भी कहा जाता है।

13. **व्यंग** - न्यच्छ व्यंग व नीलिका तीनो एक ही रोग के वर्ण और स्थानभेद से विभिन्न नाम है। वायु पित्त के साथ मुख पर आकर एकाएक वहां पीडा रहित, छोटा और श्यामवर्ण का मण्डल बना देता है उसे व्यंग कहते है।

14. नीलिका - मुख के अतिरिक्त शरीर के अन्य भाग में होने वाली को व्यंग नीलिका कहते है।

15. तिलकालक - पित्त रक्त त्वचा में जाकर सूख जाते है जिससे तिलकालक उत्पन्न होता है।

16. पिप्लु - पिप्लु भी तिलकालक के समान ही उत्पन्न होता है।

17. इन्द्रलुप्त - रोमकूपों में रहने वाला भ्राजक पित्त, वायु से मिलकर रोमों को गिरा देता है। तत्पश्चात् रक्त सहित कफरोमकूपों को अवरुद्ध कर देता है। जिससे इन्द्रलुप्त रोग उत्पन्न होता है।

18. कामला - पाण्डु रोगी के द्वारा पित्त वर्धक पदार्थो के अधिक सेवन करने से पित्त ओर अधिक दूषित हो जाता है यह पित्त, रक्त व मांस को अत्यधिक दूषित कर कामला रोग को उत्पन्न करता है।

19. पामा- स्फोट व तीव्र दाह युक्त पामा क्षुद्र कुष्ठ है जिसमें कुष्ठ के समान सातों दूष्य दुष्ट होते है परन्तु गम्भीर धातु में स्थित नहीं होते है।

20. चर्मदल - रक्त वर्ण वाला, शूल, कण्डु व स्फोट से युक्त क्षुद्रकुष्ठ चर्मदल कहलाता है।

21. कोठ - **क्षणिकोत्पाद विनाशः कोठ इति निगद्यते।** वमन के अयोग व मिथ्यायोग के कारण रक्त प्रकुपित होकर कण्डु युक्त लाल वर्ण के चकत्ते उत्पन्न करता है जिसे कोठ कहा जाता है।

22. श्वित्र - वात, पित्त, कफ तीनों दोष रक्त, मांस, मेद में आश्रित होकर श्वित्र रोग उत्पन्न करते है।

23. वातरक्त - वायु विवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावरितः पथि। कृत्स्नं संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितं। (च. चि. 29/11) वायु व रक्त दोनो दूषित होकर वातरक्त को उत्पन्न करता है।

24. रक्तमण्डल - पित्त रक्त को दूषित कर त्वचा पर चकत्ते उत्पन्न करते है।

25. मशक - वात दोष रक्त के साथ दूषित होकर वेदना रहित स्थिर उड़द की दाल के समान उन्नत चिन्ह उत्पन्न करता है। उसे मशक कहा जाता है।

26. दद्रु - कफपित्त दोष प्रकुपित होकर कण्डु युक्त लाल वर्ण की पीडिकाओं से युक्त मण्डल उत्पन्न करते है जिसे दद्रु कहा जाता है।

27. अर्श - रक्त प्रदोषज विकार के अन्तर्गत वर्णित अर्श से तात्पर्य रक्तार्श से ही है । रक्त व पित्त उल्बण होकर रक्त का स्राव करने वाले अर्श उत्पन्न करते हैं।

28. अर्बुद - दोष मूर्च्छित होकर मांस व रक्त को दूषित कर गोल, स्थिर, मन्दरुजा वाले, अधिक गहरे, देर से बढ़ने वाले और न पकने वाले मांसपिण्ड के समान उन्नत शोथ को उत्पन्न कर देते है। जिसे अर्बुद कहते है।

मांस धातु

प्राकृत कर्म

मांसं शरीर पुष्टि मेदसश्च। (सु. सू. 15/7)

1. शरीर की पुष्टि करना

2. मेद का पोषण करना

मांसक्षय लक्षण- मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता। (च. सू. 17/65)

स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षः कक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च।

(सु. सू.15/13)

मांसेऽक्षग्लानिगण्डस्फिक्शुष्कतासन्धिवेदनाः। (अ. हृ. सू.11/18)

स्फिग्गण्डादिशुष्कतातोद्रौक्ष्याक्षग्लानिसन्धिस्फोटन धमनीशैथिल्यैर्मांसम्। (अ. स. सू. 19/10)

1. स्फिक्, ग्रीवा, उदर शुष्कता इसके अतिरिक्त गण्ड, औष्ठ, उपस्थ, उरु, वक्ष, कक्षा में शुष्कता (Wasting of buttocks, neck abdomen and other body organs)

2. रुक्षता (Dryness)
3. तोद (Pricking pain)
4. गात्र सदन (Debility)
5. धमनीशैथिल्य (Aneurysm)
6. अक्षिग्लानि (Irritation in eyes)
7. सन्धि वेदना (Joint pain)

मांसवृद्धि लक्षण

मांस स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च। (सु. सू. 15/19)

मांस गण्डार्बुदग्रन्थिगण्डोरुदरवृद्धिताः। कण्ठादिष्वधिमांसं च। (अ. हृ. सू.11/10)

गलगण्डगण्डमालाऽर्बुदग्रन्थितालुजिह्वा कण्ठरोगस्फिग्गण्डौष्ठबाहूदरोरूजङ्घा गौरववृद्धिभिः श्लेष्मरक्तविकारप्रायैश्च मांसम्। (अ. स. सू. 19/6)

1. स्फिक्, गण्ड, औष्ठ, उपस्थ, उरु, बाहु, जंघा में वृद्धि (Increased girth of Hip mass, lips, thigh mass and other body organs)

2. गुरुगात्रता (Heaviness)
3. गलगण्ड (Enlargement of neck glands)
4. अर्बुद (Tumour)
5. ग्रन्थि (Cystic growth)
6. गण्डमाला (Growth of lymph nodes)
7. अधिमांस (Overgrowth of masses)

मांसप्रदोषज विकार

अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके। पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिह्विका।

(च. सू. 28/13-14)

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिव्होपजिव्होपकुशगलशुण्डिकाऽलजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः। (सु. सू. 24/12)

1. अधिमांस - मांस के ऊपर मांस के अंकुर निकलना जैसे व्रण का रोहण होते हुये धात्वांश कभी त्वचा के पृष्ठ से ऊपर निकल आता है और तब उसका लेखन करना पड़ता है। दन्तमांसगत रोग विशेष जिसमें हनुसन्धि के पास हनु के अन्तिम दंत में महान् शोथ होता है तथा उसमें तीव्र पीड़ा और लालास्राव होता है। यह कफजन्य अधिमांस रोग है।

2. अर्बुद - शरीर के किसी भी प्रदेश में वातादि दोष मांस को दूषित करके गौर, स्थिर, अल्प पीड़ा युक्त, बड़ा, गम्भीर धातुओं में फैला हुआ कभी भी नहीं पकने वाला और मांस के उपचय से युक्त उत्पन्न करते है जिसे शोफ को अर्बुद कहा जाता है।

4. गलशालूक - अथवा कण्ठशालूक - कोल की गुठली के स्वरुप की गले में कफके कारण उत्पन्न हुयी तथा कण्टक अथवा शूक के समान, खर, स्थिर ग्रन्थि को कण्ठशालूक कहते है।

5. गलशुण्डिका - कुपित हुआ कफ काकलक प्रदेश (तालु प्रदेश) के मांस में अपना स्थान बनाता है और शीघ्र ही वहाँ शोथ उत्पन्न कर देता है जिसे गलशुण्डिका कहते है।

6. पूतिमांस -पित्त प्रकुपित होकर मांस को सड़ा देता है व दुर्गन्ध उत्पन्न करता है। इसे पूतिमांस कहते हैं।

7. अलजी - पित्त दूषित होकर मांसल अवकाशों में मर्म स्थानों में व सन्धियों में जाकर अग्नि में जलने के समान विदाह वाली अलजी नामक प्रमेह पीडिका उत्पन्न करता है।

8. गण्डमाला - हन्वस्थि के नीचे तथा छाती पर माला के समान होने वाली ग्रन्थियों को गण्डमाला कहा जाता है।

9. उपजिव्हिका - कुपित हुआ कफजिव्हा के मूल भाग में अपना स्थान बनाकर शीघ्र शोथ उत्पन्न करता है जिसे उपजिव्हा कहा जाता है।

10. अर्श - अर्श को मांसांकुर संज्ञा भी दी गयी है।

11. अधिजिव्हा -रक्त मिश्रित कफकी दुष्टि के कारण जिव्हामूल के नीचे के मांस को दूषित कर अधिजिव्हा उत्पन्न करता है।

12. उपकुश - पित्त व रक्त दूषित होकर दन्तमूलगत मांस में दाह तथा पाक उत्पन्न करते है व दांत को ढीला कर देते हैं। इसे उपकुश कहते है।

13. मांससंघात - मांस की प्रादेशिक वृद्धि होना मांससंघात कहलाता है। तथा इसी नाम का तालुगत रोग विशेष है।

14. ओष्ठप्रकोप -पृथक् तथा सन्निपातिक दोष रक्त, मांस, मेद, और अभिघात कारणों से हुये कुल आठ ओष्ठ रोगों को ओष्ठप्रकोप नाम दिया गया है।

15. गलगण्ड -कफप्रकुपित होकर गले के बाहरी प्रदेश में स्थित मांस में अपना स्थान बनाकर शोथ उत्पन्न करता है जिसे गलगण्ड कहते है।

मेद धातु

प्राकृत कर्म -

मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च। (सु. सू. 15/7)

1. शरीर का स्नेहन करना
2. स्वेद उत्पन्न करना
3. शरीर को दृढ करना
4. अस्थ्यिों को पुष्ट करना

मेदक्षय लक्षण

संधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च। लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वं चोदरस्य च।।

(च. सू. 17/66)

मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च। (सु. सू. 15/13)

मेदसि स्वपनं कटयाः प्लीह्नो वृद्धिः कृशाङ्गता। (अ. ह. सू. 11/18)

प्लीहवृद्धिकटीस्वापसन्धिशून्यताऽङ्गरूक्षताकार्श्यश्रमशोष मेदुरमांसाभिलाषैमसिक्षयोक्तैश्च मेदः।

(अ. स. सू. 19/10)

1. सन्धि स्फुटन (Joint crepitation)
2. अक्षि ग्लानि (Irritation in eyes)
3. आयास (Lasittude)
4. उदर में तनुता (Decreased waist circumference)
5. प्लीहाभिवृद्धि (Splenomegaly)
6. सन्धिशून्यता (Decreased strength of joints)
7. रौक्ष्य (Dryness)
8. मेदुरप्रार्थना (Desire of fatty food)
9. कटि स्वपनं (Hip numbness)
10. कृशाङ्गता (Muscle wasting)

मेद वृद्धि लक्षण-

मेदः स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धि कासश्वासादिन् दौर्गन्ध्यं च। (सु. सू.15/19)

मेदस्तथा श्रमम्।। अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासं स्फिक्स्तनोदरलम्बनम्। (अ. ह. सू.11/10-11)

प्रमेहपूर्वरूपैः स्थौल्योपद्रवैश्चान्यैरपि श्लेष्मरक्तमांसविकारप्रायैर्मेदः। (अ. स. सू. 19/7)

1. स्निग्धांगता (Excessive sebum & sweat production)
2. उदर वृद्धि (Increased waist circumference)
3. पार्श्ववृद्धि (Increased abdominal fat)
4. कास (Cough)
5. श्वास (Breathlessness)
6. दौर्गन्ध्यं (Bad smell)
7. श्रम् अल्पेऽपि चेष्टते (Tiredness even after mild activity)
8. स्फिक् स्तन उदर लम्बनम् (Extra fat around waist)

मेद प्रदोषज विकार

निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरुपाणि यानि च। (च. सू.28/15)

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः।

(सु. सू. 24/13)

1. **अष्ट निन्दित व्याधि** - अष्टौनिन्दितीय अध्याय में वर्णित मेद आधिक्य से होने वाले दोषों को चरक ने वर्णित किया है जो कि इस प्रकार है।

1. **आयुषोह्रास** - आयु अल्प होना
2. **जवोपरोध** - किसी भी कार्य में गति न्यून होना।
3. **कृच्छ्रव्यवायता**- मैथुन में कष्ट होना।
4. **दौर्बल्य** - धातुओं में विषमता उत्पन्न होने से दौर्बल्य व कर्म में अनुत्साह।
5. **दौर्गन्ध्यं**- मेदस्वी पुरुष में स्वेदाधिक्य होने से दौर्गन्ध्य उत्पन्न होता है।
6. **स्वेदाबाध** - पसीने से अधिक कष्ट होना।
7. **अतिक्षुधा** - अधिक मात्रा में भूख का लगना।
8. **अतिपिपासा** - अधिक मात्रा में प्यास का लगना।

2. प्रमेह पूर्वरुप - चरक के अनुसार प्रमेह के दस दूष्य होते है जो कफ के समधर्मी होते हैं। इनमें से भी मेद धातु में सर्वप्रथम दुष्टि उत्पन्न होती है। प्रमेह के पूर्वरुप इस प्रकार है - केशों की जटिलता, मुख में मधुरता होना, हाथ पैर में शून्यता और दाह मुखतालु और कण्ठ का सूखना, प्यास, आलस्य, शरीर में मलों की अधिकता, शरीर के छिद्रों में मल का अधिक लिप्त होना, सारें अंगों में दाह व शून्यता, शरीर पर और मूत्र पर चीटियों का बैठना आदि।

3. ग्रन्थि - यहाँ पर षडविध ग्रन्थियों में से मेद की दुष्टि से उत्पन्न मेद ग्रन्थियों का ग्रहण करना चाहिये। मेदोज ग्रन्थि शरीर की वृद्धि के साथ बड़ती है तथा क्षय के साथ घटती है एवम् स्पर्श में स्निग्ध होती है।

4. वृद्धि - वातादि दोष प्रकुपित होकर फल (वृषण) तथा उसके कोष में जाने वाली धमनी में जाकर फल तथा कोष की वृद्धि करता है उसे वृद्धि कहते है।

5. गलगण्ड- पूर्व वर्णन किया गया है।

6. गण्डमाला- पूर्व वर्णन किया गया है।

7. अर्बुद - अर्बुद के छः भेद बताये गये है। जिनमें से इस प्रकरण के अन्तर्गत मेदोज अर्बुद का ग्रहण करना चाहिए।

8. मेदोज औष्ठ - मेदोज औष्ठ प्रकोप में स्फटिक के समान स्राव बहता है। तथा औष्ठ गुरु हो जाते है।

9. मधुमेह- वात के कारण प्रमेंह के दस दूष्य दूषित होकर कषाय, मधुर, पाण्डु, रुक्ष मूत्र त्याग करातें है।

10. अतिस्थौल्य - स्रोतसों में मेद का संचय होने से वहां स्थित वायु कोष्ठ में विशेष रुप से संचित होकर अग्नि को प्रदीप्त करती है जिससे आहार का शीघ्र पाचन हो जाता है व मनुष्य आहार को अधिक मात्रा में व अधिक बार खाने की इच्छा करता है। परिणामस्वरुप स्थौल्यता उत्पन्न होती है।

11. अतिस्वेद - स्वेद मेद धातु का मल होता है इसलिए जिस व्यक्ति में मेदो धातु दुष्टि मिलती है उसमें स्वेदाधिक्य का मिलना स्वभाविक है।

अस्थिधातु

प्राकृत कर्म

अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च। (सु. सू. 15/2)

1. देह को धारण करना
2. मज्जा की पुष्टि करना

अस्थि क्षय लक्षण

केशलोमनखश्मश्रुद्विजप्रपतनं श्रमः। ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं सन्धिशैथिल्यमेव च।। (च. सू. 17/67)

अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च। (सु. सू. 15/13)

अस्थ्यस्थितोदः शदनं दन्तकेशनखादिषु। (अ. हृ. सू. 11/19)

दन्तनखरोमकेशशातनरौक्ष्यपारूष्य सन्धिशैथिल्यास्थितोदास्थि बद्धमांसाभिलाषैरस्थि।

(अ. स. सू. 19/10)

1. केश, नख, श्मश्रु, द्विज पतन (Loss of hair, Nails, beard)
2. श्रम (Lassitude)
3. सन्धिशैथिल्य (Strenghtless joints)

4. अस्थिशूल (Pain in Bones)

5. रौक्ष्यता (Dryness)

6. अस्थितोद (Pricking pain in bones)

अस्थि वृद्धि लक्षण

अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदंताश्च। (सु. सू. 15/19)

अस्थ्यध्यस्थ्यधिदन्ताश्च। (अ. हृ. सू. 11/11)

1. अध्यस्थि (Osteochondroma - developing cartilage tissue near long bone end)

2. अधिदन्त (Hyperdontia)

अस्थि प्रदोषज विकार

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता। केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः।।

(च. सू. 28/16)

अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः। (सु. सू. 24/14)

1. अध्यस्थि- अधिक अस्थि होना अर्थात किसी अस्थि के एक देश की अधिक वृद्धि होना है।

2. अधिदन्त - सामान्य से अधिक दन्त का होना।

3. अस्थिभेद - अल्पमात्र कारण से अस्थियों के टूट जाने का स्वभाव अथवा अस्थियों में टूटनें के समान वेदना होना।

4. अस्थिशूल - अस्थि में तीव्र वेदना। अस्थि में विकार उत्पन्न होने से, कभी अस्थिधरा कला दोषाक्रान्त होने से तथा कदाचित् अस्थि विवरान्तर्गत मज्जा धातु रुग्ण होने से भी अस्थियों में शूल होता है।

5. दन्त विवर्णता -दांतो का सामान्य वर्ण परिवर्तित होकर पीला होना ।

6. केशलोम नख श्मश्रु दोष अथवा कुनख-केश ,श्मश्रु, लोम तथा नख अस्थि के मल माने गये है। अत: अस्थियों के दोषाक्रान्त होने से उसके मलों में भी विकार उत्पन्न होते है जैसे बालों का गिरना, दन्त का असमय गिरना आदि।

मज्जा धातु

प्राकृत कर्म

मज्जा प्रीतिस्नेहं बलं शुक्र पुष्टि पूरणमस्थ्नां च करोति। (सु. सू. 15/5)

1. शरीर का स्नेहन करना
2. शरीर को बल देना
3. शुक्र धातु का पोषण करना
4. अस्थियों के सौषिर्य भाग का पूरण करना

मज्जा क्षय लक्षण

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च। प्रततं वातरोगाणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम्।

(च.सू. 17/68)

अस्थिसौषिर्यनिस्तोददौर्बल्यभ्रमतमोदर्शनैर्यज्जा। (अ. स. सू. 19/10)

अस्थ्नां मज्जनि सौषिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्। (अ. हृ. सू. 11/19)

1. अस्थि का क्षीण होना। (Degradation of bone) 2. अस्थि का दुर्बल होना (Bone become weak)
3. अस्थि में लघुता होना (Lightness of bone) 4. वातरोग से ग्रसित होना (Vata roga)
5. अस्थिसुषिरता (Osteoporosis) 6. अस्थितोद (Pain in bones)
7. भ्रम (Vertigo)
8. तम दर्शन या तिमिर दर्शन (Darkness in front of eyes)

मज्जा वृद्धि लक्षण

मज्ज सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च। (सु. सू. 15/19)

मज्जा नेत्राङ्गगौरवम्।। पर्वसु स्थूलमूलानिकुर्यात्कृच्छ्राण्यरुषि च। (अ. हृ. सू. 11/11-12)

नेत्राङ्गरक्तगौरवैः पर्वसु च स्थूल मूलारूर्भिर्मज्जा। (अ. स. सू. 19/7)

1. सर्वांग गुरुता (Heaviness allover body)
2. नेत्रों में गुरुता (Heaviness in eyes)
3. पर्वो में स्थूल मूल वाली व कृच्छ्रसाध्य फुन्सियों का होना। (Deep seated papules or skinrashes on joints which is not cured easily)

मज्जा प्रदोषज विकार

रुक् पर्वणां भ्रमोमूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा। अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्। (च. सू. 28/17)

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिस्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः। (सु. सू. 24/15)

1. पर्व रुक - पर्व पर स्थूल मूल वाली अरुंषिका उत्पन्न होने से पर्वो पर वेदना होती है। आचार्य सुश्रुत ने पर्व रुक के स्थान पर पर्व स्थूल मूल कहा है जिसका तात्पर्य पर्वो पर विशाल मूल वाले व्रण उत्पन्न हो जाते है।

2. भ्रम - मानसिक दोष रज, पित व वात को दूषित कर भ्रम उत्पन्न करता है

3. मूर्च्छा - चैतन्य का नाश। मानसिक दोष तम पित्त के साथ दूषित होकर रक्तवाही, रसवाही व संज्ञावाही स्रोतसों को अवरुद्ध कर मूर्च्छा उत्पन्न करते है।

4. तमदर्शन - आंखों के आगे अंधेरी छा जाना।

6. नेत्रभिषयन्द -जिस रोग में नेत्र से पीडा के साथ स्राव निकलता है।

शुक्र धातु

प्राकृत कर्म

शुक्रं धैर्य्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्ष बीजार्थं च। (सु.सू. 15/7)

1. धैर्य प्रदान करना
2. च्यवन अर्थात मैथुन काल में सुखपूर्वक शुक्र त्याग करना।

3. प्रीति – पुरुष व नारी का परस्पर प्रेम
4. देहबल – देह को बल प्रदान करना
5. हर्ष – शिश्नेन्द्रियो का उत्तेजित होना
6. गर्भोत्पत्ति के लिये सक्षम बीज देना

शुक्र क्षय लक्षण

दौर्बल्य मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः। क्लैव्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम्।

(च. सू. 17/71)

शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम्।

(सु. सू. 15/13)

शुक्रे चिरात् प्रसिच्येत शुक्रं शोणितमेव वा। तोदोऽत्यर्थं वृषणयोर्मेढ्रं धूमायतीव च।

(अ. ह. सू. 11/20)

श्रमदौर्बल्यास्यशोषतिमिरदर्शनाङ्ग पाण्डुतासदनक्लैब्यमुष्कतोदमेण्ढ्र धूमायनैश्चिराच्चनिषेकेण सरक्तनिषेकेण वा शुक्रम्। (अ. स. सू. 19/10)

1. दौर्बल्य (Debility or weakness)
2. मुखशोष (Dryness in mouth)
3. पाण्डु (Anemia)
4. अंगसाद (Debility)
5. श्रम (Lassitude)
6. शुक्राविसर्ग (Azospermia)
7. मेढ्र वेदना (Pain in penis)
8. वृषणवेदना (Pain in scrotum)
9. मैथुन अशक्ति (Loss of libido)
10. चिराद्प्रसेक (Delayed ejaculation)
11. अल्पशुक्रता (Oligospermia)
12. रक्तशुक्रता (Hematuria)

शुक्र वृद्धि लक्षण

शुक्रं शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च। (सु. सू. 15/19)

अतिस्त्रीकामतां वृद्धं शुक्रं शुक्राश्मरीमपि। (अ. ह. सू. 11/12)

1. शुक्र की अतिमात्रा में प्रवृत्ति (Plyzoospremia or hyperspermia)
2. शुक्राश्मरी (Sperm calculi)
3. अति स्त्री कामना (Hypersexuality)

शुक्र प्रदोषज विकार

शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्। रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरुपं वा प्रजायते।। न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्त्रवत्यपि। शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्। (च. सू. 28/18-19)

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः। (सु. सू. 24/16)

1. क्लैव्य – ध्वजोत्थान न होना या होने पर व्यवाय की शक्ति न होना

2. अहर्षण – स्त्रियों के प्रति आकर्षण नहीं होना

3. शुक्रमेह – स्वप्न में शुक्र का पात होना अथवा मूत्र के साथ शुक्र की प्रवृत्ति होना।

4. शुक्राश्मरी – शुक्र अपने ही मार्ग में बंधकर, स्वयं के मार्ग को अवरोधित करता है।

5. शुक्रदोष – दोष दुष्ट होकर विभिन्न प्रकार के शुक्र रोग उत्पन्न करते है। जैसे – शुक्रावृत्त वात या शुक्रगत वात

6. विविध गर्भ विकार- दूषित शुक्र द्वारा उत्पन्न गर्भ में अनेक विकृतियाँ उत्पन्न होती है जिससे गर्भ का स्राव अथवा गर्भपात हो जाता है अथवा विकृत सन्तान उत्पन्न होती है।

उपधातु

उपमितं धातुभिः इति उपधातुः। (का. चि. परिचय)

जो धातु के समान हो तथा उसके स्वरुप जैसी हो उसे उपधातु कहते है।

ते च स्तन्यादयो धात्वान्तरा पोषणाच्छरीरपोषका अप्यूपधातुशब्देनोच्यन्ते। (च. चि. 15/17 चक्रपाणि)

जो शरीर को आधार तो प्रदान करें परन्तु उसका पोषण नहीं करें वह उपधातु कहलाती है जबकि धातुएँ शरीर का धारण व पोषण दोनो कार्य सम्पादित करती है।

रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः। मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसःस्नायु सम्भवः।

(च. चि. 15/17)

स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति।। शुद्ध मांसभवः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता।

स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवोजश्च सप्तमम्।। इति धातुभवा ज्ञेया एते सप्तोपधातवः। (शा. पू. 5/28-29)

धातु	रस		रक्त		मांस		मेद	अस्थि	मज्जा	शुक्र
उपधातु (चराकानुसार)	स्तन्य	आर्तव	कण्डरा	सिरा	वसा	षट्त्वचा	स्नायु	X	X	X
शार्ङ्गधर	स्तन्य		आर्तव		वसा		स्वेद	दन्त	केश रोम	ओज

उपधातु प्रदोषज विकार

स्नायौसिराकण्डराभ्यो दुष्टाः क्लिश्नन्ति मानवम्। स्तम्भ संकोच खल्लीभिर्ग्रन्थिस्फुरणसुप्तिभिः।

(च. सू. 28/18)

1. स्तम्भ - अवरोध। स्नायु सिरा व कण्डरा में दोष स्थित होकर हस्त व पाद गतियों को अवरोधित करते है।

2. संकोच - अंगों में वात के कारण संकोच होता है अथवा स्तन्य व अन्य उपधातुओं के मुख मार्गो का संकुचित होना।

3. खल्ली - पाद, जंघा, उरु तथा हाथ के मूल में ऐंठन उत्पन्न होना। यह वात के प्रकोप से उत्पन्न व्याधि है।

4. ग्रन्थि - शरीर के किसी एक प्रदेश में वातादि दोषों के कारण अपने अपने लक्षणों से युक्त ग्रन्थियां उत्पन्न होती है। जो ग्रन्थि सिराओं के विकार से होती है उसमें फड़कन होती रहती है। मांस के विकार से उत्पन्न ग्रन्थि का आकार बड़ा होता है और उसमे वेदना नहीं होती है। मेद के विकार से उत्पन्न ग्रन्थि स्निग्ध व चंचल होती है।

5. स्फुरण- वात दुष्ट होकर विभिन्न अवयवों में फड़कन पैदा करता है।

6. सुप्ति - शून्यता - वात दोष के प्रकोप से रक्त का प्रवाह सम्यक् रुप से न होने से अथवा दुर्बलता होने से, अथवा नाड़ियों पर दबाव पड़ने से शून्यता उत्पन्न होती है।

मल क्षय वृद्धि लक्षण व प्रदोषज विकार

मलिनीकरणान्मला: (शा. पू. 5/24)

जो शरीर को मलिन करें उसे मल कहते है। इनका शरीर से स्व स्व मार्गो से निष्कासन होना परमावश्यक है। मलों के शरीर में संचय होने से अनेक विकार उत्पन्न होते है।

मलिनीकरणादाहारमल्त्वान्मला। (अ. स. सू. 25)

जो शरीर को मलिन करें तथा जिसकी उत्पत्ति आहार से होती है। इसलिये इन्हे मल कहा जाता है।

मला- मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च। (अ. हृ. सू. 1/13)

मूत्र, शकृद् व स्वेद को मल कहा जाता है।

भेद -

किट्टमन्नस्यविण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृज:। पित्तं, मांसस्य खमला, मल: स्वेदस्तु मेदस:। स्यात्किट्टं केशलोमास्थ्नो, मज्ञ: स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्। (च. चि. 15/18-19)

कफ: पित्तं मल: खेषु स्वेद: स्यान्नखरोम च।

नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मला:। (सु.सू. 46/ 536)

कफ: पित्तं मला: खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। स्नेहोऽक्षित्वग्शिामोजो धातूनां क्रमशो मला:।

(अ. हृ. शा.3/63)

कफ: पित्तं मलं खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।। नेत्रविट त्वक्षु च स्नेहो धातुनां क्रमशो मला:।।

(शा.पू. 5/27)

धातु	चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टांग हृदय	शार्ङ्गधर संहिता
रस	कफ	चरक सम	कफ	जिव्हा, नेत्र, कपोलो का जल
रक्त	पित्त	चरक सम	पित्त	रंजक पित्त
मांस	खमल	चरक सम	खमल (नाक कान आदि छिद्रों के मल)	कर्ण का मल
मेद	स्वेद	चरक सम	स्वेद	जिह्वा, दन्त, कक्षा, शिश्न, अण्डकोष आदि का मल
अस्थि	केश,रोम और नख	चरक सम	नख, रोम	नख
मज्जा	अक्षि मल, त्वक् स्नेह,	चरक सम	नेत्रमल, त्वक् स्नेह	नेत्र एवम् मुख का स्नेह
शुक्र	कोई मल नहीं	चरक सम	ओज	युवानपीडिकाएँ

मल प्रदोषज विकार

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा मलायतन दोषाः। (सु. सू. 24/17)

मलानाश्रित्य कुपिता भेदशोष प्रदूषणम्। दोषा मलानां कुर्वन्तिसङ्गोत्सर्गावतीव च। (च. सू. 28/22)

1. त्वक् दोष - मलों की सम्यक प्रवृत्ति नहीं होने से विभिन्न त्वक् विकार उत्पन्न होते है।

2. मल भेद - मलों की प्रवृत्ति अधिक संख्या में होना अथवा शुष्क और ग्रथित मल की बारम्बार प्रवृत्ति होना अथवा कभी कभी संख्या मे वृद्धि नहीं होती वरन् एक बार में ही थोड़ा थोड़ा मल देर तक प्रवृत्त होता है। इसे विड्भेद संज्ञा भी दी गयी है।

3. मलों का शोष - वात के प्रकोप से पुरीष, मूत्रादि मल शुष्क होकर क्षीण हो जाते है।

4. मलों का संग - शोष होने के कारण अल्प मल अपने ही मार्गो मे अवस्थित रह जाते है जिसे मलों की संगावस्था कहते है

5. मलों की अतिप्रवृति - पित्त के प्रभाव से मल द्रवत्व को प्राप्त होकर अति प्रवृत्त होता है।

6. अयथाप्रवृत्ति - मलों की सामान्य मात्रा, वेग, स्वरुप में प्रवृत्ति न होकर विकृत प्रवृत्ति होती है।

पुरीष

सामान्य कर्म

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्नि धारणं च। (सु. सू. 15/8)

1. उपस्तम्भ - पुरीष अवष्टम्भक होने से देह को धारण करता है। आंतों के अन्दर कुछ सूक्ष्म मल रहता है जो शरीर का धारण करता है तथा राजयक्ष्मा में एवं दुर्बल रोगी में उस मल की रक्षा करनी चाहिये।

2. वायु का धारण करना - पक्वाश्य वायु का प्रधान स्थान है। अपान वायु के प्राकृत रहने पर मल की सम्यक् प्रवृत्ति होती रहती है।

3. अग्नि का धारण करना - पुरीष सम्यक् प्रवृति होने पर सभी दोष सम अवस्था में रहते है जिससे समाग्नि की अवस्था बनी रहती है।

पुरीष क्षय लक्षण

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः। रुक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति।

(च. सू. 17/70)

पुरीष क्षये हृदयपार्श्वपीड़ा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ सञ्चरणं च। (सु. सू. 15/15)

पुरीषे वायुरन्त्राणि सशब्दो वेष्टयन्निव। कुक्षौ भ्रमति यात्यूर्ध्वं हृत्पार्श्वेपीडयन् भृशम्। (अ. हृ. सू. 11/21)

सशब्दस्य वायोः कुक्षौ तिर्यगूर्ध्वं च भ्रमणेनान्त्रवेष्टनेन पार्श्वहृदयपीडनेनाल्पतया च शकृत्।

(अ. स. सू. 19/11)

1. आन्त्रपीड़यन्निव मारुत-वायु आन्त्रों को पीडित करती है। – Movement of flatus in intestine

2. रुक्षता - Dryness in intestine

3. उन्नमयन् कुक्षितिर्यगुर्ध्वकुक्षि का उर्ध्व अथवा तिर्यक रूप से उठना–Upward or oblique abdominal distention.

पुरीष वृद्धि लक्षण

पुरीषमाटोपं कुक्षौ शूलं च। (सु. सू. 15/20)

कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत्। (अ. ह. सू. 11/13)

1. आटोप (Gurgling sound in abdomen)
2. कुक्षिशूल (Abdominal pain)
3. आध्मान (Distended abdomen)
4. गौरव (Heaviness)

मूत्र

प्राकृत कर्म

बस्तिपूरण विक्लेदकृन्मूत्रम्। (सु. सू. 15/8)

1. बस्ति को मूत्र से पूर्ण रुप से भर देना
2. शरीर के क्लेद को नष्ट कर देना

मूत्र क्षय लक्षण -

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च। पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति। (च. सू. 17/71)

मूत्रक्षये बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च। (सु. सू. 15/15)

मूत्रेऽल्पं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विवर्णं सास्रमेव वा। (अ. ह. सू. 11/22)

1. मूत्रकृच्छ्र (Dysuria)
2. मूत्रविवर्णता (Discolouration of urine)
3. पिपासा (Thirst)
4. मुख शोष (Dryness in mouth)
5. बस्तितोद (Cystitis)
6. रक्तमूत्रता (Hematuria or hemoglobinurea)

मूत्र वृद्धि लक्षण

मूत्रं मूत्रवृद्धिं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोदमाध्मानं च। (सु. सू. 15/20)

मूत्रं तु बस्तिनिस्तोदं कृतेऽप्यकृतसंज्ञताम्। (अ. ह. सू. 11/13)

1. मूत्र की मात्रा में वृद्धि (Increased urine volume)
2. मुहुर्मुहु प्रवृत्ति (Polyuria)
3. बस्तितोद (Pain in pelvic region)
4. आध्मान (Gaseous distension)
5. कृतेऽप्यकृत संज्ञा (Feeling of dissatisfaction after urination)

मूत्र त्याग करने के पश्चात् भी मूत्र त्याग नहीं किया है ऐसा आभास होना।

स्वेद

प्राकृत कर्म

स्वेदः क्लेदत्वक्सौकुमार्यकृत्। (सु. सू. 15/8)

1. शरीर को क्लेद प्रदान करना अर्थात आर्द्रता प्रदान करना।
2. त्वचा को सुकुमार बनाना।

स्वेद क्षय लक्षण

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च। विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये।

(च. सू. 17/72)

स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च। (सु. सू. 15/15)

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः। (अ. ह. सू. 11/22)

1. मलायनों मे शून्यता - Emptiness in excretory pathways
2. मलायनों में लघुता - Lightness in excretory pathways
3. मलायनों में शोष - Dryness in excretory pathways
4. स्तब्धरोमकूपता - Diminished secretion in hair follicle
5. त्वक शुष्कता - Dryness of skin or crack skin
6. स्पर्शवैगुण्य - Difficulty in aesthesia
7. रोमच्युति - Generalized hair fall

स्वेद वृद्धि लक्षण

स्वेदस्त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च। (सु. सू. 15/20)

स्वेदोऽतिस्वेददौर्गन्ध्य कण्डूः एवं च लक्षयेत्। (अ. हृ. सू.11/14)

1. त्वचा दौर्गन्ध्य (Odorous skin)
2. कण्डू (Itching)
3. स्वेद आधिक्य (Excessive sweating)

इन्द्रिय प्रदोषज विकार

इन्द्रियों की उत्पत्ति अंहकार से हुयी है तथा सत्व व रज दोनों के संयोग से एकादश इन्द्रियों का निर्माण होता है।

1. कर्मेन्द्रिय - वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रिय है।

2. ज्ञानेन्द्रिय - श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण यह पांच ज्ञानेन्द्रियां है।

3. उभयात्मक इन्द्रिय - मन को उभयात्मक इन्द्रिय माना गया है क्योकि सभी इन्द्रियाँ मन के द्वारा ही विषय ग्रहण करती है।

इन्द्रियाणि समाश्रित्य प्रकुप्यन्ति यदा मलाः। उपघातोपतापाभ्यां योजयन्तीन्द्रियाणि ते।

(च.सू.28/20)

1. इन्द्रियों में उपताप - इन्द्रियों का स्वकार्य सम्यक् रुप से नहीं करना अर्थात इन्द्रियाँ अपने विषय को विकृत रुप से ग्रहण करें जैसे नेत्रों द्वारा किसी वस्तुविशेष का धुंधला दिखाई देना अथवा शब्द स्पष्ट सुनाई नहीं देना अथवा घ्राणेन्द्रियों द्वारा गंध का सही ज्ञान न होना आदि।

2. उपधात - अर्थात नाश - पूर्णरुप से इन्द्रियों का नष्ट हो जाना। जैसे नेत्रो के नाश होने से अंधा होना, श्रोत्रेन्द्रिय के नाश से बहरा होना, कुष्ठ रोग में स्पर्शेन्द्रिय नाश होना आदि।

अग्नि दुष्टि

अग्नि महत्त्व- आचार्य चरक के अनुसार देहाग्नि का महत्त्व बताया गया है।

आयुर्वर्णोबलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा। ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः।। शान्तेऽग्नौ म्रियते, युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।। रोगी स्याद्विकृते, मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते।। (च. चि.15/3-4)

देहाग्नि निम्न सभी कर्मों का मूल होने के कारण प्रधान होती है

1. आयु - चेतना की अनुभूति होना।

2. वर्ण - गौर आदि विभिन्न वर्णो की प्राप्ति।

3. बल - कार्य करने की शक्ति व व्यायाम करने की शक्ति।

4. स्वास्थ्य - शारीरिक दोषादि तथा आत्मा, मन, इन्द्रियों कर पुष्ट रहना।

5. उत्साह - दुष्कर कार्य करने में भी कुशलता आना।

6. उपचय- देह का पुष्ट होना।

7. ओजस्य - हृदय में स्थित सर्व धातुओं के सार रुपी ओज का पोषण करती है।

8. तेज - आचार्य चक्रपाणि ने तेज से देहोष्मा व शुक्र दोनों का ग्रहण किया है। अतः देहाग्नि देहोष्मा का वर्धन करने के साथ साथ शुक्र का भी वर्धन करती है।

9. अग्नय - देहाग्नि शरीर में स्थित अन्य अग्नियों जैसे पञ्च भूताग्नि व सप्त धात्वाग्नि का पोषण करती है।

देहाग्निहेतुका इतिदेहपोशकप्रधानजाठराग्नि कारणकाः। (चक्रपाणि टीका)

इस प्रकार देहाग्नि सम्पूर्ण देह का पोषण करने में मुख्य कारण होती है।

पर्याय

वैश्वानर, वह्नि,, धनन्जय, पावक, अनल, शिखावान्, हुतभुक्, शुचिःवृत्तहा, हिरण्यकेश, अर्हत, असुर, सर्वपाक आदि।

भेद

चक्रपाणि ने अग्नि के तेरह भेद बताये

1. जाठराग्नि	1 प्रधानभूत
2. धात्वाग्नि	7 (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र की अग्नि)
3. भूताग्नि	5 (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश की अग्नि)

जाठराग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः। तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः। तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः। (च. चि. 15/39-40)

शरीर में रहने वाली सभी तेरह प्रकार की अग्नियों में पाचकाग्नि प्रधान है। सामान्य रुप से पित्त को ही अग्नि कहा जाता है परन्तु स्थान व कार्य भेद से पित्त के पांच प्रकार बताये गये है जिनमे पाचक पित्त को ही पाचकाग्नि या अग्नि संज्ञा दी जाती है। यदि यह पाचकाग्नि पूर्ण रुप से स्वस्थ रहती है तो शेष 12 प्रकार की अग्नियों को बल प्रदान करती है। पाचकाग्नि की वृद्धि होने पर शेष अग्नियों की वृद्धि होती है। पाचकाग्नि क्षीण हो गयी तो शेष अग्नियाँ भी क्षीण हो जाती है। इसलिये सावधान होकर विधि पूर्वक अन्न पान का सेवन कर पाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिए।

जाठराग्नि का कार्य आहार के आमाश्य मे प्रवेश करते ही प्रारम्भ हो जाता है तथा जाठराग्नि भोजन के अन्तिम परिणाम रुपी मल बनने तक कार्यशील रहती है। जाठराग्नि या पाचकाग्नि या पाचक पित्त का प्रमुख स्थान ग्रहणी है।

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता। पक्वामाशय मध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता।।

(सु. उ. 40/169)

पित्तधरा कला सम्पूर्ण आन्त्र का वह भाग है जो आमाश्य के अधोमुख से प्रारम्भ होकर स्थूल आन्त्र में जाकर मिलती है

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपर्यग्निबलेनोपष्टब्धोपबृंहिता।।

अपक्वं धारत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।। (च. चि. 15/56-57)

अग्नि अन्न का आश्रय है और वह खाये हुये अन्न का ग्रहण करती है, इसलिये ही इसे ग्रहणी कहा जाता है। अग्नि के बल को बलिष्ठ करने वाली ग्रहणी नाभि के उपरि भाग में रहती है। यह अपक्व अन्न का धारण करती है व पके हुये अन्न को अपने पार्श्व भाग से बाहर निकाल देती है।

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति। तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्।। समानेनावधुतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः। काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये।। (च. चि. 15/6-7)

ग्रहण किये गये अन्न को आदान कर्म करने वाली प्राण वायु कोष्ठ में ले जाती है। आमाश्य में जब अन्न प्रविष्ट हो जाता है तब आमाश्य स्थित द्रव अर्थात क्लेदक कफद्वारा उसका संघात किया जाता है जिससे भोजन छिन्न भिन्न हो जाता है व इसी क्लेदक कफके स्नेहांश के द्वारा आहार मृदु भाव को प्राप्त होता है। समान वायु द्वारा पाचकाग्नि प्रबल होकर आहार का पाचन करती है जिससे आयु का विवर्धन होता है। इसी प्रकार आहार के पाचन हेतु आहार परिणामकर भाव - उष्मा, वायु क्लेद, स्नेह, काल व समयोग आदि का भी महत्त्व है। जठरस्थ उष्मा पाचन करती है समान वायु अपकर्षण करती है। क्लेदक कफ-अन्न को शिथिल करता है, स्नेह अंश भोजन को मृदु करता है, काल उसी अन्न को सुपक्व रुप में परिणति करता है यह पक्व रस रसादि धातुओं को सम करता है।

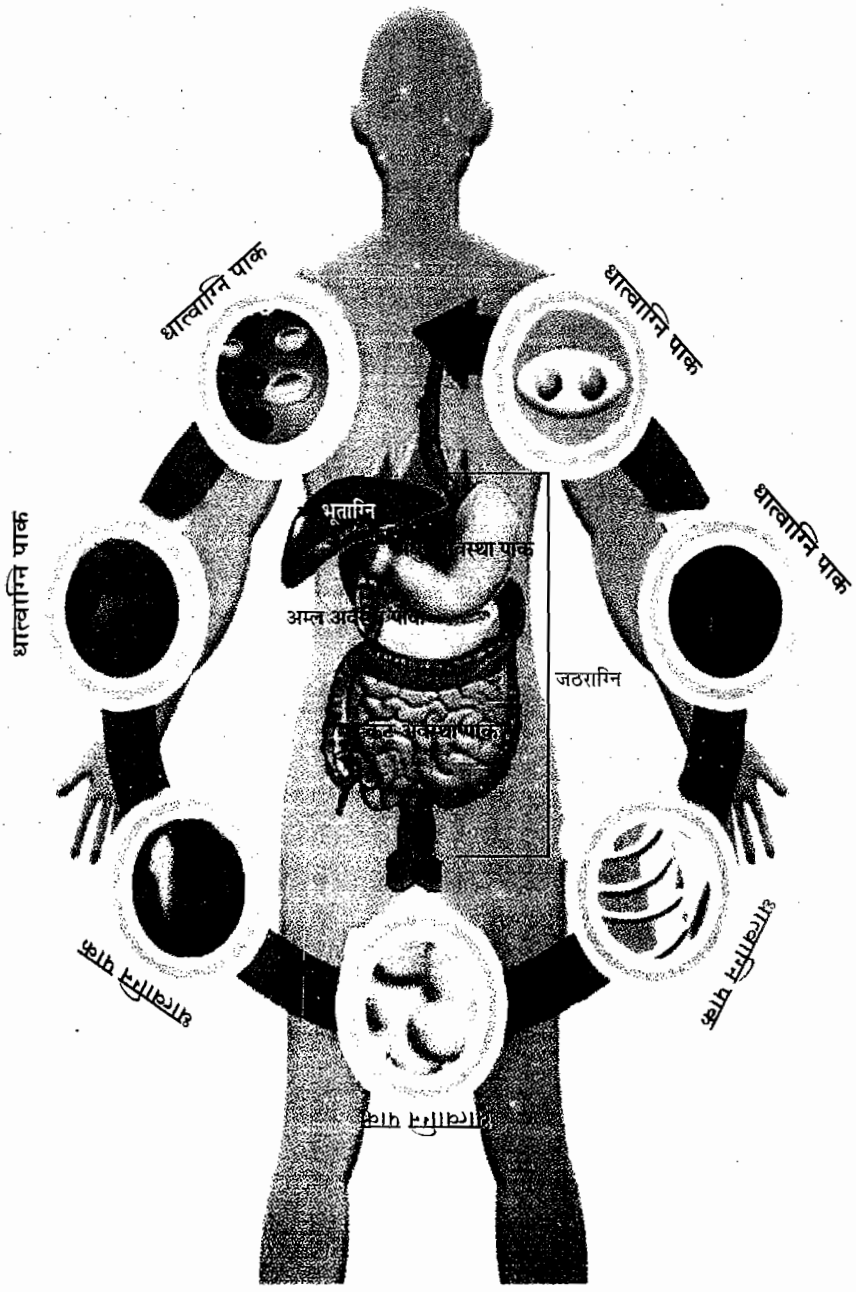

चित्र -1 तीनों अग्नियों का विशेष स्थान

अग्नि द्वारा विभिन्न स्थानों पर होने वाले पाक को अवस्था पाक संज्ञा दी गयी है। अवस्था पाक के तीन भेद दिये गये है।

1. मधुर अवस्था पाक - अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात् कफोभावात् फेनभूत उदीर्यते।। (च. चि. 15/9)

छः रसो से युक्त आहार का सेवन किया जाता है तो आमाश्य में उसका पाक होकर पहले मधुर रस की उत्पत्ति होती है अर्थात सम्पूर्ण आहार मधुर रस में परिवर्तित हो जाता है और उस परिवर्तित मधुर आहार रस में जो फेन होता है उससे कफबढ़ जाता है।

2. अम्ल अवस्था पाक- परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्त-मच्छमुदीर्यते।। (च. चि. 15/10)

मधुर अवस्था पाक के पश्चात् अन्न विदग्ध होकर अम्ल भाव को प्राप्त होता है। आमाश्य मे स्रावित होने वाले पाचक स्राव स्वभाव से अम्लीय होते है जिससे अन्न अम्लीभूत होकर आमाश्य से पच्यमानाश्य में प्रवेश करता है। इसी समय अच्छ पित्त का उदीरण होता है।

3. कटु अवस्था पाक - पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावातः।। (च. चि. 15/11)

अम्ल अवस्था के अन्त में आहार पक्वाशय में पहुंचता है, वहाँ स्थित अग्नि के द्वारा आहार का जलीय अंश शोषित कर लिया जाता है जिससे आहार पिण्ड रुप में परिणत हो जाता है। इसी समय पक्व अन्न में कटु भाव उत्पन्न होता है जिससे वात की वृद्धि हो जाती है।

इसी आधर पर सी-द्वारिकानाथ ने जाठराग्नि के पुनः दो भेद बताये।

1. सामान्य अग्नि 2. विशेष अग्नि

सामान्य अग्नि - आमाश्य व पच्यमानाश्य में भोजन के पाक को नियन्त्रित करती है यह क्रियाstomach व intestine में होती है।

विशेष अग्नि - जो कि विभिन्न अंगो से होने वाले स्रावों का नियंत्रण करती है जैसे Pancreatic juice, bile juice etc.

भूताग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः।।

(च. चि. 15/14)

चक्रपाणि के मतानुसार जाठराग्नि पाक होने के पश्चात् भूताग्नि व्यापार प्रारम्भ होता है। अतः भूताग्नि अवस्था पाक के पश्चात् प्राप्त आद्यरस का पाक करती है कोष्ठ के विभिन्न स्थानों की कलाओं में अवशोषित आहार रस पर भूताग्नि अपना कार्य प्रारम्भ करती है।

भूताग्निना पार्थिवादिद्रव्यं पच्यते, ...पार्थिवादीनाहारगुणांजनयन्तीत्युच्यते।

भूताग्नि द्वारा पञ्चपार्थिवादि गुणों से युक्त आहार का परिपाक होता है। इन पांच उष्माओं भौम, आप्य, आग्नेय, वायव्य तथा नाभस द्वारा होता है जिससे पाँच पार्थिवादि आहार द्रव्यों के गुण पृथक्-पृथक् अपने अपने

अनुकूल देह द्रव्य गुणों का पोषण करते हैं । जैसे आहार में स्थित पृथ्वी गुण शरीर के पृथ्वी गुण का पोषण करते है तथा शेष आप्य आदि आहार गुण देह के आप्य आदि गुण का पोषण करते है।

आहार में स्थित जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश → भूताग्नि → देह के पञ्चभौतिक गुणों में वृद्धि
(बाहर) (आन्तरिक महाभूत)

Food Oil, Sugar or Protein → Metabolism [Liver] → Changed in body fat, body sugar or body protein

धात्वाग्नि महत्त्व एवं कार्यक्षेत्र

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथा स्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्ट प्रसादतः।।

(च. चि. 15/15)

भूताग्नि व्यापार के पश्चात् धात्वाग्नि व्यापार प्रारम्भ होता है। भूताग्नि व्यापार के परिणाम स्वरुप प्राप्त रस को विभिन्न धातुओं में परिणत किया जाता है। धातुओं के निर्माण की परम्परा धातुस्नेह परम्परा कहलाती है जिसे विभिन्न आचार्यों ने अलग अलग मत से प्रतिपादित किया है।

1. क्षीरदधिन्याय - इसे क्रमपरिणामपक्ष या सर्वात्मपरिणामपक्ष कहा जाता है। चरक व दृढबल ने यह न्याय दिया था। इसके अनुसार जिस प्रकार सम्पूर्ण दूध दही में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार पूर्व धातु से उत्तर धातु रक्त का निर्माण होता है तथा इसी क्रम में शुक्र पर्यन्त धातु निर्माण क्रम चलता रहता है। प्रत्येक धातु के पाचन से प्रसाद व किट्ट का निर्माण होता है।

2. केदारीकुल्यान्याय - यह सुश्रुत व डल्हण ने दिया था। जिस प्रकार एक बगीचे को सींचने के लिये नालियाँ अर्थात कुल्या बनायी जाती है, जो केदारी निकट होती हैं उसमें कुल्या का जल पहले पहुँचता है। जैसे अन्नरस से रस धातु का निर्माण होता है तथा अन्न् रस ही रक्ताशय में पहुंच रक्त सधर्मी अंश से रक्त धातु का निर्माण करता है इसी प्रकार जिस जिस आशय में रस पहुँचता है, उस उस आशय वाले सधर्मी अंश वाले धातु का निर्माण करता है।

3. खले कपोतन्याय - जिस प्रकार खलियान मे दाना चुगने के पश्चात् कपोत वापस अपने घर को जाते है और कपोत का घर जितनी अधिक दूरी पर होगा उसको वहाँ पहुंचने में उतना ही अधिक समय लगेगा उसी प्रकार अन्न रस से धातुओं का पोषण व निर्माण होता रहता है परन्तु प्रत्येक धातु का पोषण तथा निर्माण का मार्ग अलग अलग होता हैं।

4. एक काल धातुपोषण न्याय - यह मत अरुणदत्त ने दिया था।

अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार अरुणदत्त ने एक काल धातु पोषण न्याय का उल्लेख किया था।

आहाररसोदककालं सप्तसु धातुस्त्रोतःसु प्रवेशिताद् धातव उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषणपक्षः।

(अ. ह. शा. 3/62 पर अरुणदत्त)

अरुणदत्त के अनुसार आद्य रस धातु एक काल (एक ही समय) में सप्तधातुओं के स्त्रोतसों में प्रवेश कर रस, रक्तादि धातुओं को उत्पन्न करते है। यह ही एक काल धातु पोषण न्याय होता है।

अग्नि दुष्टि के हेतु

द्रवोत्तरो द्रवश्चापि न मात्रागुरुरिष्यते। द्रवाढयमपि शुष्कं तु सम्यवेगोपपद्यते।।

विशुष्कमन्नमभ्यस्तं न पाकं साधु गच्छति । पिण्डीकृतमसंक्लिन्नं विदाहमुपगच्छति।।

स्त्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते ।।

शुष्कं विरुद्धं विष्टम्भि वह्निव्यापदमावहेत्। अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाद्वा संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च। कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य।। ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन। प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिणाममेति।। (सु. सू. 46/502-507)

आहारज निदान

1. अधिक द्रव का सेवन
2. केवल द्रव पदार्थ का अधिक सेवन
3. केवल विशुष्क अन्न
4. पिण्ड रुप में किया हुआ भोजन
5. द्रवादि से गीला नहीं किया हुआ भोजन
6. शुष्क भोजन
7. विरुद्ध भोजन
8. विष्टम्भी भोजन
9. अति जल पीने से
10. विषमाशन करने से (मात्रा से अधिक या अल्प अथवा निश्चित काल से पहले या बाद में किये गये आहार को विषमाशन कहते है)।
11. वेगधारण करने से
12. स्वप्न विपर्यय (सोने में अनियमितता से)

विहारज निदान

1. ईर्ष्या
2. भय
3. क्रोध
4. लोभ
5. दीनता
6. द्वेष युक्त

उपरोक्त निदानों के सेवन से अन्नवाहक स्त्रोतस में तथा पित्त के स्थान ग्रहणी में पित्त दुषित हो जाता है उस दशा में खाया हुआ विदाही अन्न तथा अविदाही अन्न दोनो विदग्ध हो जाते हैं जिससे योग्य समय में किया गया लघु भोजन भी ठीक तरह से नहीं पचता है।

अग्नि दुष्टि के भेद व लक्षण

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा - तीक्ष्णो, मन्दः, समो, विषमश्चेति।। (च. वि. 6/12)

स चतुर्विधो भवति - दोषानभिपन्न एकः। विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति - विषमो वातेन, तीक्ष्ण-पित्तेन, मन्दः- श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। (सु. सू. 35/28)

दोष भेद से पाचकाग्नि के चार भेद होते है।

1. **तीक्ष्णाग्नि** - पित्त दुष्टि
2. **मन्दाग्नि** - कफदुष्टि
3. **विषमाग्नि** - वात दुष्टि
4. **समाग्नि** - सम वात पित्त कफ

1. तीक्ष्णाग्नि-

पित्तलानां तु पित्ताभिभूते ह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः।

(च. वि. 6/12)

यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्द्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते। स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलतालोष्ठशोषदाहसंतापानजनयति। (सु. सू. 35/29)

तीक्ष्णोवह्निः पचेच्छीघ्रमसम्यगपि भोजनम्। (अ. ह. शा. 3/76)

पुरुष पित्त प्रकृति का हो तथा उसका अग्न्यधिष्ठान पित्त से अभिभूत हो तो पुरुष की अग्नि तीक्ष्ण होती है। तीक्ष्णाग्नि सर्वापचार सह होती है अर्थात् किसी भी प्रकार के अन्नपान को अधिक मात्रा में ग्रहण करने पर भी वह उसे शीघ्र पचा लेता है। तीक्ष्णाग्नि भी तैक्ष्ण्य भेद से तीन प्रकार की होती है। तीक्ष्ण, तीक्ष्णतर, तीक्ष्णतम। तीक्ष्णतर अग्नि भेद को आचार्य सुश्रुत ने अत्यग्नि संज्ञा दी है। इसकी विशेषता है कि अन्न बार बार व प्रभूत मात्रा में लिया जाये तो भी यह शीघ्रतर पचा देती है। इसे डल्हण ने अपनी टीका में भस्मक रोग कहा है। यह रोग पाचन के पश्चात् गल, तालु और ओष्ठ में शोथ, दाह व संताप उत्पन्न करता है। आचार्य चरक के अनुसार कफका क्षय एवं पित्त का प्रकोप होने से पित्त अनुगामी वायु अग्नि के स्थान पर जाकर अग्नि के समभावी होने के कारण उसे बल प्रदान करती है। ऐसे में व्यक्ति द्वारा खाया गया अधिक मात्रा में भोजन भी शीघ्र पच जाता है। खाना खाने के दो या तीन घण्टे बाद ही पुनः भोजन करने की इच्छा होने लगती है व भोजन न मिलने पर तीव्र बैचेनी होती, यदि व्यक्ति ऐसी स्थिति में भी भोजन कर लेता है तो कुछ देर के लिये रोगी को शान्ति मिल जाती है परन्तु थोड़ी देर बाद पुनः बैचेनी होने लग जाती है। और यदि वह भोजन नहीं करता है तो तीक्ष्णाग्नि रक्तादि धातुओं का पाक करना शुरु कर देती है जिससे दुर्बलता, अनेक प्रकार के रोग व मृत्यु तक हो सकती है।

2. मन्दाग्नि-

तद्विपरीत लक्षणस्तु मन्दः। (च. वि. 6/12)

यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति स मंदः। (सु. सू. 35/29)

मन्दस्तु सम्यगप्यन्नमुपयुक्तं चिरात्पचेत्। कृत्वाऽऽस्यशोषाटोपान्त्रकूजनाध्मानगौरवम्।।

(अ. ह. शा. 3/76)

कफप्रधान पुरुषों में अग्नि का स्थान कफ से आक्रान्त होने के कारण उनके द्वारा ग्रहण किया गया अल्प भोजन भी कठिनता से पचता है तथा अल्प भोजन करने पर भी उदर व शिर में भारीपन तथा कास, श्वास प्रसेक वमन और अंगों में थकावट आदि विकार उत्पन्न होते है। आचार्य वाग्भट ने बताया कि समुचित मात्रा में खाये गये आहार को भी ग्रहण करने पर मुख सूख जाता है। पेट में गुडगुड शब्द का होना, आन्त्रकूजन, आध्मान तथा भारीपन आदि लक्षणों के साथ-साथ भोजन देर से पचता है।

मनुष्य मन्दाग्नि से ग्रसित होने पर गुरु व स्निग्ध आदि गुण युक्त द्रव्यों का सेवन करता है तो यह द्रव्य धातुओं व अन्य अवयवों के पोषण में काम नहीं आ पाते है जबकि उनका बड़ा अंश अनुपयुक्त रह कर मल रुपी कफका निर्माण करता है। कफमात्रा से अधिक होने के कारण विभिन्न स्थानों पर संचित होकर विभिन्न लक्षणों को उत्पन्न करता है।

1. उदर की श्लेष्मकला में कफसंचित होकर उदर में गुरुता उत्पन्न करता है।
2. शिर में संचित होकर शिर में गुरुता उत्पन्न करता है।
3. प्राणवह स्त्रोतसों में जाकर कास, श्वास की उत्पत्ति करता है।
4. आमाश्य में जाकर कफज छर्दि उत्पन्न करता है।
5. सर्व शरीर में आम के संश्रय से गौरव व शिथिलता उत्पन्न होती है।

चिकित्सा - मन्दाग्नि होने पर कटु, तिक्त, कषाय द्रव्यों का प्रयोग और वमन कराना चाहिये।

3. विषमाग्नि -

वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमाभवन्त्यग्नय:। (च. वि. 6/12)

समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इति। (च. वि. 6/12)

य: कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा सविषम:। (सु. सू. 35/29)

विषमोऽसम्यगप्याश सम्यग्वाऽपि चिरात्पचेत्। (अ. ह. शा. 3/75)

वात प्रधान व्यक्ति का अग्नि स्थान वायु से अभिभूत रहता है जिससे उनकी अग्नि विषम हो जाती है विषमाग्नि के कारण व्यक्ति द्वारा किया गया भोजन कभी कभी सम्यक् रुप से पच जाता है, परन्तु कभी कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदर में भारीपन व आंतों में कूजन व प्रवाहण आदि विकार उत्पन्न हो जाते है।

वाग्भट्ट के अनुसार जो अग्नि अधिक मात्रा में खाये आहार को भी शीघ्र अथवा उचित मात्रा में खाये गये आहार को देर से पचाती है वह विषम अग्नि है।

डल्हण के अनुसार

विषमाग्नेर्वायुर्यदा न विक्षिपति तदाऽग्नि: सम्यक् पचति, यदा पुनरितश्चेतश्च भागशो विक्षिप्त: स्यातदा सम्यङ्न; न पचति।। (सु. सू. 35/24 डल्हण टीका)

जब तक अग्नि अपने स्थान पर है तब तक आहार का सम्यक् पाचन करती है। परन्तु जब वात अग्नि को अपने ही स्थान से बाहर निकाल देती है तब आहार का सम्यक् पाचन नहीं होता है जिससे आध्मान आदि लक्षण व्यक्त होने लग जाते है। वात प्रकृति के पुरुष में विषमाग्नि के कारण क्षुधा भी विषम होती है। परिणामस्वरुप कभी उसकी क्षुधा अधिक प्रदीप्त हो जाने के कारण कभी अधिक मात्रा में भोजन कर लेता है और कभी क्षुधा कम होने से अल्प मात्रा में भोजन ग्रहण करता है। अधिक भोजन करने पर उसकी धातुऐं अधिक पुष्ट होने लगती है व भोजन अल्प लेने पर धातुऐं क्षीण होने लगती है जिससे व्यक्ति कभी कभी पुष्ट दिखाई देता है व कभी कभी अत्यन्त दुर्बल दिखाई देता है।

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्। (च. चि. 15/50)

चिकित्सा - विषमाग्नि में स्निग्ध, अम्ल, लवण, रस प्रधान क्रियाओं से प्रतिकार करना चाहिये।

4. समाग्नि -

तत्र, यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स सम: समैर्दोषै:। (सु. सू. 35/29)

तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नय:। (च. वि 6/12)

य: पचेत्सम्यगेवान्नं भुक्तं सम्यक् समस्त्वसौ।। (अ. ह. शा. 3/75)

जिस पुरुष में वात पित्त कफयह दोष सम और प्रकृतिस्थ रहते है उनके कारण अग्नि भी सम रहती है जिससे उपयुक्त समय में खाये हुये अन्न को ठीक तरह से पचाती है। समाग्नि की अवस्था में व्यक्ति को उपरोक्त वर्णित कोई भी रोग नहीं होता है जिससे सभी दोष, धातु, उपधातु और मल समावस्था में रहते है। जिससे शरीर में आरोग्य, पुष्टि, बल और आयु की वृद्धि होती है। व्यक्ति अहित आहार विहार नहीं करें तो अग्नि सम अवस्था में ही रहती है परन्तु अहित आहार विहार करने से अग्नि की विभिन्न विकृतियां हो जाती है

चिकित्सा - समे परिक्षणं कुर्वीत (सु. सू. 35/31)

समाग्नि की सर्व प्रकार से रक्षा करनी चाहिये।

आम

निरुक्ति

आम्यते ईषत् पच्यते। आ.अम् .कर्म्मणि घ्ं।

पाकरहितं। काँचा इति भाषा।

शाब्दिक अर्थ - Raw, uncooked, unbaked, immature, unripe may be associated with food, or physiological entities, to incomplete transformation or metabolism causing harmfull effect on health.

तत्पर्य्यायः 1. अपक्वं 2. असिद्धं 3. असृतं। इति रत्नमाला। (शब्दकल्पद्रुम)

अम् धातु में आ उपसर्ग पूर्व रहने से आम शब्द बनता है जिसका अपचन अर्थात् पाचन नहीं होता है।

अम्यते पीडयते स्त्रोतस्समूहो अनेन इति आमः। (अमरकोष)

जो द्रव्य स्त्रोतसों के मार्ग में अवरोध पैदा करें उसे आम कहते है।

पर्याय- 1. अपक्व, 2. असिद्ध, 3. असृत

परिभाषा

उष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमाम् प्रचक्षते।। (अ. ह. सू. 13/25)

अग्नि का बल घट जाने से आद्य रस धातु का भलीभांति पाक नहीं हो पाता है जिससे आमाश्य मे वातादि दोषों से दूषित होने से यह रस आम कहलाता है।

आमाश्यस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्याद्विपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तित।।

(माधव निदान आमवात नि. मधुकोष टीका 1-5)

विरुद्ध आहार विहार अथवा स्निग्ध भोजन करने के तुरन्त पश्चात् व्यायाम करने से अथवा अन्य आम उत्पादक निदानों के सेवन से ग्रहण किया गये आहार का परिपाक सम्यक रुप से नहीं होता है परिणाम स्वरुप आमरस की उत्पत्ति होती है। यह आमरस प्रदूषित होकर रक्तवाहिनियों के द्वारा सर्वशरीर में परिभ्रमण करता है और विभिन्न धातुओं के सम्पर्क में आने पर धात्वाग्नियो में मन्दता उत्पन्न करता है जिससे आम की अधिक उत्पत्ति होती है। परिणामतया विभिन्न धातुओं और स्त्रोतसों में क्लेद तथा अवरोध हो जाता है। अन्ततः विविध विकारों की उत्पत्ति होती है।

विरुद्ध आहार विहार व स्निग्ध भोजन पश्चात् व्यायाम करने से

↓

आमरस उत्पन्न

↓

वात द्वारा

सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण

↓

आम-जिस धातु से संयुक्त

↓

सामधातु निर्माण

आममन्नरसं केचित् केचित्तु मल सञ्चयम्। प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते।।

(मा. नि. २५/१-५ मधुकोश)

आम की अनेक परिभाषाएँ दी गयी है। कई आचार्य आम को अपक्व मल कहते है कई आचार्य आम को पुरीषादि मलों तथा दोषों का संचय कहते है। तथा कई आचार्य प्रथम दोष दुष्टि को आम कहते है और अन्य आचार्य कहते है जैसे कोद्रवों में विष होता है वैसे अतिदुष्ट दोष परस्पर संयुक्त होते है तो उनके इस संयोग से आम की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में अनेक मत दिये गये है परन्तु प्रथम मत अर्थात अपक्व रुप ही प्रसिद्ध है।

स्वरुप

1. **अपच्यमानं तदन्नं शुक्तत्वमम्लत्वं याति।** (च. चि. 15/44 गंगाधर टीका)

शुक्तत्वमिति अम्लताम्। (च. चि. 15/44 चक्रपाणि टीका)

भोजन का पाक सम्यक् रुप से न होने पर वह कोष्ठ में अधिक समय तक पड़ा रहता है जिससे उसमें अम्लता उत्पन्न हो जाती है इसे ही आम कहते हैं।

2. **अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम् । सदनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधियते**

(माधव निदान आमवात नि. मधुकोष टीका 1-5)

मधुकोष टीकाकार ने आम का स्वरुप बताते हुये बताया कि आम अविपक्व रुप है जो कि दुर्गन्धित व अत्यधिक पिच्छिल होता है यह शरीर में स्थित होकर अंगों में शिथिलता उत्पन्न करता है।

3. **अपच्मानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरुपताम्।** (च. चि. 15/44)

जाठराग्नि के सम होने पर अन्न सम्यक् रुप से पच जाये तो अमृत रुप होता है और जाठराग्निमांद्य होने पर यही अपक्व रह जाये तो शुक्त भाव (सिरके के सदृश्य) होकर विष के समान सभी रोगों का कारण हो जाता है।

4. **द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं तन्तुमदनुबद्धशूलं दुर्गन्धि इत्यदि।**

(अ. ह. सू. 13/27 अरुणदत्त टीका)

आम अन्नरस द्रव, गुरु, अनेक वर्णो वाला, स्निग्ध, पिच्छिल, अपक्व, तन्तुमान, दुर्गन्ध युक्त, निरन्तर शूल युक्त इत्यादि स्वरुप का होता है

आमजन्य सामान्य लक्षण

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्। सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः।।

आमलिंगान्वितं दृष्ट्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्।। (च. चि. 15/73-74)

अर्द्ध परिपक्व आहार से कुपित वातादि दोष जब ग्रहणी में आश्रित होते है तो

1. **विष्टम्भ** - मलों को अवरोधित कर
2. **प्रसेक** - मुँह से पानी गिरना
3. **अर्ति** - उदर में वेदना होना
4. **दाह** - उदर में दाह
5. **अरुचि** - भोजन की अनिच्छा
6. **गौरव** - शरीर में गुरुता होना

इस आम को शरीर से निकालने के लिये उष्ण जल का प्रयोग कराकर वमन कराना चाहिये।

आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्नि लाघवात् । स मूलं सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते।

(माधव निदान आमवात नि. मधुकोष टीका 1-5)

जाठराग्नि के मंद होने से भोजन का सम्यक् रुप से पाचन नहीं होने से आम उत्पन्न होता है यह आम सभी रोगो की उत्पत्ति का मूल कारण है।

आम उत्पत्ति में कारण

न च खलु केवलमतिमात्रमेवाहार राशिमामप्रदोषकरमिच्छन्ति, अपितुखलु गुरुरुक्षशीतशुष्कद्विष्ट-विष्टम्भिविदाह्याशुचिविरुद्धानामकाले चान्नपानानामुपसेवनम्, कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेगभयोपतप्त मनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते, तदप्याममेव प्रदूषयति। (च. वि. 2/8)

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति। चिन्ताशोकभयक्रोधदुखशय्याप्रजागरैः। (च. वि. 2 /9)

आहारज निदान

1. अधिक मात्रा में किया भोजन
2. गुरु भोजन
3. रुक्ष भोजन
4. शीत भोजन
5. शुष्क भोजन
6. अप्रिय भोजन
7. विष्टम्भि अथवा विबन्धकारी भोजन
8. विदाही भोजन
9. अपवित्र भोजन
10. विरुद्ध भोजन

मानसिक निदान

1. काम
2. क्रोध
3. लोभ
4. मोह
5. ईर्ष्या
6. लज्जा
7. शोक
8. अभिमान
9. उद्वेग
10. भय

व अन्य निदान चिन्ता, शोक, भय, क्रोध, दु:ख शय्या का सेवन करने से, रात्रिजागरण करने से ग्रहण किया गया मात्रा युक्त भोजन भी ठीक तरह से नहीं पचता है।

आम का निर्माण विभिन्न स्थानों पर

1. जाठराग्नि की दुर्बलता के कारण उत्पन्न आम

2.धात्वाग्नि की दुर्बलता से उत्पन्न आम

3. भूताग्नि की दुर्बलता से उत्पन्न आम

जाठराग्नि की मन्दता के साथ-साथ धात्वाग्नि व भूताग्नि की मन्दता से भी आम का निर्माण होगा जो कि अलग अलग धातुओं , मलों में प्रवेश कर रोग उत्पन्न कर सकता है। इस प्रकार निर्मित आम दोष, दूष्य, मल के साथ संयुक्त होकर साम दोष, साम दूष्य व साम मल का निर्माण करते है।

साम, निराम दोष, दूष्य लक्षण

साम - आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिता:। सामा इत्युपदिष्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवा।।

(अ. हृ.13/27)

इस आम से संयुक्त हुये वातादि दोष तथा उनसे दूषित हुये रसादि दूष्यों को एवं उनसे उत्पन्न रोगो को साम कहा जाता है। वातादि दोष एवं रसादि दूष्य आम रहित हो तो उन्हे तथा उनसे उत्पन्न रोगो को निराम कहा जाता है।

साम का सामान्य लक्षण - स्त्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढ़ता:। आलस्यपक्तिनिष्ठीवमलसंगा-रुचिक्लमा:। लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्यय:। (अ. हृ. सू. 13/23)

दोष साम हो तो निम्न लक्षण शरीरवयवों में दिखाई देते हैं।

1. स्त्रोतो में अवरोध होना

2. शरीर बल का नाश होना

3. शरीर में भारीपन

4. वात दोष की प्रतिलोम गति होना (विबन्ध होने से अपान वायु की उर्ध्व गति)

5. आलस्य अर्थात शक्ति रहने पर भी काम करने की ईच्छा का न होना

6. भोजन का नही पकना

7. बार- बार थूक आना

8. पुरीष आदि मलों के निकलने में रुकावट

9. अरुचि

10. क्लम (इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण करने में विघ्न होना)

इस 3 साम दोष, 7 साम धातुऐ, 3 साम मल, 7 साम धातु मल

साम वात लक्षण

वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः। वेदना शोथ निस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत्।।
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्। स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि।।

(माधवनिदान-पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका।)

1. विबन्ध
2. अग्नि की मन्दता
3. तन्द्रा
4. आन्त्रकूजन
5. कटिपार्श्व आदि में पीड़ा
6. शोथ (आमयुक्त शोथ)
7. तोद
8. स्नेहनादि कर्म के द्वारा आम के लक्षणों में वृद्धि
9. सूर्योदय, वर्षाकाल और रात्रि के समय लक्षणों में वृद्धि।

निराम वात लक्षण

निरामो विशदो रुक्षो निर्विबन्धोऽल्प वेदनः। विपरित गुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः।

माधवनिदान- पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका

निराम वायु विशद व रुक्ष गुण युक्त होती है यह वायु मल मार्गों में अवरोध उत्पन्न नहीं करती तथा अल्प वेदना करने वाली होती है। इस वायु का शमन स्निग्धादि द्रव्यों द्वारा होता है।

साम पित्त लक्षण

दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु। अम्लिका कण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्।।

(माधवनिदान-पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका)

साम पित्त के निम्न लक्षण होते हैं।

1. दुर्गन्ध युक्त
2. हरित् व ईषत् कृष्ण वर्ण का
3. अम्ल रस युक्त
4. स्थिर गुण युक्त (गाढ़ा)
5. गुरु गुण युक्त
6. अम्लोद्गार उत्पन्न करने वाला।
7. कण्ठ हृदय आदि में दाह उत्पन्न करने वाला।

निराम पित्त लक्षण

आताम्रं पीतमत्युष्णं रसेकटुकमस्थिरं ।। पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम्।

(माधवनिदान- पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका)

निराम पित्त के निम्न लक्षण होते हैं।

1. ताम्र व पीत वर्ण का
2. अति उष्ण
3. तीक्ष्ण गुण युक्त
4. कटुरस युक्त
5. अस्थिर गुण वाला अर्थात सदैव चलायमान
6. अग्निवर्द्धक अर्थात अग्नि की वृद्धि करने वाला
7. बलवर्द्धक
8. रुचिवर्द्धक

साम कफ लक्षण

आविलस्तन्तुल स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते। सामो बलासों दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविधातकृत।।

(माधवनिदान- पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका)

साम कफ निम्न लक्षणों वाला होता है।

1. आविल अर्थात अस्वच्छ
2. तन्तुमान
3. सान्द्र
4. कण्ठदेश में रहने वाला
5. क्षुधा व उद्गार का विधात करने वाला
6. दुर्गन्धित

निराम कफ लक्षण

फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च। पक्वः स एव विज्ञेयछेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत् इति।

(माधवनिदान- पञ्चनिदानलक्षणं अध्याय मधुकोषटीका)

निराम कफ में निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. फेनयुक्त
2. पिण्डरुप
3. पाण्डुवर्ण
4. निस्सार
5. मुख विशुद्ध करने वाला क्योंकि मुखशुद्धि कफनिस्सरण के पश्चात् ही होती है अतः निराम कफ छेदन कर्म करता है।

साम व निराम रस आदि दूष्य

साम रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा व शुक्र आदि धातुओं के लक्षण संहिताओं में अलग से वर्णित नहीं है अपितु अनेक आचार्यों ने रस आदि प्रदोषज विकारों को साम रसादि धातुओं के लक्षण बताया है।

निरामाणां विपर्यय

निराम का अर्थ साम के विपरित लक्षण

साम रस लक्षण

अश्रद्धा अरुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता। हल्लासो गौरवं तन्द्रा सांगमर्दो ज्वरस्तमः।।

पाण्डुत्वं स्त्रोतसां रोधः क्लैव्यं सादः कृशाङ्गता। नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च।

(च. सू. 28/9)

तत्र अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहल्लासतृप्तिगौरवहृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्ग-सादाकालवलिपलितदर्शनप्रभृतयो रसदोषजा विकाराः। (सु. सू. 24/10)

अश्रद्धा, अरुचि, आस्यवैरस्य, अरसज्ञता, हल्लास, गौरवं, तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, तम, पाण्डु, स्त्रोतोवरोध, क्लैव्य, अंगसाद, कृशांगता, अयथाकाल में वलि और पालित्य होना आदि रस प्रदोषज विकार साम रस के कारण उत्पन्न होते हैं।

साम रक्त लक्षण

रक्त प्रदोषज विकार - कुष्ठ्वीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दरः। गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहागुल्मोऽथ विद्रधिः। नीलिका कामलाव्यंग पिप्लवस्तिलकालकाः।। दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्त्रमण्डलम्। रक्तप्रदोषाज्जायन्ते।।

(च. सू. 28/11-12)

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यङ्गेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणितार्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजा गुदमुखमेढ्रपाकाश्च। (सु. सू. 24/11)

कुष्ठ, विसर्प, पिडका, रक्तपित्त, असृग्दर, गुद पाक, मेढ्रपाक, मुखपाक, प्लीहावृद्धि, रक्तगुल्म, विद्रधि, न्यच्छ, व्यंग, नीलिका, तिलकालक, पिप्लु, इन्द्रलुप्त, कामला, पामा, चर्मदल, कोठ, श्वित्र, वातरक्त, रक्तमण्डल, मषक, दद्रु, अर्श, अर्बुद आदि रक्त प्रदोषज विकार साम रक्त के कारण उत्पन्न होते हैं।

साम मांस लक्षण

अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके। पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिव्हिका।।

(च. सू. 28/13-14)

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिव्होपजिव्होपकुशगलशुण्डिकाऽलजीमांससङ्घातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमाला-प्रभृतयो मांसदोषजाः। (सु. सू. 24/12)

अधिमांस, अर्बुद, कील, गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिव्हा आदि मांस प्रदोषज, विकार साम मांस के कारण उत्पन्न होते हैं।

साम मेद लक्षण

निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरुपाणि यानि च। (च. सू. 28/15)

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः।

(सु. सू. 24/13)

अष्ट निन्दित व्याधि होना (विशेष रूप से स्थौल्य, कार्श्य) प्रमेह के पूर्वरुप लक्षण दिखाई देना, ग्रन्थि, वृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठ रोग, मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद प्रवृत्ति आदि मेद प्रदोषज विकार साम मेद के कारण भी उत्पन्न होते हैं।

साम अस्थि लक्षण

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता। केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः।।

(च. सू. 28/16)

अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः। (सु. सू. 24/14)

अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, अस्थिभेद, अस्थिशूल, विवर्णता, केश, लोम, नख, श्मश्रु आदि में दोष उत्पन्न होना।

साम मज्जा लक्षण

रुक पर्वणां भ्रम मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा। अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्। (च. सू. 28/17)

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिस्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः। (सु. सू. 24/15)

पर्वो में पीड़ा होना, भ्रम, मूर्च्छा, आंखो के आगे अंधेरा आना, सधिंयो पर स्थूल मूल वाली फुन्सियां होना आदि मज्जा प्रदोषज विकार साम मज्जा के कारण उत्पन्न होते हैं।

साम शुक्र लक्षण

शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणं। रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरुपं वा प्रजायते।। न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्त्रवत्यपि। शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्। (च. सू. 28/18-19)

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः। (सु. सू. 24/16)

क्लैव्य, अहर्षण, शुक्राश्मरी आदि शुक्र प्रदोषज विकार साम शुक्र के कारण उत्पन्न होते हैं।

निराम रस आदि दूष्यों के लक्षण साम लक्षणों के विपरीत जानने चाहिये।

साम पुरीष लक्षण

मज्जत्यामागुरुत्वाद्विट पक्वातूत्प्लवते जले। विनातिद्रव सङ्घात शैत्य श्लेष्म प्रदूषणात्।

(च. चि. 15/95)

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति। पुरीषं भृशं दुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम्।। (सु. उ. 40/17)

1. वात आदि दोषों से संसृष्ट मल प्रवृत्त
2. जल में डूबने वाला मल प्रवृत्त
3. अत्यन्त दुर्गन्धित मल प्रवृत्त
4. अवरोधित मल प्रवृत्त
5. मल प्रवृत्ति अल्प मात्रा में व बार बार प्रवृत्ति आदि साम मल के लक्षण है।

निराम पुरीष लक्षण

एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु। लाघवञ्च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्।।

(सु. उ. 40/18)

1. दुर्गन्ध रहित मल प्रवृत्त होना।
2. बंधा हुआ मल प्रवृत्त होना।
3. आसानी से मल प्रवृत्त होना
4. मल प्रवृत्ति के बाद शरीर में लघुता उत्पन्न होना
5. जल में तैरने वाला मल प्रवृत्त होना।

साम मूत्र लक्षण

सामावस्था के अन्तर्गत मूत्र सम्बन्धि सभी विकारों को लिया गया है।

1. उदक मेह
2. इक्षुमेह
3. इक्षुबालिका मेह
4. सान्द्र मेह
5. सान्द्र प्रसाद
6. सिकता मेह
7. शनैर्मेह इत्यादि अन्य

निराम मूत्र लक्षण

1. सामान्य मात्रा में व सामान्य वर्ण वाले मूत्र की प्रवृत्ति होना।
2. मूत्र प्रवृत्ति के समय पीड़ा नहीं होना।

आम व निरामावस्था के ज्ञान का महत्त्व

1. सामे पाचनं निरामें शमनं (मधुकोष टीकाकार के अनुसार)

दोषों की साम अवस्था में पाचन कर्म कराना चाहिये व निरामावस्था में शमन करना चाहिये।

2. सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए साम दोषों को निकालने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। क्योकि वह दोष रसादि धातुओं में विलीन रहते है और बाहर निकलने के लिये उन्मुख नहीं होते है। ऐसी स्थिति में शोधन कर्म नहीं कराना

चाहिये। यदि उन दोषो को बलात् निकालने का प्रयास किया जायेगा तो शरीर अवयवों का विनाश हो जायेगा जैसे कच्चे फल में से बलात् रस निकालने पर रस नहीं निकलता है।

3. साम दोष यदि सर्व शरीरगत हो तो शोधन कर्म नहीं कराया जाता है जबकि साम दोष एकांग गत हो तो शोधन कराना चाहिये। जैसे अतिसार में आम दोष पक्वाशयस्थ् होते है अत: सर्वप्रथम हरीतकी का प्रयोग कराकर मल निकालने का निर्देश दिया गया है।

4. अजीर्ण में तीव्र रुजा होने पर शूलघ्न औषध नहीं देना चाहिये। क्योकि अजीर्णवस्था में प्रयुक्त औषध जीर्ण होने की बजाय आम की और अधिक वृद्धि कर देता है।

दोष पाक व धातुपाक

सभी रोगों की उत्पत्ति में आम की विशेष महत्ता है या हम यह भी कह सकते है कि अग्नि की दुष्टि से आम उत्पन्न होता है तत्पश्चात् आमजन्य व्याधि उत्पन्न होती है। अग्नि के चार भेदो का अध्ययन भी हम कर चुके है।

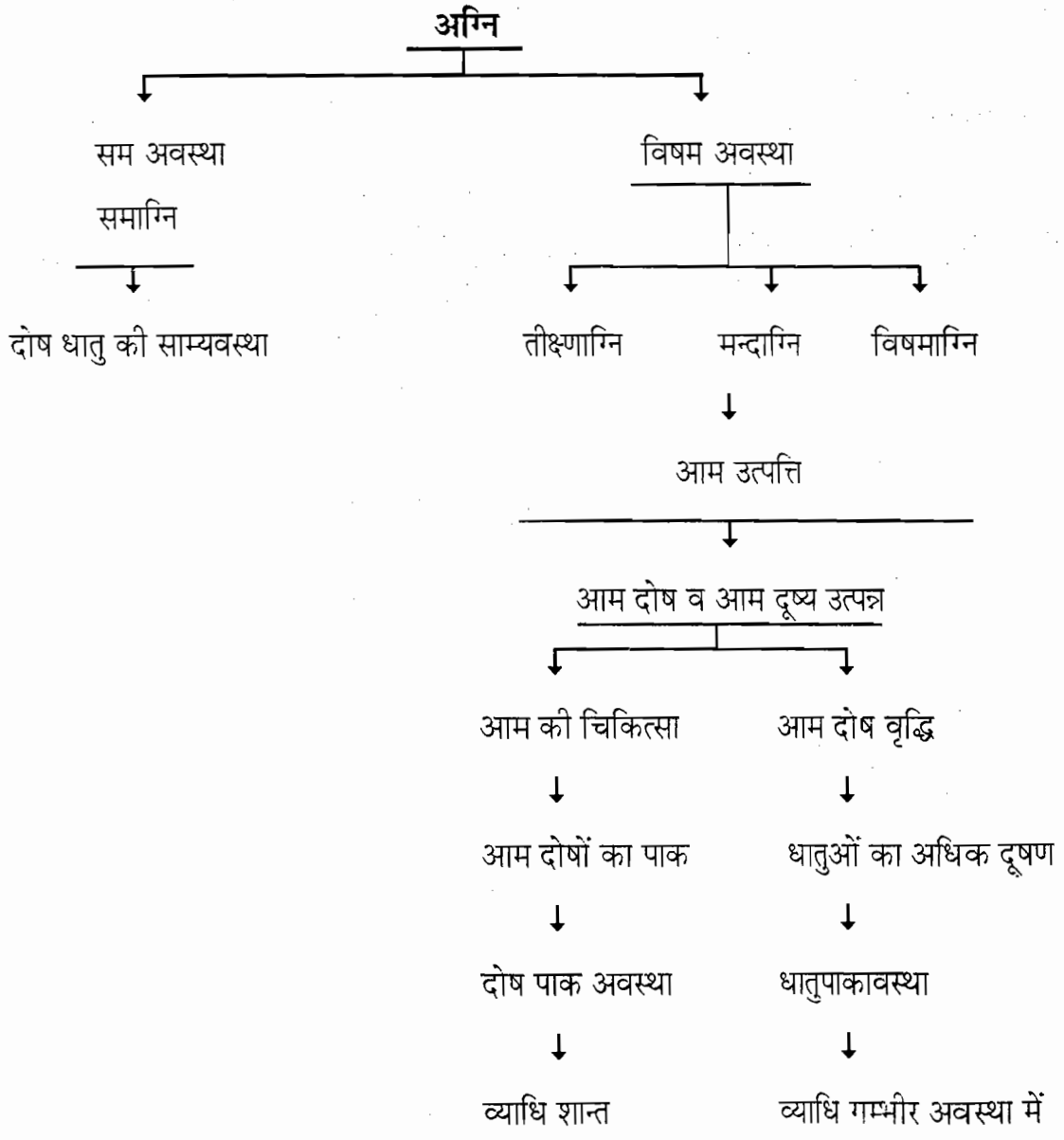

धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थित विकल्पः, धातुमलपाक विकल्पे च दैवं हेतुः, उत्तरोत्तररोगवृद्धि बलहानिभ्यां शुक्रादिधातुसहितमूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेय, अन्यथा तु मलपाकः।

(माधव निदान ज्वरनिदान मधुकोष टीका 66-73)

माधवनिदान के मधुकोष टीकाकार के अनुसार रोग की कालमर्यादा होती है यदि निश्चित काल में रोग ठीक नहीं हुआ तो वह अपनी प्रवृद्धावस्था में चला जाता है तथा रोग असाध्य रुप में बदल जाते जिससे शरीर की सामान्य धातुऐं भी नष्ट होने लगती है। जैसे Malignant cancer की अवस्था में Metastasis होने पर कैंसर कोशिकायें अपने स्थान से हट कर अन्य स्थानों पर गमन करती है व वहाँ के सामान्य धातुओं में स्थित होकर उन्हें नष्ट करने लगती है इसे ही धातुपाक अवस्था कहते है

इसी कैंसर की समय रहते चिकित्सा करनी चाहिये। किसी स्थान विशेष में जाने वाली कैंसर कोशिकाओं को जला कर नष्ट कर दिया जाता है। [Through Radiotherapy], अर्थात व्याधि उत्पन्न करने वाले दोषों का पाक करने से दोष निराम अवस्था को प्राप्त हो जाते है व रोग का विकास रुक जाता है।

आचार्य चक्रपाणि ने भी धातुपाक व मलपाक के लिये बताया यद्यपि उन्होने विस्तृत वर्णन नहीं किया।

धातु पाक - धातुओं का नाश होना अर्थात शरीर की सामान्य धातुऐं नाश को प्राप्त हो रही है।

दोष अथवा मल पाक - मल का पाक होकर अर्थात शरीर मल पक कर बाहर निकल जाये व व्याधि शान्त हो जाये।

कोई व्याधि धातुपाक को प्राप्त होगी अथवा मल पाक को प्राप्त होगी यह तो दैव कर्म पर निर्भर है। यदि व्याधि जैसे कैंसर का समय रहते ही ज्ञान हो जाये तो व्याधि की तुरन्त चिकित्सा कर ली जायेगी और यदि व्याधि का ज्ञान ही प्रवृद्धावस्था में होगा तो किसी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हो सकता है। रोगी की सभी धातुयें पाक को प्राप्त होकर रोगी को शीघ्र ही नष्ट कर देंगी।

धातुपाक

निद्रानाशो हृदिस्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुचि। अरतिर्बलहानि धातूनां पाकलक्षणम्।

(माधवनिदान-ज्वरनिदान मधुकोष टीका ६६-७२)

मधुकोष टीकाकार ने धातुपाक की निम्न लक्षण बताये-

1. **निद्रानाश** - धातुयें पाकावस्था को प्राप्त होगी तो वात प्रकोप के कारण निद्रानाश स्वभाविक है।
2. **हृद् स्तम्भ** - हृदय में जकड़ाहट होना।
3. **विष्टम्भ** - शरीर में मल रुपी तत्वों का संचय होना।
4. **गौरव** - शरीर में मल के बाहर निष्कासित नहीं होने व शरीर में संचित होने से गुरुता उत्पन्न होती है।
5. **अरुचि** -भोजन के प्रतिद्वेष उत्पन्न होता है। क्योंकि अग्नि दुष्टि के कारण ही धातुपाकावस्था उत्पन्न होती है।
6. **बलहानि** - धातुयें नष्ट होने से शरीर में बल की हानि होती है।

मलपाक या दोष पाक

दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम् -इति।

(माधवनिदान-ज्वरनिदान मधुकोष टीका-66-73)

1. दोषप्रकृत्यावैकृत्य - जिस दोष से रोग उत्पन्न हुआ है उसकी रोग उत्पन्न करने वाली प्रकृति के विपरीत प्रकृति उत्पन्न होना। अर्थात दोषो के लक्षणों में कमी उत्पन्न होना।

2. लघुता ज्वर -ज्वर अथवा किसी भी रोग में मल पाक होने से लक्षणों में कमी होने से रोग शान्त हो जाता है।

3. देह लघुता - मल पाक होने से वह शरीर से बाहर निकल जाते है जिससे शरीर में हल्कापन आ जाता है।

4. इन्द्रियों में विमलता - मल पाक होने से प्रत्येक इन्द्रियां मलविहीन हो जाती है। अपने विषयों के प्रति अधिक क्रियाशील हो जाती है।

ननु तरतमभावात् स्थिरशीघ्रमध्यशक्तित्वदोषाणां कथं सप्ताहादि नियम चेत्। न, तथास्वभावाद्व्याधेः, विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः; यथा अग्निरोहिणी सप्ताहेन हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति।

(माधवनिदान-ज्वरनिदान मधुकोष टीका)

सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च। (अ. हृ. नि. 2)

दोषों के तरतम भेद से स्थिर, शीघ्र, व मध्य शक्ति होती है। 1. यदि किसी रोग में दोषों की प्रकृति **स्थिर** है तो व्याधि लम्बे समय तक एक ही स्थिति में बनी रहेगी जैसे कफप्रधान प्रमेह रोग जिसमें रोगी रोग के साथ ही जीवन व्यतीत कर देता है शनैः शनैः व्याधि प्रवृद्ध अवस्था को प्राप्त होती है। 2. शंखक रोग की कालमर्यादा तीन दिन की होती है दोष अत्यधिक शीघ्र गति से सम्पूर्ण धातुओं में फैलकर धातुओं का पाक कर रोगी की मृत्यु कर देते है अतः सभी रोग स्वभाव से विचित्र होने के कारण उनकी काल मर्यादा भी भिन्न होती है अतः सभी रोगों के लिये एक ही समय सीमा निर्धारित करना सहीं नहीं है।

जैसे - अग्निरोहिणी नामक व्याधि एक सप्ताह में ही रोगी को या तो मार देती है या रोग पूर्ण रुपेण ठीक हो जाता है।

आवरण

धातुक्षयात्कोपो मार्गस्थावरणेन।

तीनो दोषो में वायु प्रभावशाली दोष है, वात जबभी प्रकुपित होगी तब दो प्रकार से रोग उत्पन्न करेगी-

1. धातुक्षय द्वारा - वात प्रकुपित होकर जिस स्रोतस में प्रवेश करेती है वहाँ तत् संबन्धित धातु का क्षय जन्य विकार उत्पन्न करती है।

2. आवरण द्वारा - वात प्रकुपित होकर जिस भी मार्ग में जायेगी वहा स्थित पित्त, कफ व अन्य धातुओं को सूक्ष्म होने के कारण उभाड देगी यह उभड़े हुये दोष वायु को ढक कर आवरण जन्य व्याधियों को उत्पन्न करते है।

आवरण का ज्ञान- दोषो की वृद्धि क्षय के अतिरिक्त आवरण भी रोगोत्पादन की एक प्रक्रिया होती है। आवरण के बारे में आचार्य चरक, सुश्रुत व वाग्भट्ट सभी ने विस्तृत विवेचन किया है परन्तु आधुनिक काल में वैद्य समूह को इस विषय का सम्यक् ज्ञान नहीं है अतः आवरण का व्यवहारिक पक्ष जानना परम आवश्यक है जिससे आवरण जन्य रोगो का सम्यक् रुप से निदान किया जा सके। आवरण के लिये चरक ने बताया है कि इसे तर्क द्वारा निश्चित करना चाहिये।

तानि सम्यक् प्रतर्कयेत्। (च. चि. 28/200)

निरुक्ति

आवरण - आच्छादने साधनमात्रे। अथवा वेष्टने भाव।

आवरण अर्थात अवरोध अथवा गतिनिरोध (आयुर्वेदीय शब्दकोष प्रथम) Covering, concealing, obstructing and closing.

आवरण के दो अंग होते है।

1. आवरक - आच्छादकम् (वैद्यक शब्दसिन्धु) अर्थात ढकने वाला।

2. आवृत - जिसे आच्छादित या ढका जाये।

आवरण के पर्याय

वेष्टित ख्यात वलयित संवित रुद्ध आवृत्तम्। (अमरकोष 3/1/10)

अन्वित्, बद्धमार्ग, प्रतिघात, सम्युक्ते, उद्धुय्य, उपस्तम्भित, आच्छादन, अवरुद्धगति, संग, प्रच्छादन, वलयन, वेष्टन, रुद्ध।

परिभाषा

वायु अमूर्तरुप में स्व कार्य करती रहती है यदि इस वायु को वात, पित्त, कफ, धातुयें, मल आदि इनमें कोई एक ढक देता है जिससे ढकी हुयी वायु का मार्ग अवरोधित होने के कारण वायु के कार्य में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। जिस वात को ढका जाता है उसे **आवृत्त** कहा जाता है व जिस दोषादि के द्वारा आच्छादन किया जाता है उसे **आवरक** कहा जाता है। आवृत वायु का मार्ग अवरोधित हो जाने से उसके कार्य में हानि होती है व जिस दोष ने आवरण बनाया है उसके कर्मो में वृद्धि दिखाई देती है।

आवरक व आवृत में अन्तर

आवृत	आवरण
1. जिसे ढका जा सके	1. जो अवरोध उत्पन्न करें अथवा जो ढके
2. सदैव वात अथवा अन्योन्यावरण के अन्तर्गत वात के अन्य भेद (प्राण आदि वात) में से किसी एक को ढका जा सकता है।	2. दोष, धातु, मल, अन्न अथवा अन्योन्यावरण में वात का कोई भेद अवरोध उत्पन्न कर सकता है
3. आवृत वात दोष के लक्षण क्षीण या दिखाई नहीं देते है क्योकि आवृत दोष दुर्बल होने से कार्य नहीं कर पाते है।	3. आवरक दोष और दूष्य के लक्षण प्रधान रुप से दिखाई देते है।
4. **मुख्य लक्षण** - सम्बन्धित आवृत दोष की कर्म हानि होती है।	4. **मुख्य लक्षण** - आवरक दोष व दूष्य के कर्मो की वृद्धि होना।
5. आवरक की चिकित्सा करने से आवृत स्वत: सम स्थिति में आ जाता है। अथवा आवृत दोष की क्षीण अवस्था की चिकित्सा करके उसे सम अवस्था में लाना चाहिए।	5. चिकित्सा आवरक दोष या दूष्य की करनी चाहिये।

भेद -

सभी आचार्यो ने आवरण की संख्या के अलग अलग मत दिये।

1. आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार आवरण के असंख्य भेद है। दोष व धातुओं द्वारा वायु के 22 आवरण वर्णित किये गये तथा वायु के 20 अन्योन्यावरण का वर्णन भी किया है इस प्रकार कुल 42 प्रकार के आवरण बताये गये है।

तारतम्यविकल्पाच्च यात्यावृत्तिरसंख्यताम्। (अ. हृ.16/55)

इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः। (अ. हृ.16/49)

प्राणादयस्तथाऽन्योऽन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम्। सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तत्।

(अ. हृ. 16/50)

आवरण के कुल 42 भेद बताये गये।

1. वात के अन्योन्यावरण 20अर्थात वात के भेद परस्पर एक दूसरे पर आवरण बनाते है।

2. दोषावृत वात 12 पित्त व कफका वायु पर आवरण, पित्त व कफका वात के अलग अलग भेदों पर आवरण।

3. धात्वावृत -7- अलग अलग धातुओं का वात पर आवरण, सभी धातुओं का मिलित रुप से वात पर आवरण परन्तु इनमें रस के आवरण का वर्णन नहीं किया गया है।

4. अन्न व मलावृत वात -3- मूत्र, पुरीष व अन्न भी आवरण उत्पन्न करते हैं।

1. प्राणावृत उदान वायु
2. प्राणावृत समान वायु
3. प्राणावृत व्यान वायु
4. प्राणावृत अपान वायु
5. उदानावृत प्राण वायु
6. व्यानावृत प्राण वायु
7. समानावृत प्राण वायु
8. अपानावृत प्राण वायु
9. समानावृत उदान वायु
10. व्यानावृत उदान वायु
11. अपानावृत उदान वायु
12. उदानावृत समान वायु
13. व्यानावृत समान वायु
14. अपानावृत समान वायु
15. उदानावृत व्यान वायु

23. पित्तावृत प्राण वात
24. कफावृत्त प्राणवात
25. पित्तावृत उदानवात
26. कफावृत्त उदान वात
27. पित्तावृत समान वात
28. कफावृत्त समान वात
29. पित्तावृत व्यान वात
30. कफावृत्त व्यान वात
31. पित्तावृत अपान वात
32. कफावृत्त अपान वात
33. रक्तावृत वात
34. मांसावृत वात
35. मेदावृत वात
36. अस्थ्यावृत वात
37. मज्जावृत वात

16. समानावृत व्यान वायु
17. अपानावृत्त व्यान वात
18. उदानावृत अपान वात
19. समानावृत अपान वात
20. व्यानावृत अपान वात
21. पित्तावृत वात
22. कफावृत्त वात
38. शुक्रावृत वात
39. सर्वधात्वावृत वात
40. अन्नावृत वात
41. मूत्रावृत वात
42. वर्चसावृतवात

2. आचार्य चरक के अनुसार 20 प्रकार के अन्योन्यावरण का वर्णन तथा धातु व दोषो द्वारा वायु पर आवरण के 13 भेद बताये गये है।

3. आचार्य सुश्रुत ने 13 प्रकार के आवरणों का वर्णन किया। अन्योन्यावरण का वर्णन नहीं किया।

आवरण के विभिन्न भेदों का वर्णन किया जा रहा है।

1. पित्तावृत्त वात लक्षण

लिङ्गं पित्तावृत्ते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः। कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता।

(च. चि. 28/61)

दाह सन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौपित्तसमन्विते। (सु. नि. 1/32)

जब वायु पित्त से आवृत होती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. सम्पूर्ण शरीर में दाह (Burning sensation)
2. प्यास की अधिकता (Thirst)
3. उदर में शूल (Abdominal Pain)
4. चक्कर का आना (Vertigo)
5. आँखों के आगे अंधेरा आना (Darkness in front of eyes)
6. कटु, अम्ल, लवण द्रव्यों के सेवन से विदाह होना (Burning sensation after having pungent, sour, saline).
7. शीत गुण प्रधान द्रव्यों के सेवन की ईच्छा होना। (Craving of cold thing)
8. सन्ताप (Pyrexia)
9. मूर्च्छा (Faint)

उपरोक्त लक्षणों Heat stroke या Hyperthermic syncope के समान है।

2. कफावृत्त वात लक्षण

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकं । लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते। (च.चि. 28/62)

शैत्य शोफ गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृत्ते। (सु. नि. 1/32)

जब वायु कफसे आवृत होती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. शीत का लगना (Feeling of cold)

2. गुरुता उत्पन्न होना (Feeling of heaviness)

3. वेदना (Colic pain)

4. कटु, अम्ल, लवण रस और उष्ण द्रव्यों का उपशय अर्थात रोग की शान्ति (Relief after taking pungent drug)

5. शीत (Coldness)

6. गुरु (Heaviness)

7. शोफ (edema)

8. लंघन व उष्ण द्रव्यों की ईच्छा (Desire for fasting and exercise)

उपरोक्त लक्षण Hypothermia के समान ही है।

रक्तावृत्त वात लक्षण

रक्तावृत्ते सदाहर्तिस्त्वङ्मासान्तरजो भृशम्। भवेत् सराग: श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च।

(च. चि. 28/63)

जब वायु रक्त से आवृत हो जाती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. त्वचा और मांसपेशियों के मध्य में दाह (Burning sensation between skin and muscle tissue)

2. अधिक वेदना (Excessive pain between muscle and skin)

3. लालिमा युक्त शोथ (Inflammation)

4. मण्डल (Circular rashes)

यह सभी लक्षण Urticaria, infectiors skin disease) के समान ही दिखाई देते है।

मांसावृत्त वात लक्षण

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडका: श्वयथुस्तथा। हर्ष: पिपलिकानां च संचार इव मांसगे। (च. वि. 28/64)

वायु मांस से आवृत हो जाये तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. कठिन तथा विवर्ण पिडका (Hard and discoloured nodules)

2. शोथ होना (edema)

3. हर्ष अथवा रोमांच (Horripilation)

4. शरीर पर चीटियां चलने के समान वेदना (Formiculation)

यह सभी लक्षण (Acne vulgaris, Discolouration, Microangiopathy or late complication of diabetic neuropathy) के समान ही है।

मेदावृत वात लक्षण

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।। आढयवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः।

(च. चि. 28/65)

वायु मेद से आवृत होने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चल, स्निग्ध, कोमल, शीत, शोफ (Appearance of mobile, unctuous, soft and cold oedema)

अरुचि (Anorexia)

इसे आढयवात भी कहते है।

उपरोक्त सभी लक्षण (Lipoma bullae) के समान है।

अस्थ्यावृत वात लक्षण

स्पर्शमस्थ्नाऽऽवृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति। संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते। (च. चि. 28/66)

जब अस्थि से वायु आवृत होती है ।

1. उष्ण स्पर्श और अंगो को हाथो से दबाना अधिक सुखकारी लगता है (Hot touch and pressure and favourable).

2. अंगो में टूटने के समान वेदना (Breaking pain)

3. शरीर अवसादित (Depression)

4. सुई चुभने के समान पीड़ा (Pricking pain)

उपरोक्त सभी लक्षण अस्थियों से उत्पन्न Osteophytes द्वारा Nerve compression के कारण उत्पन्न लक्षणों के समान है।

मज्जावृत्त वात लक्षण

मज्जावृत्ते विनामः स्याजृम्भणं परिवेष्टनम्। शूलं तु पीडयमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्।

(च. चि. 28/67)

वायु मज्जा से आवृत्त होने पर निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

शरीर का आगे की तरफझुक जाना, (Bending of the body)

जृंम्भा (Yawning)

ऐंठन (Twisting pain)

शूल (Colic pain)

हाथों से दबाने पर रोगी को सुख की प्राप्ति (Feel relief if pressed with hand)

उपरोक्त लक्षण Lumbago से भी समानता रखते है।

शुक्रावृत्त वात लक्षण

शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे। (च. चि. 28/68)

जब शुक्र से वायु आवृत होती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

शुक्र कम वेग से प्रवृत्त होना अथवा अधिक वेग से प्रवृत्त होना (Non-ejaculation or excessive ejaculation of semen)

जिस शुक्र की प्रवृत्ति होती है वह निष्फल देने वाला होता है। अर्थात शुक्र गर्भधारण कराने में असमर्थ होता है। (Sterlity)

अन्नावृत वात लक्षण

भुक्ते कुक्षौ च रुग्जीर्णे शाम्यत्यन्नावृत्तेऽनिले। (च. चि. 28/69)

जब वायु अन्न से आवृत्त हो जाती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. भोजन ग्रहण पश्चात् उदर में शूल (Abdominal pain after intake of food)
2. भोजन पच जाता है तो शूल की शान्ति होती है। (Alleviation of pain after the digestion of food).

उपरोक्त लक्षण Gastro oesophageal reflex, heart burn से समानता रखते है।

मूत्रावृत वात लक्षण

मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिलः। (च. चि. 28/69)

जब वायु मूत्र से आवृत हो जाती है तो निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

मूत्र की प्रवृति न होना (Retention of urine)

मूत्राश्य में आध्मान (Distension of bladder)

उपरोक्त लक्षणों के आधार पर मूत्रावृतवात को cystitis के समकक्ष माना जा सकता है।

विडावृत वात के लक्षण

वर्चसोऽतिविबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति। व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानाह्यते नरः।।

चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत सृजेत्। श्रोणिवंक्षणपृष्ठेषु रुग्विलोमश्च मारुतः।। अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले। (च. चि. 28/71)

मल से आवृत वायु को विडावृत वात कहा जाता है।

1. अत्यन्त विबन्ध (Absolute constipation)
2. पक्वाशय में कर्तनवत् पीड़ा (Intense sharp pain in the colon)
3. भोजन करने के बाद किये गये भोजन का पाचन शीघ्र हो जाता है तथा देर से मल का त्याग होता है। (Instantaneous digestion of ingested food but defecation is delayed)
4. श्रोणि, वंक्षण व पृष्ठ में वेदना (Pain in hips, groin and back)
5. सर्वदा वायु विलोम होती है और कभी भी अनुलोम नहीं होती है (Upward movement of vata)
6. रोगी का हृदय अस्वस्थ (Chest incomfort) रहता है।

अन्योन्यावरण

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे श्रृणु। (च. चि. 28/199)

विंशतिर्वरणान्येतान्युल्बणानां परस्परम्। (च. चि. 28/201)

आचार्य चरक ने वायु के अन्योन्य आवरण का वर्णन किया है। प्राण वायु, उदान आदि वायु को आवृत्त करता है तथा वह उदान आदि वायु प्राण वायु को आवृत करते है इस प्रकार क्रम से सभी वायु एक एक को आवृत करते है। बड़े हुये पांचो वायु के परस्पर आवरण बीस प्रकार के होते है। इस आवरण का चक्रपाणि ने वर्णन करते हुये बताया की यह अमूर्त आवरण है इस प्रकार का आवरण वेग धारण करने के कारण ही उत्पन्न होता है। जिस वायु का दाब अधिक होता है वह कम दाब वाली वायु पर आवरण बनाकर कुण्डलिका या Cyclone रुप धारण कर लेती है

तेन वायोः वाय्वन्तरेण गतिहननरुपमावरणमुपपन्नेवः, दृष्ट्वा च वायुना वाय्वन्तरेणोपहतेन वातकुण्डलिता बहिरपि, तेनोपपन्नमावरणं वातानां परस्परम्। (च. चि. 28/199 -201 चक्रपाणि टीका)

1. प्राण वायु से आवृत व्यान वात लक्षण

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्। (च. चि. 28/202)

प्राणवायु जब व्यान वायु को आवरित कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देती है।

इन्द्रिय शून्यत्वं (Loss of sensation)

स्मृति नाश (Loss of memory)

बल नाश (Loss of strength)

प्राणवृत व्यानवायु के लक्षण Alzheimer's disease जो कि Degenerative cognitive disorder के समान होते है।

2. व्यान वायु से आवृत प्राण वात लक्षण

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता। (च. चि. 28/203)

व्यान वायु जब प्राण वायु को आवरित कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते है।

स्वेद अतिप्रवृत्ति (Excessive sweating)

त्वक् रोग (Skin disease)

लोमहर्ष (Horriplication)

सुप्तता (Reticent)

व्यानावृत प्राणवायु के लक्षण Hidradenitis suppurativa के समान है। It's also known as ace inversa which is chronic skin disease characterized by nodules under the skin, these nodule trend to break open and discharge pus, patient get socially isolated and depressed.

3. प्राण वायु से आवृत समान वात लक्षण

प्राणवायु जब समान वायु को आवरित कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

प्राणवृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः। (च. चि. 28/204)

मूकता अथवा बोलने में तकलीफ (Speech disturbance)

प्राणावृत समान वायु के लक्षण Broca area की विकृति के समान प्रतीत होते हैं।

4. समान वायु से आवृत अपान वात लक्षण

समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः। शूलं चामाशये ....।। (च. चि. 28/205)

समान वायु जब अपान वायु को आवरित कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. ग्रहणी (Sprue)
2. पार्श्वगद (Pain associated with lung disease)
3. हृदगद (Cardiac pain)
4. आमाश्य शूल (Stomach ache)

समान वायु आवृत अपान वायु के लक्षण Irritable bowel syndrome के समान प्रतीत होती है।

5. प्राण वायु से आवृत उदान वायु

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः। हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते। (च.चि. 28/206)

प्राण वायु जब उदान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

शिरोग्रह (Headache)
प्रतिश्याय (Rhinitis)
उच्छ्वास निश्वास अवरोध (Obstruction in inspiration and expiration)
हृद रोग (Heart disease)
मुख शोष (Dry mouth)

उपरोक्त लक्षण Coryza, respiratory tract disease, allergic rhinitis से समानता रखते है।

6. उदान वायु से आवृत अपान वात लक्षण

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा। (च. चि. 28/208)

उदान वायु जब अपान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

कर्म नाश (Loss of function)
ओज नाश (Loss of immunity)
बल नाश (Loss of power)
वर्ण नाश (Loss of complexion)
मृत्यु (Death)

तंत्रिका तंत्र (Nervous system) पर नियन्त्रण नहीं रहने पर उदान वायु से आवृत अपान वायु के लक्षण दिखाई देते है।

According to these symptoms the characters similar with any disease which converted in complicatory phase. This symptoms shows loss of control over nervous system.

7. उदान वायु से आवृत प्राणवात लक्षण

ऊर्ध्वनेनावृतेऽपाने छर्दिश्वासादयो गदाः। (च. चि. 28/209)

उदान वायु जब प्राण वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते है।

छर्दि (Vomiting)
श्वास (Breathlessness)

उपरोक्त लक्षण Congestive obstructive pulmonary disease के समान प्रतीत होते है।

8. अपान वायु से आवृत उदान वात लक्षण

मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते। (च. चि. 28/210)

अपान वायु जब उदान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

मोह (Confusion)

अल्पाग्नि (Week digestion)

अतिसार (Dysentery)

अपानवृत उदान वायु के लक्षण Severe dysentery के समान है।

9. व्यान वायु से आवृत अपान वात लक्षण

वम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्ति परिकर्तिका:। (च. चि. 28/211)

व्यान वायु अपान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते है।

1. वमन (Vomiting)
2. आध्मान (Distended Abdomen)
3. उदावर्त (Diseases due to suppression of urges)
4. गुल्म (Gaseous distension)
5. परिकर्तिका (Anal fissure)

व्यानावृत अपान वायु के लक्षण Suppression of micturation urge and defecation urges के समान प्रतीत होते हैं।

10. अपान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण

अपानेनावृते व्याने भवेद्विण्मूत्ररेतसाम्। अतिप्रवृत्तिस्तत्रापि ....।। (च. चि. 28/212)

अपान वायु जब व्यान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. पुरीष अतिप्रवृत्ति (Dysentery)
2. मूत्र अतिप्रवृत्ति (Polyurea)
3. शुक्र अतिप्रवृत्ति (Hyperspermia)

Antidiuretic hormone or arginine vasopressin की मात्रा से कम स्रावित होने पर उत्पन्न लक्षण अपानावृत व्यान वायु के समान प्रतीत होते हैं।

11. समान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण

मूर्च्छा तन्द्रा प्रलापोऽंगसादोऽग्न्योजोबलक्षय:।। (च. चि. 28/213)

समान वायु व्यान वायु को आवृत कर लेती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. मूर्च्छा (Syncope)
2. तन्द्रा (Drawsiness)
3. प्रलाप (Delirium)
4. अंगसाद (Lethargy)
5. अग्निक्षय (Loss of Digestion)
6. ओजक्षय (Loss of immunity)
7. बलक्षय (Loss of activity)

समानावृत व्यान वायु के लक्षण Suppression of cerebral function के समान है।

12. उदान वायु से आवृत व्यान वात लक्षण

स्तब्धताऽल्पाग्नताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम्। (च. चि. 28/214)

उदान वायु जब व्यान वायु पर आवरण बनाती है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. स्तब्धता (Stiffness)
2. अल्पाग्नि (Decreased amount of digestive juices)
3. अस्वेद (Anhydrosis)
4. चेष्टा हानि (Loss of activities)

उदानावृत व्यान वायु के लक्षण Deficiency of sweating and transient coma के समान प्रतीत होते हैं।

13.20. शेष 8 अन्योन्यावरण को स्वत: समझ लेना चाहिये।

पित्तावृत प्राण वात लक्षण

मूर्च्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता।।

छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते। (च. चि. 28/221)

प्राणेपित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।। (सु. नि. 1/34)

पित्त जब प्राण वायु को आवरित करता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. मूर्च्छा (Syncope)
2. दाह (Burning sensation)
3. भ्रम (Vertigo)
4. शूल (Pain)
5. विदाह (Burning sensation)
6. शीतकामिता (Desire for cold things)
7. विदाही भोजन करने पर वमन होना (Vomiting after having spicy food)

पित्तावृत प्राण वायु के लक्षण Gastro oesophageal reflux and heart burn समान प्रतीत होते हैं।

कफावृत्त प्राण वात लक्षण

ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः। प्राणेकफावृत्ते रुपाण्ययरुचिछर्दिरेव च।। (च. चि. 28/222)

दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्य च कफावृते। (सु. नि. 1/35)

कफ जब प्राण वायु को आवृत करता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. बार बार थूकना (Frequently spiting)
2. छींक (Sneezing)
3. उदगार (Belching)
4. निच्छवास व उच्छवास संग्रह (Obstructed inspiration, expiration)
5. अरुचि (Anorexia)
6. छर्दि (Vomiting)
7. दौर्बल्य (Strenghtless)
8. सदन (Lethargy)
9. तन्द्रा (Drowsiness)
10. वैवर्ण्य (Discolouration)

उपरोक्त सभी लक्षण Chronic obstructive pulmonary diseases, emphysema and chronic bronchitis के समान प्रतीत होते हैं।

पित्तावृत उदान वात लक्षण

मूर्च्छाद्यानि च रुपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः। ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते।।

(च. चि. 28/223)

उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः।। (सु. नि. 1/33)

पित्त जब उदान वायु को आवृत कर लेता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

मूर्च्छा आदि लक्षण पित्तावृत प्राण वायु में मिलते ही हैं साथ ही निम्न लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं।

1. नाभि व उर में दाह (Burning sensation in umbilical region and chest)
2. क्लम (Lassitude)
3. ओजभ्रंश (Loss of imunity)
4. साद (Depression)

उपरोक्त सभी पित्तावृत उदानवायु के लक्षण Anxiety associated with GERD (Gastro esophageal reflux disorder) के समान है।

कफावृत्त उदान वात लक्षण

आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्य वाक्स्वरग्रहः। दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते।। (च. चि. 28/224)

अस्वेदहर्षौमन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृत्ते। (सु. नि. 1/36)

कफ जब उदान वायु को आवृत कर लेता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. विवर्णता (Discolouration)
2. वाक व स्वर में रुकावट (Obstructed speach)
3. दौर्बल्य (Weakness)
4. गुरुगात्रता (Heaviness)
5. अरुचि (Anorexia)

उपरोक्त सभी लक्षण Dysfunction of vocal cord के सम प्रतीत होते हैं।

पित्तावृत समान वात लक्षण

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च। पित्तावृते समाने स्यादुपघातस्तथोष्मणः।। (च. चि. 28/225)

समाने पित्त संयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनं। (सु. नि. 1/36)

पित्त समान वायु को आवृत कर लेता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. अतिस्वेद (Excessive sweating)
2. तृषा (Thirst)
3. दाह (Burning sensation)
4. मूर्च्छा (Syncope)
5. अरुचि (Anorexia)
6. जाठराग्नि अवरोध (Diminished Digestion)

पित्तावृत समानवायु के लक्षण Chronic Gastritis or peptic ulcer के समान है।

कफावृत्त समान वात लक्षण

अस्वेदो वह्निमांद्यं च लोमहर्षस्तथैव च। कफावृत्ते समाने स्यादात्राणां चातिशीतता।। (च. चि. 28/226)

कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्ष कफावृते। (सु. नि. 1/37)

कफ जब समान वायु को आवरित कर लेता है तो निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. अस्वेद (Anhidrosis)
2. वह्निमांद्य (Weak Digestion)
3. लोमहर्ष (Horriplication)
4. शरीर में अधिक शीतलता (Cold Sensation)

कफावृत्त समान वायु के लक्षण Hypotension or low blood pressure के समान प्रतीत होते हैं।

पित्तावृत व्यान वात लक्षण

व्याने पित्तावृते तु स्याद्दाहः सर्वांङ्गः क्लमः। गात्रविक्षेपसङ्गश्च ससंतापः सवेदनः।। (च. चि. 28/227)

व्यानोपित्तावृत्ते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमं। (सु. नि. 1/37)

पित्त द्वारा व्यान वायु पर आवरण बनाने पर निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. दाह (Burning sensation)
2. सर्वांग क्लम (Lassitude)
3. गात्रविक्षेप (Muscle cramps)
4. संताप (Burning sensation)
5. वेदना (Pain)

उपरोक्त लक्षण Inflammatory mayopathies or SLE [Systemic lupus erythematosis] के सम प्रतीत होते हैं।

कफावृत्त व्यान वात लक्षण

गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसन्ध्यस्थिजा रुजः। व्याने कफावृत्ते लिङ्ग गतिसङ्गस्तथाऽधिकः।

(च. चि. 28/228)

गुरुणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम्। लिङ्ग कफावृत्ते व्याने चेष्टा स्तम्भस्तथैव च।। (सु. नि. 1/39)

कफ द्वारा व्यान वायु पर आवरण बनने से निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. सम्पूर्ण शरीर में गुरुता (Heaviness)
2. सम्पूर्ण अस्थि व सन्धियों में वेदना (Pain in joints and bones)
3. अधिक रुप से गति में रुकावट (Obstructed walk)

उपरोक्त लक्षण के Fibromyalgia सम हैं।

पित्तावृत अपान वात लक्षण

हरिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः। लिङ्ग पित्तावृतेऽपाने रजसश्चतिवर्तनम्। (च. चि. 28/229)

पित्त द्वारा अपान वायु पर आवरण बनाने से निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. हल्दी के समान पीले वर्ण का मूत्र व मल (Yellow colour of urine and stool)
2. गुदा व मूत्रेन्द्रिय में ताप वृद्धि (Increased temperature of anus and urethra)
3. आर्तव की अतिप्रवृति (Menorrhagea)

उपरोक्त लक्षण Inflammatory diseases in pelvic organs like uterus, urethra, and bladder. के समान है।

कफावृत्त अपान वात लक्षण

भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चः प्रवर्तनम्। श्लेष्मणा सवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः।। (च. चि. 28/230)

कफ द्वारा अपान वायु पर आवरण बनाने से निम्न लक्षण दिखाई देते हैं।

1. पतला, कफयुक्त, भारी मल की प्रवृत्ति (Loose, heavy and mucous mixed stool)

2. कफज प्रमेह से ग्रसित (Different types of urine problems like phosphate urea or proteinuria)

उपरोक्त सभी लक्षण Bacillary dysentery or amoebic dysentry के सम प्रतीत होते हैं।

द्वन्द्वावृत वात लक्षण

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च। उपलक्ष्य भिषग्विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत्।

(च. चि. 28/231)

पित्त व कफजन्य लक्षणों को मिश्रित देखकर मिश्र आवरण के लक्षण जानने चाहिए।

आवरण का निदान (Diagnosis of Avarana)

1. लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः। तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च।

(च. चि. 28/246)

जिस प्रकार इस लोक में वायु, सूर्य और चन्द्रमा की गति का पता लगाना अत्यन्त कठिन कार्य है, उसी प्रकार शरीर में वायु, पित्त तथा कफकी गतियों का जानना अत्यन्त कठिन होता है। यह शरीर में किस प्रदेश में जाकर, किस प्रकार की गति के द्वारा, किस प्रकार का विकार उत्पन्न करते है उसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है। अतः चिकित्सक को इन तीनों की समअवस्था व विकृत अवस्थाओं को सम्यक् रुप से जानना चाहिये। यह विकृतावस्था में क्षय, वृद्धि व आवरण के द्वारा जो भी रोग उत्पन्न करते है उनका सूक्ष्म विचार करके ही चिकित्सा करनी चाहिये।

2. आवरणों के असंख्य भेद कहे गये है, इनमें से कुछ आवरणों का वर्णन तो संहिताओं में मिलता है। शेष आवरणों का ज्ञान तर्क पूर्ण विचार करके करना चाहिए। सभी वायु के आश्रय स्थानों का विचार कर, उनके कर्मो की वृद्धि अथवा हानि की तुलना कर उन- उन आवरणों के लक्षणों को समझना चाहिए। द्वन्द्वज आवरण का ज्ञान करने के लिये जिस वायु का जो स्थान बताया गया है उस स्थान में इतर कफ, पित्त दोष स्थित हो जाये तो संसर्गज आवरण जानना चाहिये।

विशेषाज्जीवितं प्राण उदाने संश्रितं बलम्।

स्यात्तयो पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च।। (च. चि. २८/२३४)

3. प्राण वायु में विशेष करके जीवन की तथा उदान में बल की स्थिति मानी जाती है। अतएव इन दोनो वायुओं के पीड़न से आयु एवं बल की हानि होती है। प्राण वायु की विकृति होने पर मृत्यु होती है और उदान वायु की विकृति होने पर बल का नाश विशेष रुप से होता है इस कारण कफपित्त से प्राण वायु या उदान वायु आवृत हो जाती है तो कष्टता से ही साध्य होती है।

4. आवरण की चिकित्सा भली प्रकार नहीं करने से वे उपद्रवावस्था में परिवर्तित हो जाती है। कुछ आवरण स्वभाव से कृच्छ्रसाध्य होते है। जैसें प्राण व उदान वायु को कफया पित्त का आवृत कर लेना कृच्छ्रसाध्य होता है। धातुओं में मेद का आवरण कृच्छ्रसाध्य होता है।

5. आवरण जन्य वात दुष्टि एक वर्ष पुरानी हो चुकी है तो उस आवरण की हम कितनी भी समुचित चिकित्सा करले वह आवरण असाध्य अथवा कृच्छ्रसाध्य होने के कारण ठीक नहीं किया जा सकता है।

उपद्रव

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतिसार एव च। भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात्।।

(च. चि. 28/236)

आवरण द्वारा अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न होते है उनमें से कुछ का ही वर्णन संहिता में किया गया है संहितोक्त उपद्रवों को मार्गनिर्देशनार्थ ही समझना चाहिये।

आवरण की उपेक्षा करने से हृद्रोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, अतिसार आदि व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती है अतः आवरण का सावधानी पूर्वक ज्ञान करना चाहिये।

सामान्य चिकित्सा सिद्धान्त

1. जो औषध कफकारक ना हो किन्तु स्निग्ध हो स्रोतो को शुद्ध करने वाले हो।
2. कफव पित्त विरोधी न हो व वायु का अनुलोमन करने वाली हो।

त्रयोरोगमार्गा

त्रयोरोगमार्ग इति- शाखा, मर्मास्थिसन्धयः, कोष्ठश्च। (च. सू. 11/48)

आचार्य चरक ने त्रिविध रोगमार्गों का वर्णन सूत्र स्थान अध्याय 11 तिस्रेषीयाध्याय के अन्तर्गत किया है।

इन विभागों को दोषों की गति या संचरण के कारण मार्ग नाम दिया गयाा है। अर्थात् इन त्रिविध मार्गों में ही दोष संचरित होकर विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं।

रोगमार्ग ज्ञान का उद्देश्य :- रोगमार्गों के ज्ञान के दो प्रयोजन है :-

1. रोगों की साध्य - असाध्यता आदि का ज्ञान।
2. मार्ग भेदानुसार चिकित्सा में भिन्नता।

1. रोगों की साध्य- असाध्यता के ज्ञान में रोग-मार्ग की उपयोगिता:-

सुख साध्य के लक्षणों में बताया गया है कि जो रोग एक ही मार्ग में प्रसृत होते हैं वह सुख साध्य होते है। जबकि जो रोग दो मार्गों में प्रसृत हों किन्तु अधिक पुराना रोग ना हो वह कृच्छ्र साध्य होता है, जो रोग मर्मसन्धि आदि में विद्यमान हो वह याप्य होता है। जो रोग तीनों मार्गों में प्रविष्ट हो तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। इस प्रकार मार्गगत दोषों के आधार पर रोगों की साध्य असाध्यता का ज्ञान किया जा सकता है।

2. मार्ग भेदानुसार चिकित्सा में भिन्नता :- पञ्चकर्म चिकित्सा का मुख्य सिद्धान्त है कि, संशोधन करने से पूर्व दोषों को महानिम्न मार्ग अर्थात् कोष्ठ में लाना आवश्यक होता है। तभी वमन अथवा विरेचन लाभप्रद सिद्ध होते हैं। यदि दोष कोष्ठस्थ ना होकर शाखागत हों तो शोधन कराने से, दोष अधिक प्रकुपित होकर उपद्रवावस्था उत्पन्न करते हैं। दोषों को शाखा से कोष्ठ में लाने के लिए रोग मार्गों का ज्ञान होना परम आवश्यक है।

त्रिविध रोगमार्गों का विस्तृत विवेचन :-

1. शाखागत रोगमार्ग- शाखा शब्द का अर्थ है:- रक्तादि छः धातु तथा त्वचा। त्वचा शब्द से तदन्तर्गत रस धातु भी ग्रहीत है। शाखा को बाह्य रोगमार्ग भी कहा जाता है।

तत्र शाखारक्तादयो धातवस्त्वक च स बाह्योरोगमार्ग (च. सू. 11/48)

त्वक चेति पृथक पदेन त्वग्गतरसेश्चोप लक्ष्यते। (च. सू. 11/48 गंगाधर)

शाखागत रोग :- तत्र गण्डपिडकालज्यपचीचर्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकारा बहिमार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्माशोंविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवन्ति रोगाः।। (च. सू. 11/48)

1. गण्ड - गण्डो व्रण शोथो न च गलगण्डः। (गङ्गाधर) (Inflammation)
2. पिडका (Pappule)
3. अलजी (Boil)
4. अपची (Chronic tuberculous lymph adenitis 'or' scrofula)
5. चर्मकील (Epidermal navi)
6. अधिमांस (Granuloma)
7. मषक (Elevated mole)
8. कुष्ठ (Skin diseases)
9. व्यङ्ग (Freckles)
10. विसर्प (Erysipelas)
11. श्वयथु (Odema)
12. गुल्म (Abdominal growth)
13. अर्श (Piles)
14. विद्रधि (Abscess)

2. मर्म तथा अस्थि सन्धि रोगमार्ग - मर्म तथा अस्थि सन्धियों को मध्यम रोगमार्ग कहा जाता है। इस रोगमार्ग में हुआ रोग कृच्छ्र साध्य होता है।

मर्माणि पुर्नबस्ति हृदयमूर्धादीनि, अस्थि सन्धयोऽस्थि संयोगारस्तत्रोप निबद्धाश्च स्नायु कण्डराः, स मध्यमो रोगमार्गः।। (च. सू. 11/48)

मध्यममार्गत्व वचनेन तद् रोगाणां कृच्छ्र साध्यत्वं ख्यापितम्।। (च. सू. 11/48) (गंगाधर)

मध्यम रोगमार्ग गत् रोग :- पक्षवधग्रहापतानकार्दितशोषराज्यक्ष्मास्थिसन्धिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्वस्ति रोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः।। (च. सू. 11/49)

1. पक्षवध (Paralysis)
2. पक्षग्रह (Powerlessness of one halfof body)
3. अपतानक (Tetanus)
4. अर्दित (Facial Paralysis)
5. शोष (Emaciation)
6. राज्यक्ष्मा (Pulmonary Tuberculosis)
7. अस्थि शूल (Bony Pain)
8. संधि शूल (Joint Pain)
9. गुद भ्रंश (Rectal Prolapse)
10. हिक्का (Hiccough)
11. शिर हृदय और बस्ति के रोग (Diseases of head, heart and bladder)

3. आभ्यान्तर या कोष्ठमार्ग

कोष्ठः पुनरुच्यते महास्त्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्याय शब्देस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः।

कोष्ठ के पर्याय- महास्त्रोत, शरीरमध्य, महानिम्न, आमपक्वाशय आदि है। आमाशय, अग्नाशय, पक्वाशय, मूत्राशय, आदि मिलकर कोष्ठ कहे जाते है। कोष्ठ ही आभ्यान्तर रोगमार्ग कहलाता है।

स आभ्यान्तरौ रोगमार्गस्तृतीयः। य एतन्मार्गगतरोगणां सुखदुःखयाप्या साध्यत्वं यथा लक्षणं भवतीति ख्यापितम्।। (च. सू. 11/48) (गंगाधर)

आभ्यान्तर रोगमार्ग तृतीय रोगमार्ग है। तृतीय रोगमार्ग के रोग सुखसाध्य, कृच्छ्रसाध्य, याप्य और असाध्य हो सकते है। इन रोगों की साध्य-असाध्यता उनके लक्षणों पर निर्भर करती हैं। रोगों के सभी लक्षण मिलने पर वह असाध्य, जबकि अल्प मिलने पर साध्य होंगें।

इस प्रकार रोगों की अवस्थाओं की विकल्पना की जा सकती है।

ज्वरातिसारच्छर्द्यलसकविसूचिका कास श्वासहिक्कानाहोरदप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथु गुल्मोर्शोविद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः।। (च. सू. 11/49)

आभ्यान्तर रोगमार्गगत व्याधियाँ -

- ज्वर (Fever)
- छर्दि (Vomiting)
- विसूचिका (Cholera)
- श्वास (Dyspnoea)
- अनाह (Distended Abdomen)
- प्लीहा (Splenomegaly)
- गुल्म (Abdominal growth)
- विद्रधी (Abscess)
- अतीसार (Diarrhoea)
- अलसक (Food poision)
- कास (Cough)
- हिक्का (Hiccough)
- उदररोग (Diseases of Digestive system)
- विसर्प (Erysipelas)
- अर्श (Piles)

रोगमार्गों में दोषों की गति

1. शाखा से कोष्ठ की ओर दोषों का गमन
2. कोष्ठ से शाखा की ओर दोषों का गमन

1. शाखा से कोष्ठ की ओर दोषों का गति

दोष तीनों रोगमार्गों में गमन करते है। संशोधनात्मक चिकित्सा में शाखाओं में संचित मल बलात् कोष्ठ की ओर गमन करवाये जाते है। परन्तु कुछ अन्य निदानों के कारण भी दोष शाखाओं से कोष्ठ की ओर गमन करते है।

वृद्धया विष्यन्दनात् पाकात् स्त्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्।। (च. सू. 28/33)

1. वृद्धया - जिन कारणों से दोष बढ़ते है उन्ही कारणों का सेवन करने से दोष शाखाओं से कोष्ठ में चले जाते है क्योंकि वह शरीर के बाहर निकलने के लिये उन्मुख हो जाते है। चक्रपाणि ने बताया कि कोष्ठ को महानिम्न कहते है अतः दोष जब मात्रा से अधिक हो जाते है तो निम्न प्रदेश की ओर स्वतः गति करते है।

2. विषयन्दन - दोषों का विष्यन्दन,विलयन,द्रवीभाव या पिघलाने से शाखाओं में संचित हुये दोष स्नेहन स्वेदन आदि क्रियाओं के द्वारा कोष्ठ अर्थात निम्न प्रदेश की ओर गति करते है।

3. पाकात - दोषो का परिपक्व होना। यदि दोष आमावस्था से पक्वावस्था मे परिवर्तित होते है तो शाखा से कोष्ठ की ओर गमन करता है। जैसे फल परिपक्व हो तो काल आने पर स्वयं अपने वृंत से च्युत हो जाता है, **किंवा स्वल्प प्रयास** से तोड़ा जा सकता है वैसे हि परिपक्व दोषों में स्वयं ही शरीर से पृथक होने का स्वभाव होता है। जिससे कोष्ठ की ओर परिपक्व हुये दोष गमन करते है व कभी कभी स्वतः ही बर्हिमुख स्रोतो की ओर अभिमुख हो जाते है।

सर्वदेहानुगा: सामा धातुस्था असुनिर्हरा: । दोषा फलानामानां स्वरस इव सात्यया: ।। (च. चि. 3/148)

4. स्त्रोतो मुख विशोधन - दोषों का वहन करने वाले स्त्रोतसों के मुखमार्ग में कोई अवरोध हो तो उसके दूर कर देने से मुख मार्ग स्वच्छ हो जाता है और दोष अपनी स्वभाविक गति करने लगते है। स्त्रोतो का.शोधन करने से मार्ग की रुकावट दूर हो जाती है। स्त्रोतसो का शोधन स्नेहन, स्वेदन, दीपन, पाचन व संशोधन आदि के द्वारा होता है।

5. वायु निग्रह - वायु समस्त रोगों का कारण होती है, वायु ही अनियंत्रित होने पर दोषों को कोष्ठ से शाखा की ओर फेंकती है। यदि इसी वायु को नियंत्रित कर लिया जाये दोष स्वभाविक गति के द्वारा पुन: कोष्ठ में आने लगते है।

जैसे कि शाखाश्रित कामला में कटु, उष्ण, तीक्ष्ण द्रव्यों का सेवन कराया जायेगा तो पित्त दोष स्वभाविक मात्रा से अधिक वृद्धि को प्राप्त होगा व इन्ही निदानों के सेवन से पित्त को आवृत किये गये कफदोष का शमन होगा जिससे अतिवृद्ध पित्त दोष कफसे अवरोधित नहीं होने के कारण पुन: कोष्ठ की ओर गमन करता है। पित्त दोष के कोष्ठ में आते ही मल का पित्त के द्वारा रंजन होने लगता है जिससे पुरीष का सामान्य रंग पीला आने लगता है।

2. कोष्ठ से शाखाओं की ओर गति

दोष सामान्य रूप से कोष्ठ के विभिन्न स्थानों पर रहकर अपना कार्य करते रहते हैं। यदि निदानों के सेवन के फलस्वरूप दोष कुपित (वृद्धि) होकर शाखाओं की ओर गति करते हैं।

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात्। कोष्ठाच्छाखा मलायान्ति द्रुतत्वान्मारूतस्य च।।

तत्र स्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिता: । नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिण: ।।

1. व्यायाम- अधिक व्यायाम से व अधिक परिश्रम करने से दोष कोष्ठ में संक्षोभित हो जाते है जिससे दोष कोष्ठ से निकलकर शाखा की तरफगमन करने लगते है। जैसे किसी पात्र को क्षोभ देने पर उसमें रखा जल बाहर गिर जाता है उसी प्रकार दोष कोष्ठ से शाखा में गमन करते है।

2. उष्णता की तीक्ष्णता से - उष्ण आहार सेवन से दोष विलीन होकर शाखा की ओर गमन करते है।

3. अहित भोजन के सेवन से - अहितकर आहार विहार के सेवन से स्वस्थान में स्थित दोष उन्मार्ग गामी होकर अपनी मर्यादा को अतिक्रमणकर बाहर निकल जाते है। जैसे अतिवृद्धि होने पर जल अपने जलाष्य से बाहर निकल जाता है।

4. वात के अधिक शीघ्रगामी होने से व अपने चल गुण के कारण दोषो को कोष्ठ से शाखा की तरफफैंक देते है।

जैसे - शाखाश्रित कामला [Obstructive jaundice], में पित्त वर्धक पदार्थो के सेवन से बढ़ा हुआ पित्त Direct bilirubin अपने स्वभाविक मार्ग में न जाकर रक्तादि शाखाओं में जैसे नेत्रकला, त्वचा में चला जाता है जिससे त्वचा व नेत्रकला में पीलापन दिखाई देता है। यह पित कफसे आवृत [Obstruction], होने के कारण पुन: कोष्ठ में नहीं जा पाता है। जब शाखा में अधिक पित्त बढ़ जाता है तो कफ के आवरण को तोड़ कर कोष्ठ में चला जाता है। अथवा पित्त का विष्यन्दन गुण बढ़ने पर पित्त दोष कोष्ठ की ओर गमन करता है। जिससे शाखाश्रित कामला से ग्रसित रोगी को लाभ प्राप्त होता है।

दोष गति

वात, पित्त व कफतीनों दोषों का कोष्ठ में विशेष स्थान है जैसे वात का स्थान पक्वाशय व गुद, पित्त का स्थान आमाश्य व कफका स्थान उर प्रदेश है। प्रत्येक दोष व उनके पञ्च भेदों का मूल स्थान या उद्भव स्थान होता है यहा से दोष अपने कार्यकारी सूक्ष्म व स्थूल स्थानों में जाकर अपने कार्य करते हैं। इन्ही स्थानों पर वृद्धि व क्षय को प्राप्त होकर रोग उत्पन्न करते है। यदि दोष वृद्धि को प्राप्त होता है तो स्वस्थान से निकल किसी अन्य दोष के मूल स्थान में जाकर उस स्थान पर स्थित दोष के कर्म में क्षय करता है व स्व कर्म में वृद्धि करता है।

अत: दोष की गति से दो अर्थ लिये जाते है।

1. **गमनं गति:** अर्थात दोष का अपने स्थान से हटकर स्थानान्तरित होना।

2. **गमनम् अवस्थाप्राप्तिश्च** अर्थात दोषों का अपनी सामान्यवस्था से अधिक अथवा कम होना।

और चिकित्सा द्वारा दोषों को अपने स्थान पर लाने का प्रयास करना चाहिए।

दोषों की गतियों का वर्णन चरक सूत्रस्थान के ग्यारवें अध्याय त्रिस्रेषणीय अध्याय तथा सत्तरहवें अध्याय कियन्तशिरसीय अध्याय में किया गया है।

दोषो की त्रिविध गति

क्षय: स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गति:। (च. सू. 17/112)

अवस्था के आधार पर 1. क्षय 2. वृद्धि 3. सम अवस्था

1. **क्षय गति**- प्रत्येक दोष अपने अपने स्वभाविक स्थान पर सम प्रमाण में रहते हुये कार्य करते है। यदि दोष के गुण धर्मो के विपरित आहार विहार का सेवन किया जायेगा तो वह दोष अपने ही स्थान पर प्रमाण से कम हो जायेगें। परिणामस्वरुप संबन्धित अंग विशेष में दोष आदि के कार्यो का ह्रास हो जाता है। यही उस दोष की क्षय गति कहलाती है।

जैसे ज्वर रोग में मिथ्या आहार विहार सेवन करने से पाचक पित्त स्वस्थान आमाश्य से बाहर चला जाता है जिससे ज्वर में जाठराग्निमांद्य की स्थिति उत्पन्न होती है। मन्द हुयी अग्नि द्वारा आम ज्वर उत्पन्न होता है।

2. **वृद्धि गति**- क्षय गति के समान ही वृद्धि गति भी समझनी चाहिए। दोष, दूष्य व अग्नि के समान गुणधर्मों वाले आहार विहार का सेवन करने से तद् तद् दोष, दूष्य आदि की वृद्धि के लक्षण दिखाई देते है। किसी स्थान विशेष पर जब एक दोष की वृद्धि होती है तो उसके विरोधि दोष का साम्य भी होता है। जैसे: अधिक व्यायाम करने से व अधिक साहस जन्य कर्म करने से उर स्थित कफ का क्षय होता है व उसी समयवायु उर में प्रवेश कर वृद्धि को प्राप्त होती है जिससे उर प्रदेश वेदना उत्पन्न होती है।

3. **सम अवस्था** - क्षय व वृद्धि के विपरित दोषो का अपने स्थान पर सम प्रमाण में रहना सम गति कहलाती है।

इस प्रकार क्षय, वृद्धि व सम अवस्था आदि गतियों के द्वारा दोषों की विशिष्ट अवस्थाओं का ज्ञान होता है। यह अवस्थायें रोगी की चिकित्सा करने में सहायता करती है । आचार्य सुश्रुत ने बताया कि **क्षीणा वर्धयितव्या:, समा: पालयितव्या, वृद्धा ह्रासयितव्या:** अर्थात क्षीण दोष को बढ़ाये, समान दोष को प्रकृतिस्थ रखने का प्रयास करें तथा बढ़े दोष को कम करने का उपाय करना चाहिये।

दिशा के अनुसार गति

ऊर्ध्व चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपर।। (च. सू. 17/113)

1. ऊर्ध्व गति - दोष ऊर्ध्वगामी होकर ऊर्ध्व अवयवों में दोष की स्थिति या रोगोत्पत्ति का होना।

2. अधो गति - दोषो का अधोगामी होकर अधो गत अवयवों में दोषों की स्थिति होना।

3. तिर्यक् गमन- तिर्यक् गति करना जैसे कोष्ठ से चारो तरफदोषो का भ्रमण करना।

जैसे रक्तपित्त व छर्दि रोग में जब दोषों की उर्ध्वगति होती है तो उर्ध्वग रक्तपित्त तथा छर्दि में वमन मुख द्वारा होता है। जब दोषो की गति अध: होती है तो अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, अधोग रक्तपित्त इत्यादि रोग उत्पन्न होते है। तथा तिर्यग गति होने पर ज्वर, तिर्यग् रक्तपित्त आदि व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

कालकृत गति दोष- 3 प्रकार

चयप्रकोप प्रशमा: पित्तादीनां यथाक्रमम्। भवन्त्येकैकश: षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु।।

गति कालकृता चैषा चयाद्या पुनरुच्यते।। (च. सू.17/114-115)

ऋतु के अनुसार दोष की गति- पित्त, कफ और वायु इन तीनों दोषों का क्रम से संचय, प्रकोप, प्रशम, वर्षा शरद हेमन्त शिशिर वसन्त और ग्रीष्म में एक-एक का होता रहता है।

संचय प्रकोप और प्रशम को कालकृत गति कहते है।

1. चय - चयोवृद्धि: स्वधाम्येव..... (अ. ह. सू. 12/22)

सम अवस्था से दोष की ईषत् वृद्धि होना ही चय या संचय अवस्था कहलाती है। दोष का संचय स्व स्थान में होता है। वात का संचय ग्रीष्म ऋतु, पित्त का संचय वर्षा ऋतु, कफ का संचय हेमन्त ऋतु में होता है।

2. प्रकोप - कोपस्तून्मार्गगामिता..... (अ. ह. सू.12/23)

दोष वृद्ध होकर अपने स्थान से उन्मार्ग गामी हो जाते है, और शोधन आदि चिकित्सा न की जाये तो रोग उत्पन्न कर देता है। वात का प्रकोप वर्षा ऋतु, पित्त का प्रकोप शरद ऋतु, कफ का प्रकोप बसन्त ऋतु में होता है।

3. प्रशम - प्रकुपित दोषो का काल प्रभाव से शान्त हो जाना प्रशम या प्रशमन कहा जाता है जैसे वात का शमन शरद ऋतु, पित्त का शमन हेमन्त ऋतु तथा कफ का ग्रीष्म ऋतु में होता है।

स्वभाविक रुप से ऋतु के अनुसार जो दोषो का संचय, प्रकोप, प्रशमन होता है उसे ही कालकृत गति कहते है। जो मिथ्या आहार विहार के कारण संचय, प्रकोप व प्रशमन होता है उसे कालकृत गति नकहकर दोषों की अवस्था कहा जाता है। इसी प्रकार दोषों की स्वस्थ पुरुषों में जो गति होती है उसे प्राकृत गति कहते है। और दोषों की गति जो रोगी के शरीर में होती है उसे वैकृत गति माना जाता है। इसी आधार पर दोषों की द्विविध गतियाँ होती है।

द्विविध गति

गतिश्च द्विविधा दृष्ट प्राकृती वैकृती च या। (च. सू.17/113)

1. प्राकृत गति - प्रत्येक दोष सम अवस्था में रहते हुये शरीर के सभी कार्यो को सम्यक् रुप से करते है जैसे

वात की प्राकृत गति - सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राण: प्राणिनां स्मृत:। (च. सू. 17.118)

प्राकृत अवस्था में गमन करने वाली वायु को प्राणियों का प्राण कहा जाता है और शरीर की सारी चेष्टाये वात से ही होती हैं।

पित्त की प्राकृत गति - पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते। (च. सू. 17/116)

पित्त जब प्राकृत अवस्था में शरीर में गमन करता है तो आहार का पाचन , अग्निस्वरूप में रहने वाले पित्त से ही होता है।

कफकी प्राकृत गति - प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा ..... सचैवौजः स्मृतः। (च. सू. 17/117)

प्राकृत अवस्था में रहने वाले कफको शरीर का बल या ओज कहते है।

2. विकृत गति- मिथ्या आहार विहार सेवन से दोष दुष्ट होकर विकृत गति द्वारा अनेक रोग उत्पन्न करते है। यथा

वात विकृत गति - तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ।। (च. सू. 17/118)

पित्त की विकृत गति - तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहुन्। (च. सू. 17/116)

कफकी विकृत गति - विकृतो मल उच्यते। ..... स च पाप्मोपदिष्यते। (च. सू. 17/117)

वात दोष विकृत अवस्था में शरीर में गमन करती है तो उस वायु से रोग होते है और उसी से रोगी की मृत्यु भी होती है।

पित्त दोष वैकृती गति के द्वारा अनेक पित्त जन्य रोग उत्पन्न करते है।

विकृत कफको मल और पाप्मा कहा जाता है।

स्त्रोतस

सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्त्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति।

स्त्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन।। (च. वि. 5/3)

स्त्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः। रुद्धवा रोगाय कल्पन्ते, पुष्यन्ति च न धातवः।

(च. चि. 8/29)

अवकाशमय अवयव को स्त्रोतस कहा जाता है। आचार्य चरक के अनुसार पुरुष में जितने मूर्तिमान भाव हमें दिखाई देते है। वह सभी भाव स्त्रोतसों के प्रकार भेद है। पुरुषों में सभी भाव स्त्रोतो के अन्तर्गत ही निहित होते है। अतः शरीर की किसी भी भाव में दुष्टि होने का सम्बन्ध स्त्रोतों दुष्टि से भी होता है। अतः स्त्रोतसों की दुष्टि होना अथवा किसी भी प्रकार का अवरोध होने पर व्याधि की उत्पत्ति होना स्वभाविक है। आद्य रसधातु पर विभिन्न प्रकार की धात्वाग्नियाँ कार्य कर अलग- अलग धातुओं व मल का निर्माण करती है। इस प्रकार परिणामप्राप्त धातुओं का अभिवहन अर्थात एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का कार्य जिन मार्गो के द्वारा होता है उसे स्त्रोतस कहा जाता है।

स्रु गतौ क्षरणे धातु से स्त्रोत शब्द सिद्ध होता है। जिसमें कोई द्रव्य स्त्रवण करें उसे स्त्रोतस कहते है।

सुश्रुत मतानुसार मूलात् खादान्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् । स्त्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्।

(सु. शा. 9/13)

मूल स्थान से निकलकर शरीर में फैले हुए अवकाश को स्त्रोतस कहा जाता है केवल सिरा व धमनी को छोड़कर।

स्त्रोतस पर्याय

स्त्रोतांसि, सिराः, धमन्यः, रसायन्यः, रसवाहिन्यः, नाडयः, पन्थानः, मार्गाः शरीरच्छिद्राणि, संवृतासंवृतानि, स्थानानि, आशयाः, क्षयाः निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति।

(च. वि. 5/17)

स्रोतस, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाडी, पथ, मार्ग, शरीरछिद्र, संवृतासंवृत (हृदय, आमाश्य, सिरा आदि स्रोतस अपने कपाट के कारण लयबद्ध बंद होते है या खुलते है इस कारण चक्रपाणि ने भी कहा कि **अग्रेसंवृतानि मूलेऽसंवृतानि** अर्थात जिनका मूल असंवृत या असंकुचित व अग्र भाग संवृत अर्थात संकुचित होता है), अयन, स्थान (अधिष्ठान), आशय, क्षय, निकेत कहते है। शरीर में धातुओं का वहन करने के लिये स्थित दृष्य व अदृष्य अवयवों के नाम भी स्रोतस ही हैं।

स्रोतस के भेद - स्थूल रुप से स्रोतस के दो भेद किये गये है।

1. **बहिर्मुख स्रोतस** - दो नासा स्रोत, दो नेत्र, दो कर्ण एक मुख, एक मूत्र निष्कासन स्रोतस, एक गुद पुरुषों में यह नव द्वार होते है। जबकि स्त्रियों में तीन अन्य बर्हिमुख स्रोतस होते है दो स्तन व एक अपत्य पथ सहित कुल 12 बर्हिमुख स्रोतस होते है। आचार्य चरक ने इन्हे मलायन भी कहा है।

2. **अन्तर्मुख स्रोतस** - अर्न्तमुख स्रोतस को सुश्रुत ने योगवाही स्रोतस भी कहा है। इस प्रकार अचार्य सुश्रुत ने योगवाही स्रोतस की संख्या 11 बताई है। चरक के अनुसार सामान्य रुप से 13 स्रोतस होते है। यत्र तत्र तत्संबन्धित विषयानुसार कुछ अन्य स्रोतसों का वर्णन किया गया है। जैसे आर्तववहस्रोतस, मनोवहस्रोतस व दोषवहस्रोतस आदि।

स्रोतस प्रकार

प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति। (च. वि. 5/6)

आचार्य चरक के अनुसार 13 स्रोतस होते है।

प्राण, उदक, अन्न, सात धातुयें (रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र)-तीन मल (पुरीष, स्वेद, मूत्र)

तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तववहानि। (सु. शा. 9/12)

आचार्य सुश्रुत के मतानुसार 11 योगवाही स्रोतस होते है । प्रत्येक स्रोतस दो होते है।

प्राण, उदक, अन्न-पांच धातुयें (रस, रक्त, मांस, मेद, शुक्र)-दो मल (मूत्र, पुरीष)-आर्तव

स्रोतो दुष्टि सामान्य हेतु

आहारश्च विहारश्च यः स्याद् दोषगुणैः समः। धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः।

(च. वि. 5/23)

दुष्टि के सामान्य कारण

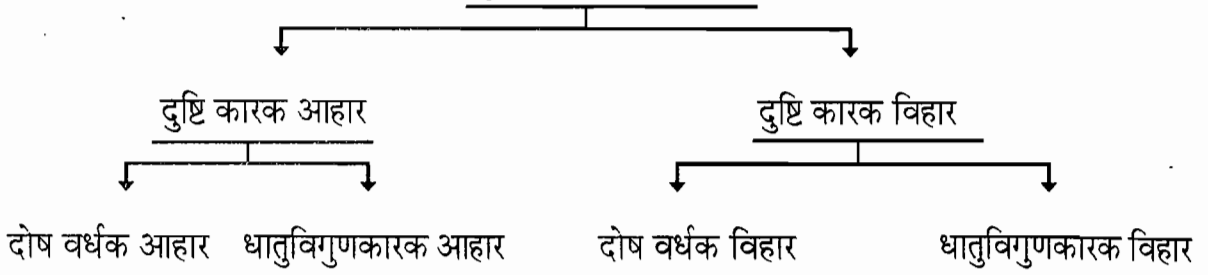

आहाररश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह। दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषादिवर्धकत्वं दर्शयति।

धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरितगुणो विगुणः। दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ता। (चक्रपाणिटीका)

दोषों के गुणों के समान आहार व विहार का सेवन करने से तत् तत् दोष की वृद्धि होती है अथवा ऐसा आहार विहार का सेवन करना जिससे धातुओं में विगुणता उत्पन्न होती है । यह दोनो स्त्रोतसों की दुष्टि के सामान्य हेतु होते है। जैसे मेदो दुष्टि के निदान में बताया गया है कि दिवास्वप्न करने से व मेद्य द्रव्यों का सेवन करने से मेद धातु में दुष्टि होती है। धातु दुष्टि का अर्थ है कि या तो धातुओं की वृद्धि अथवा उनमें क्षय होना। जैसे रस धातु की दुष्टि करने वाले गुरु भोजन का सेवन करने से रस धातु की वृद्धि होती है व चिन्ता करने से रस धातु का क्षय होता है।

2. इसी प्रकार स्त्रोतो दुष्टि के कुछ अन्य कारणों का वर्णन पृथक् पृथक् स्त्रोतो के साथ-साथ किया जायेगा।

स्त्रोतोदुष्टि के सामान्य लक्षण

अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।

विमार्गगमनं चापि स्त्रोतसां दुष्टिलक्षणम्। (च. वि. 5/24)

स्त्रोतों की दुष्टि के सामान्य लक्षण निम्न बताये गये है।

1. अतिप्रवृत्ति - अतिप्रवृत्तिरिह स्त्रोतोबाह्यस्य रसादेर्बोद्धव्या। (चक्रपाणि)

अतिशयेन प्रवृत्तिः, यथामूत्रवाहिस्त्रोतसां प्रमेहबद्धहुमूत्रता। .... शकृद्वाहिनां स्त्रोतसामतीसारवत्पुरीशातिसरणम् अतिप्रवृत्तिः। (अ. ह. शा. 3/45 अरुणदत्त टीका)

अतिप्रवृत्ति का अर्थ दोषों या मलों की अधिक प्रमाण में प्रवृत्ति अथवा अधिक वेग से गति। अतिप्रवृत्ति स्त्रोतो दुष्टि में स्त्रोतसों से धातुओं अथवा उपधातुओं अथवा मलों की अधिक मात्रा में प्रवृत्ति होती है। जैसे प्रमेह रोग में मूत्रवह स्त्रोतो दुष्टि के कारण मूत्र की अधिक मात्रा में प्रवृत्ति होती है। अतिसार रोग में पुरीषवह स्त्रोतोदुष्टि के कारण पुरीष की अधिक मात्रा में प्रवृत्ति होती है। स्वेदवह स्त्रोतो दुष्टि होने पर स्वेद की अतिप्रवृत्ति होना, प्राणवहस्त्रोतो दुष्टि होने से श्वास द्रुत गति बाहर की ओर प्रवृत्त होती है। प्रतिश्याय रोग में नासा मार्ग से दुष्ट श्लेष्मा की अतिमात्रा में प्रवृत्ति होती है।

2. संग - एवं संगोऽपि रसादेरेव।

संग अप्रवृत्ति, किंचिद्वा प्रवृत्तिर्मूत्रकृच्छ्रवत्। संग स्तोकं स्तोकं कृत्वा पुरीषस्यप्रवृत्तिः, अथवा सर्वसर्विकया उदावर्तवत् पुरीषस्याप्रवृत्तिः।

मूत्रवाहिस्त्रोतसां मूत्रातिप्रवृत्यप्रवृत्ती तत्स्त्रोतोदुष्टेर्लक्षणम्। तथैव पुरीषवाहिनां पुरीषातिप्रवृत्याप्रवृत्ती पुरीषवाहिस्त्रोतो दुष्टेर्लक्षणम्। एवमन्येषामपि स्त्रोतसां यथायथं वस्तुवाहिनां यथा स्वं वस्त्वतिप्रवृत्यप्रवृत्ती तेषां दुष्टिलक्षणम्। (अ. ह. शा. 3/45 अरुणदत्त टीका)

संग का अर्थ स्त्रोतसों में अवरोध होना है। संग स्त्रोतो दुष्टि के द्वारा स्त्रोतसों से धातु अथवा उपधातु अथवा मलों की अल्पप्रवृत्ति होती है अथवा प्रवृत्ति सर्वथा नहीं होती है। जैसे - उदावर्त में वेग धारण करने से अपान वायु मल को मलमार्ग में ही अवरोधित कर देती है जिससे मल की प्रवृत्ति सर्वथा नहीं होती है।

मूत्रकृच्छ्र में अल्प मात्रा में व कृच्छता से मूत्र की प्रवृत्ति होती है। मूत्राघात में मूत्र प्रवृत्ति पूर्णरुप से अवरोधित हो जाती है।

ज्वर में अग्नि दुष्टि से उत्पन्न आम स्वेदवहस्त्रोतस में अवरोध उत्पन्न करता है जिससे स्वेद का पूर्ण संग ज्वर रोग का प्रधान लक्षण होता है।

प्राणवहस्त्रोतस में संग होने से श्वसन मंद अथवा क्षीण हो जाता है।

3. सिराग्रन्थि - सिराणां ग्रन्थयः कुटिलाभावत्वं दुष्टैर्लक्षणम्। (अ. ह. शा. 3/45 अरुणदत्त टीका)

सिराओं में ग्रन्थि बनना।

अरुणदत्त ने इसे सिरा कुटिल भाव संज्ञा दी।

सिराग्रन्थि में सिरायें फूल जाती है। सिराओं में रक्त का प्रवाह वायु के बिना नहीं हो सकता है यदि यही वायु दुष्ट होकर रक्त को सिराओं में प्रवाहित नहीं होने देती वरन् रक्त को स्थान विशेष में रोक देती है। जिससे सिरायें ग्रथित या कुटिल हो जाती है।

सिराग्रन्थि को Varicose vein के समान तथा Aneurysm के समान कह सकते हैं।

Varicose vein – An enlarged dilated superficial vein. यह स्थिति सामान्यत: पैरों में स्थित सिराओं में दिखाई देती है। इसके अलावा अर्श भी सिराओं का स्फुरण मात्र ही है।

वात प्रकोप के कारण सिरा का मांस मण्डल दुर्बल हो जाता है तथा इस स्थिति में रक्त में अल्प मात्र अवरोध होने पर भी सिराओं में फुलाव दिखाई देता है।

4. विमार्गगमन - स्वमार्गमुज्झित्वा मार्गान्तरासादनं स्त्रोतसां दुष्टैर्लक्षणम्।

(अ. ह. शा. 3/45 अरुणदत्त टीका)

विमार्गगमन का अर्थ है स्वमार्ग की मर्यादा को त्याग कर अन्य मार्ग में धातु अथवा मल का गमन होना। चक्रपाणिने इसका उदाहरण दिया कि - पुरीष का मूत्रमार्ग में गमन होना। अर्थात पुरीष स्वमार्ग में अवरोध होने के कारण अन्य मार्ग में प्रवेश करता है। अन्य उदाहरण यथा -उर्ध्व रक्तपित्त में रक्त स्वमार्ग का उल्लंघन कर मुख, नेत्र अथवा कर्णादि से प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार अधोगत रक्तपित्त में रक्त स्वमार्ग का उल्लंघन कर गुदा या मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता है।

प्राणवहस्त्रोतस मूल

प्राणवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं महास्त्रोतश्च। (च. वि. 5/7)

प्राणवह स्त्रोतस का मूल हृदय और महास्त्रोतस है।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु. शा. 9/11)

प्राणवहस्त्रोतस दो है व उनका मूल स्थान हृदय व रसवाहिनी धमनियाँ हैं। रसवाहिनी धमनियाँ प्राण का भी वहन करती है।

प्राणवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

क्षयात् संधारणाद्रौक्ष्याव्यायामात् क्षुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्त्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः।

(च. वि. 5/10)

1. क्षयात् - धातुओं का क्षय होने से। धातु क्षय के अनेक कारण होते है। जैसे अनशन, रोग की जीर्णावस्था से अधिक परिश्रम करने से आदि धातु क्षय से प्रकुपित वात प्राणवह स्त्रोतो दुष्टि के अन्य लक्षण उत्पन्न करती है।

2. संधारणात् - मल, मूत्र आदि वेगों को धारण करने से उत्पन्न उदावर्त रोग भी प्राणवहस्त्रोतो दुष्टि का हेतु होता है। वेग धारण करने से अपान वायु उर्ध्व मार्ग में गमन कर उदान वायु के साथ मिलकर प्राणवहस्त्रोतस में दुष्टि के लक्षण उत्पन्न करती है।

3. रौक्ष्यात् - रुक्ष द्रव्यों के सेवन से अथवा शरीर में अधिक रुक्षता उत्पन्न होने से अथवा श्वास मार्ग में रुक्षता उत्पन्न करने वाली धूम का अधिक सेवन करने से उदान वायु दुष्ट होकर श्वास-प्रश्वास की दुष्टि लक्षण उत्पन्न करता है।

4. व्यायामात् - अधिक व्यायाम करने से भी वात प्रकुपित होकर प्राणवहस्त्रोतस में दुष्टि उत्पन्न करते है।

5. क्षुधितस्य - क्षुधा अथवा पिपासा वेग धारण करने से पुन: वायु प्रकुपित होकर प्राणवायु को दुष्ट करती है।

5. दारुण कर्म -

दारुण कर्म का तात्पर्य पञ्चकर्म का अतियोग होने से, मर्म पर आघात होने से, शीत स्थान पर शीतल द्रव्यों के सेवन करना आदि दारुण कर्म करने से शरीरस्थ वायु प्रकुपित होकर प्राणवहस्त्रोतो के दुष्टि लक्षण उत्पन्न् करती है।

प्राणवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण

प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति; तद्यथा - अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्ट नीति विद्यात्। (च. वि. 5/7)

1. अधिक लम्बा श्वसन (Forced inspiration)
2. अधिक बद्ध या रुका हुआ श्वास (Obstructed inspiration)
3. कुपित श्वास (Toxic Inhalation)
4. थोड़ा थोड़ा परन्तु बार बार श्वास लेना (Interrupted respiration)
5. शब्द युक्त व उर:शूल युक्त श्वास लेना (Associated with chestpain inspiration)

प्राणवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्याक्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति। (सु. शा. 9/12)

प्राणवहस्त्रोतस के मूल हृदय व रसवाही धमनियों में शस्त्र द्वारा वेध होने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते है

1. आक्रोश (Stress of obstructed respiration)
2. शरीर का झुकना (Bending of the body)
3. मूर्च्छा (Disorientation)
4. चक्कर आना (Vertigo)
5. कम्पन्न होना (Tremors)
6. मृत्यु (Death)

उदकवहस्त्रोतस मूल

उदकवहानां स्त्रोतसां तालुमूलं क्लोम च। (च. वि. 5/7)

उदकवह स्त्रोतस का मूल तालु व क्लोम है।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च। (सु. शा. 9/12)

उदकवह स्त्रोतस दो है- तालु व क्लोम

उदकवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

औष्ण्यदामाद्धयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात्। अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चतिपीडनात्।।

(च. वि. 5/11)

उदकवह स्त्रोतस दुष्टि हेतु शरीर के सौम्यधातु में दुष्टि करने वाले निदानों को सम्मिलित किया गया है।

1. उष्ण आहार विहार के सेवन से - पित्त दोष दुष्ट होकर जलीय धातुओं को दुष्ट करता है।

2. आम दोष के कारण - गुरु भोजन करने से अथवा अधिक मात्रा में भोजन करने से आम उत्पन्न होता है जिसके परिणामस्वरुप अधिक मात्रा में जल पीने की इच्छा होती है।

3. भय के कारण - भय, शोक आदि मानसिक भावों के कारण वायु प्रकुपित होकर उदकवहस्त्रोतस में दुष्टि उत्पन्न करता है।

4. मद्य आदि के पान से - मद्य के समान अन्य तीक्ष्ण द्रव्यों का प्रयोग करने से अन्तर्दाह तृष्णा आदि लक्षण उत्पन्न होते है। (च. चि. 24/112-113)

5. अतिशुष्कान्न के सेवन से - मात्राशितीय अध्याय में आचार्य चरक ने बताया है कि शुष्कद्रव्यों का सेवन कभी नहीं करना चाहिये। **वल्लूरं शुष्कशाकानि.....। नाभ्यसेद्....।** (च. सू. 05/10)

वल्लूर अर्थात शुष्क मांस, शुष्क शाक, शुष्क फलों का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये। शुष्क द्रव्यों के अतिसेवन से उदकवह स्त्रोतस में दुष्टि उत्पन्न होती है।

6. तृष्णा से रोगी अधिक पीड़ित होने पर वात व पित्त दोष अधिक प्रवृद्ध होकर शरीर की सौम्य धातु का शोष करते है।

उपरोक्त सभी निदानों के सेवन से उदकवहस्त्रोतो दुष्टि के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

उदकवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण

प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेष विज्ञानं भवति; तद्यथा - जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यल्यस्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। (च. वि. 5/7)

1. जिह्वा, तालु, औष्ठ, कण्ठ, क्लोम में शोष (Dry mouth, tongue, throat, palate etc.)

2. गम्भीर पिपासा उत्पन्न होना (Severe thirst)

उदकवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च। (सु. वि. शा. 9/12)

1. पिपासा (Thirst) 2. सद्योमरण (Quick death)

अन्नवह स्त्रोतस मूल

अन्नवहानां स्त्रोतसामाशयो मूलं वामं च पार्श्वं। (च. वि. 5/7)

अन्नवहस्त्रोतस के मूल आमाशय व वामपार्श्व होते है।

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्याश्च धमन्यः। (सु. शा. 9/16)

अन्नवह स्त्रोतस के दो मूल होते है - आमाशय व अन्नवाहिनी धमनियाँ होती है।

अन्नवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

अतिमात्रास्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अन्नवहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च।

(च. वि. 5/12)

1. अतिमात्रा में भोजन - अतिमात्रा में भोजन से अत्यशन व अध्यशन दोनों का ग्रहण करते है।

2. अकाल में भोजन - क्षुधा नहीं होने पर भी भोजन करना, क्षुधा होने पर भी भोजन नहीं करना।

3. अहित भोजन - अष्ट आहार विधि विधान के अनुसार भोजन नहीं करना।

4. अग्नि की विगुणता - अग्नि की दुष्टि का वर्णन पूर्व में कर चुके है। अग्नि के 13 भेदों का भी अध्ययन हम कर चुके है। जो कि इस प्रकार है (1) जाठराग्नि, (2) भूताग्नि -5, (3) धात्वाग्नि - 7। इन 13 प्रकार की अग्नियों में आधारभूत अग्नि जाठराग्नि को ही कहा गया है। अन्नवह स्त्रोतसों में दुष्टि का मुख्य हेतु जाठराग्नि तथा भूताग्नि की दुष्टि ही होगा क्योकि कोष्ठस्थ अग्नि व कोष्ठ के समीपस्थ स्थित भूताग्नि की दुष्टि द्वारा ही अन्नवह स्त्रोतो की दुष्टि के लक्षण उत्पन्न होते है।

अन्नवहस्त्रोतसदुष्टि लक्षण

अनन्नाभिलाषणमरोचकाविपाकौ छर्दिं च दृष्ट्वाऽन्नवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

(च. वि. 5/7)

1. अन्न न अभिलाषा - अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परं त्वनिच्छा। (चक्रपाणि)

अन्नद्वेष अथवा अन्न का तिरस्कार। व्यक्ति को भोजन की क्षुधा हो सकती है परन्तु फिर भी अन्न सेवन की इच्छा नहीं होती है जैसे किसी कार्य में व्यस्त होने के कारण इच्छा होने पर भी कार्य की व्यस्तता के कारण भोजन नहीं करना। इस व्यक्ति को आग्रह कर भोजन कराया जा सकता है व भोजन कराने पर वह स्वाद को समझता व सरहाता भी है

2. अरुचि - अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः। (चक्रपाणि)

रोगी को क्षुधा होती है व अन्न के प्रति प्रीति भी होती है परन्तु भोजन करने पर रुचि का बोध नहीं होता है। परिणामस्वरुप वह भोजन करे तो छर्दि आदि विकार हो सकते है।

3. अविपाक - अविपाक अथवा अजीर्ण एक ही अर्थ के द्योतक है कि भोजन का पाक नहीं होना। जाठराग्नि की दुष्टि से अविपाक की स्थिति उत्पन्न होती है। भोजन का परिपाक न होने पर अथवा जाठराग्नि की दुष्टि के कारण विष्टब्धाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण व आमाजीर्ण की स्थिति उत्पन्न होती है।

4. छर्दि - अन्नवह स्त्रोतस दुष्ट होने पर अनेक विकार उत्पन्न होते है छर्दि उन सभी विकारों के बोधक के रुप वर्णित किया है।

अन्नवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्याध्मानं शूलोऽन्नद्वेषश्छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च। (सु. शा. 9/13)

अन्नवह स्त्रोतस में विद्ध होने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं।

1. आध्मान (Distended abdomen)
2. शूल (Pain)
3. अन्नद्वेष (Disliking for food)
4. वमन (Vomiting)
5. तृष्णा (Thirst)
6. अन्धता (Blindness)
7. मृत्यु (Death)

विद्ध लक्षण दुष्टि लक्षण के समान ही वर्णित किये गये है।

रसवहस्त्रोतस मूल

रसवहानां स्त्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। (च. वि. 5/7)

रसवह स्त्रोतस का मूल हृदयं व दश धमनियाँ होती है।

रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु. शा. 9/112)

रसवह स्त्रोतस के दो मूल होते है हृदयं तथा दश रसवाही धमनियाँ

रसवहस्त्रोतसदुष्टि हेतु

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समक्षताम्। रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानां चातिचिन्तनात्।

1. गुरु भोजन का सेवन-पृथ्वीसोमगुणबहुलानीतराणि;..... गुरुणि पुनर्नाग्निसन्धुक्षणस्वभावान्यसामान्यात्।

गुरु द्रव्य पृथ्वी व सोम गुण बहुल होते है। यह अग्नि का संधूक्षण नहीं करते है। उदाहरण – पिठी, ईख विकार (गुड़, राब), दुग्ध विकार (दही, मलाई, रबड़ी), तिल, उड़द, आनूप मांस आदि द्रव्य स्वभाव से गुरु होते है।

2. शीतल द्रव्यों का सेवन – शीत वीर्य द्रव्यों का प्रयोंग करने से अग्नि दुष्ट होकर रस धातु को दुष्ट करती है।

3. अतिस्निग्ध द्रव्यों का सेवन – स्निग्ध द्रव्यों का अतिसेवन करने से भी अग्नि शीघ्र दुष्ट होकर रस धातु की दुष्टि उत्पन्न करती है।

4. अतिमात्रा में भोजन करना – भोजन करने के बाद पुनः भोजन करने से अथवा भोजन अतिमात्रा में करने से अग्नि दुष्ट होकर रस प्रदोषज विकार उत्पन्न करती है।

5. समशन करना – **पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशन मतम्।** (च. चि. 15/235) एक ही काल में पथ्य और अपथ्य को एक में मिलाकर भोजन करने को समशन कहा जाता है।

6. चिन्तनीय विषयों का अत्यधिक चिन्तन करना – चिन्तन मन का विषय है। अतः चिन्तनीय विषयो का अधिक चिन्तन करने से मन का विषय के प्रति अतियोग होता है। अतिन्द्रीय मन का अतियोग होने से विभिन्न प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

रसवह प्रदोषज विकार

अश्रद्धा अरुचिश्च आस्यवैरस्य अरसज्ञता। हल्लासो गौरवं तन्द्रा सांगमर्दो ज्वरस्तमः।।

पाण्डुत्वं स्त्रोतसां रोधः क्लैव्यं साद कृशांगता। नाशोऽग्नेरयथाकालं वलयः पलितानि च।

(च. सू. 28/9)

अश्रद्धा, अरुचि, आस्यवैरस्य, अरसज्ञता, हल्लास, गौरवं, तन्द्रा, अंगमर्द, ज्वर, तम, पाण्डु, स्त्रोतोवरोध, क्लैव्य, अंगसाद, कृशाङ्गता, अयथाकाल में वलि और पालित्य होना।

रसवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिंगानि च ।।

शोष लक्षण के अतिरिक्त प्राणवह स्त्रोतो विद्ध के ही लक्षण दिखाई देते है।

रक्तवहस्त्रोतस मूल

शोणितवहानां स्त्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च। (च. वि. 5/7)

रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः। (सु. शा. 9/16)

रक्तवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ।। (च. वि. 5/14)

1. विदाही अन्नपान का प्रयोग - जो आहार विपाक पश्चात् रक्त में दुष्टि उत्पन्न कर सम्पूर्ण शरीर में दाह उत्पन्न करता है।

2. स्निग्ध भोजन का प्रयोग - रक्त दुष्टि के निदानों का वर्णन करते हुये चरक संहिता में स्निग्ध भोजन का भी वर्णन किया गया है। रक्त दुष्ट होने के कारण रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते है।

3. उष्ण द्रव्यों का प्रयोग - उष्ण द्रव्यों के प्रयोग से भी रक्त दुष्टि होने के कारण रक्तप्रदोषज विकार उत्पन्न होते है।

4. द्रव द्रव्यों का प्रयोग - द्रव द्रव्यों के द्वारा रक्त दुष्ट होकर रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होता है।

5. आतप व वायु के अधिक सेवन - धूप व तेज वायु का सेवन करने से भी रक्त दुष्ट होकर रक्त प्रदोषज विकार उत्पन्न होते है।

रक्तवहस्त्रोतोदुष्टि अन्य हेतु

रक्तवह स्त्रोतस की दुष्टि के हेतु विधिशोणितीयाध्याय में वर्णित रक्त दुष्टि निदान के समान ही है। अत: रक्त दुष्टि हेतुओं का सेवन करने से ही रक्तवहस्त्रोतस दुष्टि लक्षण उत्पन्न होते है।

रक्तवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण

रक्त प्रदोषज विकार - कुष्ठ्वीसर्पपिडकारक्तपित्तमसृग्दर:। गुदमेढ्रस्यपाकश्च प्लीहागुलमोऽथ विद्रधि:। नीलिका कामलाव्यङ्ग: पिप्लवस्तिलकालका:।। दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्त्रमण्डलं। रक्तप्रदोषाज्जायन्ते।।

(च. सू. 28/11-12)

कुष्ठ, विसर्प, पिडका, रक्तपित्त, असृग्दर, गुद पाक, मेढ्र पाक, मुखपाक, प्लीहावृद्धि, रक्तगुल्म, - विद्रधि, न्यच्छ, व्यंग, नीलिका, तिलकालक, पिप्लु, इन्द्रलुप्त, कामला, पामा, चर्मदल, कोठ, श्वित्र, वातरक्त, रक्तमण्डल, मषक, दद्रु, अर्श, अर्बुद।

रक्तवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्य श्यावांगता ज्वरो दाह: पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च।। (च. वि. 9/16)

1. श्याव अंगता (Blackish discolouration)
2. ज्वर (Fever)
3. दाह (Burning sensation)
4. पाण्डुता (Anaemia)
5. शोणितागमन - रक्तस्राव की अधिकता होना (Haemorrage)
6. रक्तनेत्रता (Subconjuctival haemorrage))

मांसवह स्त्रोतस मूल

मांसवहानां च स्त्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च। (च. वि. 5/7)

मांसवह स्त्रोतस का मूल स्नायु व त्वचा होती है।

मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्त वहाश्च धमन्यः। (सु. सू. 9/16)

मांसवहस्त्रोतस के दो मूल होते है - स्नायु व त्वचा, रक्तवाही धमनियाँ

मांसवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

अभिष्यदीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरुणि च। मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा।

(च. वि. 5/15)

1. अभिष्यन्दी भोजन - जिन द्रव्यों में पिच्छिल व गुरु गुण का आधिक्य होता है ऐसे द्रव्य सम्पूर्ण शरीर में मांसवह स्त्रोतसों को अवरुद्ध कर शरीर में गुरुता उत्पन्न कर देते हैं। जैसे दधि।

2. स्थूल भोजन का सेवन - स्थूल पशुओं के मांस का सेवन करने से मांसवह स्त्रोतस अवरुद्ध हो जाते है।

3. गुरु भोजन का सेवन -गुरु भोजन का अधिक सेवन करने से भी मांसवह स्त्रोतस अवरुद्ध होते है जिससे उत्तरोत्तर धातुओं का निर्माण नहीं होता वरन् मांस धातु की अधिक वृद्धि होती है।

4. भोजन करने के पश्चात् दिन में शयन करना - ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त दिन में शयन नहीं करना चाहिये क्योंकि दिन में शयन करने से कफपित्त प्रकुपित होते है। भोजन करने के तुरन्त बाद शयन करने से कफअधिक प्रकुपित होकर मांसवहस्त्रोतस को अवरोधित करता है।

मांसवह स्त्रोतोदुष्टि लक्षण

मांस प्रदोषज विकार- अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके । पूतिमांसालजीगण्डगण्डमालोपजिव्हिका। (च. सू. 028/13-14)

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिव्होपजिव्होपकुशगलशुण्डिकाऽलजीमांससङ्घातौष्ठप्रकोपगलगण्डगण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः। (सु. सू. 25/12)

अधिमांस, अर्बुद, कील, गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमांस, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिव्हा, उपकुश, गलशुण्डिका, अलजी, माससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

मांसवहस्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च।। (सु. शा. 9/27)

1. शोथ (Inflammation)
2. मांसशोष (Wasting of muscles)
3. सिरा में ग्रन्थि बनना (Varicosity or aneurysms)
4. मृत्यु (Death)

मेदोवहस्त्रोतस मूल

मेदोवहानां स्त्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च। (च. वि. 5/7)

मेदोवह स्त्रोतस का मूल वृक्क व वपावहन है।

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटि वृक्कौ च। (सु. शा. 9/16)

मेदोवह स्त्रोतस के मूल होते है- कटि व वृक्क

मेदोवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

अव्यायामाद्दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिभक्षणात्। मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात्।।

(च. वि. 5/16)

1. अव्यायाम - व्यायाम करने से श्लेष्म रोग उत्पन्न नहीं होते है। नित्य व्यायाम करने से अग्नि दीप्त होने के कारण गुरु व स्निग्ध भोजन भी शीघ्रता से पच जाते है। व्यायाम नहीं करने से श्लेष्म वृद्ध होकर मेदोवह स्त्रोतस में अवरोध उत्पन्न करता है :

2. दिवास्वप्न - दिवास्वप्न के कारण कफपित्त दोष प्रकुपित होते है व दिवास्वप्न का निषेध मेद प्रधान व्यक्ति के लिये बताया गया है।

3. मेद्य द्रव्यों का अधिक प्रयोग - मेद प्रधान मांस का प्रयोग करने से स्त्रोतसों में अवरोध उत्पन्न होता है।

4. वारुणी नामक मद्य का अधिक सेवन - ताड व खर्जुर वृक्ष से प्राप्त निरे का किण्वीकरण करने से वारुणी नामक मद्य प्राप्त होती है।

मेदोवहस्त्रोतोदुष्टि लक्षण

निन्दितानि प्रमेह्यणां पूर्वरुपाणि यानि च। (च. सू. 28/15)

अष्ट निन्दति व्याधि होना, प्रमेह के पूर्वरुप दिखाई देना, ग्रन्थि, वृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, (मेदाज औष्ठ रोग), मधुमेह, अतिस्थौल्य, अतिस्वेद प्रवृत्ति

मेदोवहस्त्रोतसविद्ध लक्षण

तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलता शोफ पिपासा च।। (सु. शा. 9/18)

1. स्वेद की प्रवृत्ति होना (Hyperperspiration)
2. अंगों में स्निग्धता होना (Excessive moisture)
3. तालुशोष (Dry palate)
4. स्थूल शोफ होना (Non Pitting odema)
5. पिपासा (Thirst)

अस्थिवहस्त्रोतो मूल

अस्थिवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं जघनं च। (च. वि. 5/7)

अस्थिवह स्त्रोतस के मूल मेदोवह स्त्रोतस के मूल तथा जघन प्रदेश होता है।

आचार्य सुश्रुत ने अस्थिवह स्त्रोतस का उल्लेख नहीं किया है।

अस्थिवह स्त्रोतो दुष्टि हेतु

व्यायामादतिसंक्षोभादस्नामतिविघट्टनात्। अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्।।

(च. वि. 5/17)

1. व्यायाम - अधिक श्रम करने से
2. अतिसंक्षोभ - अस्थियों को अधिक क्षोभ देने से
3. अस्थियों का अतिविघट्टन होने से - अस्थियों का अधिक विघट्टन करने से।
4. वात प्रधान आहार विहार का सेवन करने से अस्थिप्रदोषज विकार उत्पन्न होते है।

अस्थिवह स्त्रोतो दुष्टि लक्षण

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता। केशलोमनखश्मश्रुदोषाश्चास्थिप्रदोषजाः।। (च. सू. 28/16)

अध्यस्थि, अधिदन्त, दन्तभेद, अस्थिभेद, अस्थिशूल, विवर्णता, केश, लोम, नख, श्मश्रु आदि में दोष उत्पन्न होना,

मज्जावह स्त्रोतोमूल

मज्जवहानां स्त्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च। (च. वि. 5/7)

मज्जावह स्त्रोतस के मूल अस्थि के मूल तथा सन्धियाँ होती है।

आचार्य सुश्रुत ने मज्जावह स्त्रोतस का उल्लेख नहीं किया है।

मज्जावह स्त्रोतो दुष्टि हेतु

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात्। मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात्।

(च. वि. 5/18)

1. **उत्पेषाद्** - अस्थियों के कुचल जाने से

2. अति अभिष्यन्द के कारण - अभिष्यन्द भाव वालों कफ के मज्जा में भर जाने के कारण

3. अभिघात से - आघात लगने के कारण

4. प्रपीडन से -

5. विरुद्ध भोजन करने से - जो द्रव्य दोषों को अपने स्थान से उभार देते है पर उसे शरीर से बाहर न निकाले इस प्रकार के आहार द्रव्य मज्जावह स्त्रोतों की दुष्टि करते है।

मज्जावह स्त्रोतो दुष्टि लक्षण

मज्जाप्रदोषज विकार- रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा। अरूंषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम्। (च. सू. 28/17)

पर्वो में पीड़ा होना, भ्रम, मूर्च्छा, आंखो के आगे अंधेरा आना, सधिंयो पर स्थूल मूल वाली फुन्सियां होना।

शुक्रवह स्त्रोतो मूल

शुक्रवहानां स्त्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च। (च. वि. 5/7)

शुक्रवह स्त्रोतस के मूल वृषण व शेफहोते है।

शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च। (सु. शा. 8/21)

शुक्रवह स्त्रोतस के दो मूल होते है - स्तन व वृषण

शुक्रवह स्त्रोतो दुष्टि हेतु

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्। शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा। (च. वि. 5/19)

1. अकाल मैथुन
2. अयोनि में गमन
3. शुक्र वेग धारण करने से
4. अतिमैथुन करने से

5. शस्त्र क्षार व अग्नि के द्वारा - शुक्र की प्रकृति सौम्य है जबकि अग्नि आदि द्रव्यों की प्रकृति तीक्ष्ण व उष्ण होती है इन द्रव्यों का अतिसेवन करने से शुक्रवह स्त्रोतस को दुष्ट होते हैं।

शुक्रवह स्त्रोतो दुष्टि लक्षण

शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्। रोगि वा क्लीबमल्पायुर्विरुपं वा प्रजायते।। न चास्य जायते गर्भः पतति प्रस्त्रवत्यपि। शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्। (च. सू. 28/18-19)

शुक्र दुष्टि होने पर क्लैव्य, अहर्षण, शुक्रमेह, शुक्राश्मरी, शुक्रदोष, विविध गर्भ विकार आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

शुक्रवह स्त्रोतस विद्ध लक्षण

च तत्र विद्धस्य क्लीबता चिरात्प्रसेको रक्तशुक्रता च।

1. क्लीबता (Impotency)
2. चिरात्प्रसेक (Delayed ejaculation)
3. रक्तशुक्रता (Haematospermia)

मूत्रवहस्त्रोतो मूल

मूत्रवहानां स्त्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च। (च. वि. 5/7)

मूत्रवहस्त्रोतस का मूल बस्ति तथा वंक्षण हैं।

मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च। (सु. शा. 9/19)

मूत्रवहस्त्रोतस के दो मूल है - बस्ति व मेढ्र

मूत्रवहस्त्रोतोदुष्टि हेतु

मूत्रतोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्। मूत्रवाहीनी दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च।। (च. वि. 5/20)

1. मूत्र वेग धारण कर जल पीने से
2. मूत्रवेगधारण कर भोजन करने से
3. मूत्रवेगधारण करते हुये स्त्रीसेवन करना

इन तीनों अवस्थाओं में वेग धारण करने से अपान वायु प्रकुपित होती है अपान वायु का अनुलोमन करने की बजाये यदि पुन: जल अथवा भोजन ग्रहण कर लेता है तो अपान वायु उदान आदि वायु के साथ संयुक्त होकर मूत्रवहस्त्रोतो को दुष्ट करती है।

4. रोगी के क्षीण होने पर
5. मूत्रवाहीस्त्रोतस पर आघात लगने से।

मूत्रवहस्त्रोतो दुष्टि लक्षण

अतिसृष्टंतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्टवा मूत्रवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। (च. वि. 5/7)

1. मूत्र की अधिक प्रवृत्ति होना - मूत्र की अतिप्रवृत्ति होना
2. मूत्र का रुक- रुक कर आना-मूत्र मार्ग में अवरोध उत्पन्न होने के कारग मूत्र की कृच्छ्रता से प्रवृत्ति होना।
3. विकृत मूत्र आना - मूत्र सामान्य संघटन में आना।
4. अल्प मात्रा में परन्तु बार बार शूल के साथ मूत्र की प्रवृत्ति होना

मूत्रवह स्त्रोतोविद्ध लक्षण

तत्रविद्धस्यानद्ध बस्तिता मूत्रनिरोध: स्तब्धमेढ्र ता च।। (सु. शा. 9/19)

1. बस्ति का फूलना (Distended bladder)
2. मूत्र का अवरोधित होना (Urine obstruction)
3. मेढ्र में स्तब्धता होना (Stiffness in penis)

पुरीषवहस्त्रोतो मूल

पुरीषवहानां स्त्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च। (च. वि. 5/8)

पुरीषवह स्त्रोतस का मूल पक्वाशय व स्थूल गुद होते है।

पुरीषवहद्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च। (सु. शा. 9/12)

पुरीषवह स्त्रोतस के दो मूल है - पक्वाशय तथा गुद

पुरीषवहस्त्रोतो दुष्टि हेतु

संधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात्तथा। वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च।। (च. वि. 5/21)

1. वेग संधारण - न वेगान् धारणीय अध्याय में वर्णित है कि पुरीष वेगों का धारण करने से पुरीषवह स्त्रोतस के मूल पक्वाशय में वेदना होती है व आध्मान होता है।

2. अति अशन -

3. अजीर्णाशन करने से

4. अत्याशन करने से

5. कृश व्यक्ति की अग्नि अधिक दुर्बल होने से

भोजन अधिक मात्रा में करने से, अजीर्णाशन करने से, अत्यशन करने से अथवा अन्य किसी भी कारण से अग्नि दुर्बल हो जाने से भोजन का पाक सम्यक् रुप से नहीं होता है जिससे प्रसाद भाग कम बनता है व किट्ट अधिक मात्रा में बनने से मल को अतिप्रवृत्ति होगी अथवा आम बनने पर दुर्गन्ध युक्त पिच्छिल मल की प्रवृत्ति होगी।

पुरीषवहस्त्रोतो दुष्टि लक्षण

कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। (च. वि. 5/8)

1. कृच्छ्रता से मल की प्रवृत्ति होना - कठिनता से मल की प्रवत्ति।

2. अल्प मात्रा में मल प्रवृत्ति - थोड़ा, थोड़ा शब्द के साथ मल की प्रवृत्ति।

3. शूल युक्त मल की प्रवृत्ति - अपान वायु अवरोध होने के कारण शूल के साथ मल की प्रवृत्ति होती है।

4. अतिग्रथित मल प्रवृत्ति - मल का वेग धारण करने से मल में स्थित जल का अवशोषण अधोगुद की आभ्यान्तर स्तर के द्वारा कर लिया जाता है। जिससे मल ग्रन्थि रुप में परिवर्तित हो जाता है।

5. अति मात्रा में मल प्रवृत्ति - मात्रा से अधिक मल की प्रवृत्ति होना।

6. बार बार मल की प्रवृत्ति होना - अपान वायु अवरोधित होकर मल की बार बार प्रवृत्ति करवाती है।

पुरीषवहस्त्रोतो विद्ध लक्षण

तत्रविद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च।। (सु. शी. 9/12)

1. आनाह (Distended abdomen)

2. दुर्गन्धित मल की प्रवृत्ति होना (Foul smell in stool)

3. आन्त्र में मल संचित होकर सूख जाने के कारण आन्त्र कठोर हो जाती है अथवा आन्त्र आपस में गुथ जाने के कारण (Intussception) मल की प्रवृत्ति नहीं होती है

स्वेदवहस्त्रोतस

स्वेदवहानां स्त्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च। (च. वि. 5/7)

स्वेदवह स्त्रोतस के मूल मेदो वह स्त्रोतस के मूल ही है तथा लोमकूप भी स्वेदवह स्त्रोतस का मूल होता है।

सुश्रुत संहिता में स्वेदवह स्त्रोतस का उल्लेख नहीं मिलता है।

स्वेदवहस्त्रोतो दुष्टि हेतु

व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रम सेवनात्। स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा। (च. वि. 5/22)

1. व्यायाम करने से -
2. अतिसंताप से -
3. अनुचित रुप से शीत उष्ण आहार विहार का सेवन करने से -
4. क्रोध, शोक तथा भय के कारण

स्वेदवह स्त्रोतोदुष्टि लक्षण

अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्ष च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य स्त्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्। (च. वि. 5/8)

1. स्वेद की सर्वथा प्रवृत्ति नहीं होना (Lack of sweating) -

2. स्वेद की अधिक प्रवृत्ति होना (Excessive sweating)-

3. त्वचा का परुष अथवा कठिन होना (Rough skin) - स्वेद की प्रवृत्ति नहीं होने से त्वचा की आर्द्रता नष्ट हो जाती है जिससे त्वचा में नमी न होने के कारण कठिन प्रतीत होती है।

4. अतिश्लक्ष्ण अथवा चिपचिपा (Sticky skin) - स्वेद की अतिप्रवृत्ति होने से त्वचा अधिक आर्द्र होने के कारण श्लक्ष्ण प्रतीत होगी

5. अंगों मे दाह (Burning Sensation) - स्वेद की प्रवृत्ति नहीं होने पर शरीर में दाह होता है जैसे ज्वर

6. लोमहर्ष (Goose Flesh) - स्वेद की कमी होने पर व्यान वात अधिक मात्रा में प्रकुपित होकर लोमहर्ष उत्पन्न करते है।

खवैगुण्य व स्त्रोतो दुष्टि

खवैगुण्य - खवैगुण्य अर्थात स्त्रोतोवैगुण्य का शाब्दिक अर्थ

रव अर्थात् आकाश युक्त स्थान वैगुण्य- विकृति उत्पन्न होना।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संग खवैगुण्यात् व्याधिस्तत्र उपजायते। (सू. सू. 24/19)

अहितकर आहार विहार के विशेष अंश के सेवन से ख वैगुण्य होता है अर्थात् स्त्रोतसों में विकृति उत्पन्न होती है। जिससे परिभ्रमण करते हुये दोष स्त्रोतो में रुक जाते है। इस प्रकार रुके हुये दोष स्त्रोतो में धातुओं के परिवहन को भी अवरोधित करते है।

जैसे वृक्षाश्मरी वृक्क में निर्मित हुये मूत्र के प्रवाह को अवरोधित करती है। जिससे मूत्र बाहर निकलने की बजाय वृक्कों में एकत्रित होने लगता है।

स्त्रोतो दुष्टि - अहितकर आहार विहार के सेवन से दोष विषम होकर संचय, प्रकोप, प्रसर की अवस्था तक पहुँच जाते है किन्तु व्याधि उत्पन्न नहीं कर पाते है। केवल दोषो की विषमावस्था के ही लक्षण उत्पन्न होते है। ख वैगुण्य होने पर प्रकुपित दोष वही रुकते है उस स्त्रोतस में स्थित धातु मल आदि को दूषित करके दूष्य रुप में परिवर्तित कर देते है। जिससे कुछ समय पश्चात् दोष दूष्य समूर्च्छना की अवस्था उत्पन्न होती है। यह व्याधि की स्थानसंश्रयावस्था भी कहलाती है। दोष दुष्ट होकर न केवल धातुओं को कुपित करते है, अपितु अपने समीपवर्ती स्त्रोतसों को विकृत या दूषित करके उस स्थान पर रोग उत्पन्न करते है।

खवैगुण्य निदान के विशेष अंश से होता है और स्त्रोतो दुष्टि प्रकुपित दोष के कारण स्त्रोतसों के दूषित होने पर होती है।

खवैगुण्य Functional Disorder	**स्त्रोतोदुष्टि Oraganic Disorder or Structural Changes**
1. स्त्रोतों में स्थित धात्वाग्नि दुष्टि होने से स्त्रोतो के सामान्य कर्मो में विषमता उत्पन्न होती है।	1. धातुओं का उत्तरोत्तर सम्यक परिणमन् नही होता है।
2. यह प्रथम अथवा प्रारम्भिक अवस्था है।	2. यह उत्तर अवस्था है।
3. दोष प्रकोपक आहार-विहार अथवा बीज दोष आदि कारणों से खवैगुण्य उत्पन्न होता है।	3. दोष प्रकोपक निदानों का अधिक सेवन करने से स्त्रोतोदुष्टि उत्पन्न होती है।
4. संचय, प्रकोप, प्रसर के कारण खवैगुणय उत्पन्न होता है।	4. स्थान संश्रय अवस्था से स्त्रोतोदुष्टि उत्पन्न होती है।
5. प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण इसके कोई व्यक्त लक्षण दिखाई नहीं देते।	5. स्त्रोतोदुष्टि के चार भेद होते हैं। जो स्पष्ट रूप से व्यक्त होते हैं। (अतिप्रवृति, संग, विमार्गगमन सिराग्रन्थि)

अध्याय-2

व्याधि विज्ञानम्

व्याधि शब्द की निष्पत्ति

"वि आङ्पूर्वक धा धातु में किंवा व्यध् ताडने" धातु से होती है।

व्युत्पत्ति

विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः । (च. चि. 1/4 चक्रपाणि टीका)

जो विविध प्रकार के दुःखो को धारण करावे अथवा देह या मन में रुजा या व्यथा उत्पन्न करे वह व्याधि कहलाती है।

परिभाषा

1. **अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते।**

तद् दुःख संयोगा व्याधय उच्यन्ते। (सु. सू. 1/22)

पञ्चमहाभूत व आत्मा के संयोग से पुरुष बना है। यहाँ पञ्चमहाभूत का अर्थ शरीर की समस्त इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठान व सभी अंग प्रत्यंग होते है। यदि इन सभी में किसी भी कारण से विकार या दुःख का संयोग होना व्याधि कहलाता है।

2. **तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति।** (च. सू. 28/8)

दोष प्रकुपित होकर धातु, उपधातु अथवा मल मार्गो में जाकर उन्हे दूषित कर व्याधि उत्पन्न करते है।

3. **तथाविध दोषदूष्यः सम्मूर्च्छना विशेषो। ज्वरादि रुपो व्याधिः तत्कार्याश्चारुच्यादयः।**

(माधवनिदान 1/7 मधुकोश)

किसी भी व्याधि के लक्षणों की उत्पत्ति का मुख्य कारण दोष दूष्य सम्मूर्च्छना होती है। दोष दूष्यों के साथ संयुक्त होकर ज्वरादि व्याधियों को उत्पन्न करतें है।

तद् दुःख संयोगव्याधयः उच्यन्ते। (सु. सू. 1/30-31)

पुरुष जब दुःखों से संयुक्त होता है तो उसे व्याधि कहते है।

दुःख काय वाक् मानसी पीडा। (सु. सू. 1/23)

डल्हण शारीरिक, मानसिक व वाणी द्वारा जो पीडा पहुँचाती है वह व्याधि कहलाती है।

पर्याय

तत्र व्याधिरामयो गद आतङ्कोयक्ष्मा ज्वरोविकारो रोग इत्यनर्थान्तरम्। (च. नि. 1/5)

रोगः पाप्मा ज्वरो व्याधिर्विकारो दुःखमामयः। यक्ष्मातङ्कगदाबाधाः शब्दाः पर्यायवाचिनः।।

(अ. हृ. नि. 1/1)

1. **आमय - प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते।** (च. नि. 1/5 चक्रपाणि)
अधिकांशतः रोग आम से ही उत्पन्न होते है, अतः रोग को आमय कहा जाता है।

2. **गद - गद इव गदोऽनेककारणजन्यत्वात् यथा हि गदोऽनेककारणजस्तथा गदोऽपीति गदशब्दस्यार्थः।**

(सर्वाङ्गसुन्दरा)

गद का अर्थ विष है दूषित त्रिदोष, दूष्य, अग्नि दुष्ट होने से उत्पन्न व्याधि, विष के समान हानिकारक होती है।

3. **आतंक - आतङ्कशब्देन हि भयमप्युच्यते। आतंक इति दुःखयुक्तत्वेन कृच्छ्रजीवनं करोति,** (च. नि. 1/5 चक्रपाणि)। जो जीवन को कष्ट पूर्वक बना दे।

3. यक्ष्मा - यक्ष्मशब्देन च राजयक्ष्मवदनेकरोग युक्तत्वं विकाराणां दर्शयति।

जिस प्रकार राजयक्ष्मा अनेक रोग युक्त होता है। अनेक रोग युक्त होने के कारण, विकार को यक्ष्मा कहते है।

4. **ज्वर - ज्वरशब्देन च देहमनः संताप करत्वम्।** (च. नि. 1/5 चक्रपाणि)
शरीर व मन में संताप उत्पन्न करने वाला ज्वर होता है।

5. **विकार - विकारो धातु वैषम्यं**
धातुओं में विषमता होना ही विकार कहलाता है।

6. **रोग - रोग शब्देन च रुजा कर्त्तृत्वम्।** (च. नि. 1/5 चक्रपाणि)
वेदना का कारण होने से रोग कहते है।

7. **पाप्मा - पाप्मेति किल सर्वे रोगाः पापस्य कर्मणः फलमिति कृत्वा पाप्मेत्युच्यते।** (सर्वाङ्गसुन्दरा)
पाप कर्म से उत्पन्न होने के कारण पाप्मा कहते है।

8. **आबाध - आबाध इति आसमन्तात् कायमनसोर्बाधनं पीडेत्यर्थः।** (सर्वाङ्गसुन्दरा)
काय व मन को बाधित करने के कारण शरीर व मन की क्रियायें सम्यक् रुप से नही हो पाती है, यह अवस्था आबाध कहलाती है।

9. **दुःख - तद्दुःखसंयोगा व्याधयः उच्यन्ते।** (सु. सू. 1/22)
आत्मादि की अप्रसन्नता किंवा दुःखसंयोग को ही रोग कहा जाता है।

रोगों का वर्गीकरण

एक भेद से

1. दुःख सामान्यात् (च. वि. 6/3)
सभी प्रकार की व्याधियों में दुःख सामान्य रुप से मिलता है।

2. रुक् सामान्यात् (च. सू. 20/3)
सभी प्रकार की व्याधियों में रुजा सामान्य रुप से मिलती है।

दो भेद से -

दश रोगानीक-दश रोगानीक अर्थात रोग समूह । आचार्य चरक ने विमान स्थान में दश रोगानीक का वर्णन करते हुये दश रोग समूहों का वर्णन किया है।

1. प्रभाव भेद से

द्वे रोगानीके भवतः प्रभावभेदेन - साध्यम्, असाध्यम् च।

(i) साध्य- जो रोग चिकित्सा करने पर शान्त हो जाते है।

(ii) असाध्य - जो रोग चिकित्सा करने पर भी शान्त नहीं होते है।

2. बल भेद से

द्वे रोगानीके बलभेदेन - मृदु, दारुणं चः,

(i) मृदु - जो रोग सौम्य स्वभाव के होते है अर्थात जिनके रुप, पूर्वरुपों की संख्या अल्प हो।

(ii) दारुण - जो रोग भयंकर स्वरुप वाले होते हैं अर्थात जिनके रुप, पूर्वरुपों की संख्या अधिक हो।

3. अधिष्ठान भेद -

द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन - मनोऽधिष्ठानं, शरीर अधिष्ठानं च।

(i) मनोधिष्ठान - रज व तम मानसिक दोष की दुष्टि से होने वाले मानसिक रोग कहलाते है।

(ii) शरीराधिष्ठान -वात, पित्त, कफशारीरिक दोषों की दुष्टि से होने वाले शारीरिक रोग कहलाते है।

4. निमित्त भेद से

द्वे रोगानीक निमित्त भेदेन - स्वधातुवैषम्यनिमित्तम्, आगन्तुनिमित्तं च,

(i) स्वधातु वैषम्य - मिथ्या आहार विहार के सेवन से दोष दुष्ट होकर रोग उत्पन्न करते है।

(ii) आगन्तुक - आघात आदि बाह्य हेतु के कारण रोग उत्पन्न होते हैं।

5. आशय भेद से

द्वे रोगानीके आशयभेदेन - आमाशयसमुत्थं, पक्वाशयसमुत्थं चेति।

(i) आमाशय समुत्थ - आमाशय के उर्ध्व तथा अधो भाग को आश्रय बना कर कफज और पित्तज रोग उत्पन्न होते हैं।

(ii) पक्वाशय समुत्थ - पक्वाशय को आश्रय बनाकर उत्पन्न वातज रोग।

6. हेतु के आधार

द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषां (रोगाणाम्) - आगन्तुनिजविभागात् (च. सू. 20/3)

हेतु के आधार पर रोग के दो भेद होते है 1. आगन्तुज 2. निज।

(i) आगन्तुज रोग - बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः। तेषु प्रहारेण व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोष वैषम्यम्।

आगन्तुज रोगो में अभिघात आदि के कारण प्रथम व्यथा होती है। उसके पश्चात् दोषों की विषमता होती है। अतः दोषों की विषमता दोनों रोगों में ही होती है।

(ii) निज रोग - तत्र निजास्तु दोषोत्थाः। तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते, ततो व्यथाऽभिनिवर्तते।

निज या शरीर रोगों में प्रथम दोषों का वैषम्य होता है पश्चात् उसके कारण विविध वेदनायें होती है।

7. सामान्यज एवं नानात्मज रोग

चरक सूत्रस्थान में रोग चतुष्क के अन्तर्गत अध्याय 19 (अष्टोदरीय अध्याय) व अध्याय 20 (महारोगाध्याय) में क्रमशः सामान्यज रोगों व नानात्मज रोगो का वर्णन किया गया है।

(i) सामान्यज रोग - जो रोग वातादि दोष में से किसी भी एक दोष से अथवा दो दोषों के संसर्ग से अथवा तीन दोषों के संसर्ग से उत्पन्न होते है उन्हे सामान्यज रोग कहते है। जैसे ज्वर, अतिसार अथवा उदर रोग आदि रोगो के वातज भेद, पित्तज भेद, कफज भेद, संसर्गज व सन्निपातज भेद होते है।

(ii) नानात्मज रोग - जिन विकारों की उत्पत्ति केवल एक दोष के प्रकोप से ही होती है, अन्य कोई दोष उनकी उत्पत्ति का कारण नहीं होता है। ऐसे रोगो को नानात्मज रोग कहा जाता है।

अ. वात नानात्मज विकार - 80 विकार। जैसे कम्प, संकोच, आक्षेप, आयाम आदि रोग।

ब. पित्त नानात्मज विकार- 40 विकार। जैसे-दाह, अम्लोद्गार, मल, मूत्र आदि की पीतता, अत्याग्नि आदि।

स. कफ नानात्मज विकार - 20 विकार । जैसे - अतिनिद्रा, मुखमाधुर्य, कफष्ठीवन, गौरवादि

सामान्यज व नानात्मज रोगों का विस्तृत वर्णन प्रकरण अन्तर्गत किया जायेगा।

8. क्रिया भेद से

व्याधि का इस प्रकार का वर्गीकरण चिकित्सा के आधार पर किया जा रहा है।

द्विविधास्तु व्याधयः शस्त्रसाध्याः, स्नेहादिक्रियासाध्याश्च। तत्र शस्त्रसाध्येषु स्नेहादिक्रिया न प्रतिषिध्यते, स्नेहादिक्रियासाध्येषु शस्त्रकर्म न क्रियते। (सु. सू. 24/3)

(i) शस्त्र साध्य - छेदन, भेदन, लेखन, वेधन, एषण, आहरण, विस्रावण व सीवन आदि कर्मो के द्वारा व मण्डलाग्र आदि शस्त्र व जलौका आदि अनुशस्त्रों के द्वारा जिन रोगों का उपचार किया जाता है उन्हे शस्त्रसाध्य रोग कहा जाता है। जैसे भगन्दर, विद्रधि आदि।

(ii) स्नेहादि क्रिया साध्य - स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति कर्म, लेपादि कर्मो द्वारा जिन रोगो का उपचार किया जाता है, ऐसे रोगों को स्नेहादि क्रिया साध्य रोग कहा जाता है। जैसे ज्वर, अतिसार आदि

अवस्था भेद से रोग स्नेहादि क्रिया साध्य व शस्त्र साध्य होते है।

जैसे- **अश्मरी - औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति** (सु. चि. 7/3)

नवीन अश्मरी औषध साध्य होती है व प्रवृद्ध अवस्था में जब अश्मरी का आकार बढ़ गया हो तो शस्त्र साध्य होती है।

9. ऋतुकालिक अवस्था के आधार पर

दो भेद (i) प्राकृत रोग (ii) वैकृत रोग

(i) प्राकृत रोग - वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्। (अ. ह. नि. 2/50)

दोषों की ऋतु अनुसार संचय, प्रकोप आदि का वर्णन हम पूर्व में कर चुके है। यदि जिस ऋतु में जिस दोष का संचय पूर्वक प्रकोप होकर जो रोग उत्पन्न होना चाहिये उस ऋतु में उसी दोष का प्रकोप होकर रोग उत्पन्न हो तो उस दोष व रोग दोनो को प्राकृत कहा जाता है।

जैसे - शरद् ऋतु में प्रकुपित पित्त से पित्तज रोग उत्पन्न होना। बसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ से कफज रोग उत्पन्न होना, प्रावृट् ऋतु में प्रकुपित वात दोष के कारण वातज रोग उत्पन्न होना।

(ii) वैकृत रोग - वैकृतोऽयः स दुःसाध्यः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात्। (अ. ह. नि. 2/50)

प्राकृत रोग के विपरीत शरद् ऋतु में वात अथवा कफदोष प्रकुपित होकर वातज अथवा कफज रोग उत्पन्न करें। बसन्त ऋतु में वात अथवा पित्त प्रकुपित होकर वातज अथवा पित्तज रोग उत्पन्न करें। प्रावृट् ऋतु में कफ अथवा पित्त प्रकुपित होकर कफज अथवा पित्तज रोग उत्पन्न करें आदि सभी वैकृत रोग के उदाहरण है।

तीन भेद से -

1. कारण भेद से

(i) निज (ii) आगन्तुज (iii) मानस

(i) निज रोग - वातादि दोष प्रकुपित होने से होने वाले रोग निजरोग कहलाते हैं।

(ii) आगन्तुज रोग - आघात, जीवणु संक्रमण से होने वाले रोग आगन्तुज रोग कहलाते हैं।

(iii) मानस रोग - शोक, लोभ, भय, ईर्ष्या, द्वेष आदि भावों से होने वाले रोग को मानस रोग कहा जाता है। ईष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने से व अनिष्ट की प्राप्ति होने से होने वाले रोग मानस रोग कहलाते है।

2. मार्ग भेद से

(i) शाखाश्रित रोग (ii) कोष्ठाश्रित रोग (iii) मर्मस्थिसन्धिगतरोग

इन रोगों का वर्णन रोगमार्ग प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है।

3. दोष भेद से

(i) आग्नेय (ii) सौम्य (iii) वायव्य

यह भेद आचार्य चरक ने निदान स्थान में उल्लेखित किया है। यह क्रमशः पित्तज, कफज व वातज रोगों के पर्याय भेद ही है।

4. सुश्रुतोक्त वर्गीकरण

तच्च दुःखं त्रिविधं - आध्यात्मिकम् अधिभौतिक आदिदैवमिति। (सु. सू. 24/4)

(i) आध्यात्मिक (ii) अधिभौतिक (iii) आदिदैविक

आचार्य सुश्रुत ने रोगों के आध्यात्मिक आदि भेद दिये इसी के अन्तर्गत सात भेद बताये।

(i) आध्यात्मिक रोग - आत्मा का अर्थ है मन सहित शरीर, अतः मन सहित शरीर में शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ तथा मानसिक दोष रज अथवा तम से होने वाले रोगों को आध्यात्मिक रोग कहते है।

(ii) अधिभौतिक रोग - आचार्य सुश्रुत ने संघातबलप्रवृत्त रोगो को अधिभौतिक रोग कहा है। इन्हे आगन्तुज रोग भी कहते है।

(iii) आदिदैविक रोग - दैवीय अर्थात पूर्वजन्मकृत कर्मो के कारण होने वाले रोग को आदिदैविक रोग कहा जाता है।

5. अवस्था भेद से

(i) प्रत्युत्पन्न कर्मज	(ii) पूर्वकर्मज	(iii) उभयात्मक
(i) दोषज	(ii) कर्मज	(iii) दोषकर्मज
(i) दृष्टकर्मज	(ii) अदृष्टकर्मज	(iii) उभयात्मक

उपरोक्त तीनों वर्गीकरण व्याधि की विभिन्न अवस्थाओं के पर्याय भेद ही है।

(i) दोषज रोग अथवा प्रत्युत्पन्न कर्मज अथवा दृष्टपचारज - शास्त्र में जिस प्रकार का आहार विहार का विधान बताया गया है उसका परित्याग करने से दोष वैषम्य के कारण उत्पन्न होने से इसे दुष्टऽपचारज या प्रत्युत्पन्न कर्मज या दोषज रोग कहते है।

(ii) कर्मज रोग या पूर्वकर्मज रोग या अदृष्टकर्मज या दैवज रोग - किसी दृष्ट कारण के बिना जो रोग उत्पन्न होते है या जो जन्मान्तर में किए अशुभ कर्म के परिपाक का काल उपस्थित होने से जो उत्पन्न होते है, उन्हे कर्मज या अदृष्टकर्मज या पूर्वकर्मज रोग कहा जाता है।

(iii) दोषकर्मज या उभयात्मक - कुछ व्याधियाँ न केवल मिथ्या आहार विहार से अपितु पूर्वजन्मकृत कर्मो के कारण भी उत्पन्न होती है अर्थात् दोनों ही कारणों के संकर से उत्पन्न होती है। उन्हे उभयात्मक या उभयज या दृष्टादृष्टकर्मज या दोषकर्मज रोग कहा जाता हैं।

चार भेद से -

1. निदान भेद

ते चतुर्विधाः - आगन्तवः, शारीराः, मानसाः, स्वभाविकाश्चेति। (सु. सू. 1 / 32)

(i) आगन्तुज व्याधि - आगन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। (सु. सू. 1/33)

आगन्तुज रोग विषयुक्त वायु के स्पर्श से, अग्नि के संयोग से व शस्त्र अभिघात से उत्पन्न होते है।

(ii) शरीरिक व्याधि- शारीरास्त्वन्नपानमूला वातपित्तकफशोणितसन्निपातवैषम्यनिमित्ताः।

(सु. सु. 1/33)

शारीरिक रोग हीन, मिथ्या, और अतिमात्रा में प्रयुक्त अन्नपान के कारण कुपित हुए वात, पित्त, कफ , रक्त या इनके सन्निपात से उत्पन्न होते है।

(iii) मानसिक व्याधि- मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याऽभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतय इच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। (सु. सू. 1/33)

मानस रोग क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद, ईर्ष्या, अभ्यसूया, मनोदैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ आदि से तथा इच्छा और द्वेष के अनेक भेदों से उत्पन्न होते है।

(iv) स्वभाविक व्याधि - स्वभाविकस्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रकृतयः। (सु. सू. 1/33)

भूख, प्यास, वृद्धावस्था, निद्रा आदि स्वभाविक रोग होते हैं।

2. साध्यासाध्यता के आधार पर

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च। द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यच्चानुपक्रमं ।।

(च. सू. 10/9)

(i) सुख साध्य (ii) कृच्छ्रसाध्य (iii) याप्य (iv) असाध्य

इन रोगों का विस्तृत वर्णन प्रकरणान्तर्गत किया जायेगा।

सात भेद से

आचार्य सुश्रुत ने आध्यात्मिक, आधिभौतिक रोग व आदिदैविक रोगों को पुन: सात वर्गो में विभाजित किया है। 1. आदि बल प्रवृत्त 2. जन्मबलप्रवृत्त 3. दोष बलप्रवृत्त 4. कालबल प्रवृत्त 5. दैवबलप्रवृत्त 6. स्वभावबल प्रवृत्त 7. संघातबल प्रवृत्त आदि।

आचार्य वाग्भट्ट ने भी इसी प्रकार से व्याधियों को विभाजित किया है।

सुश्रुत	वाग्भट्ट
आदिबलप्रवृत्त	सहज रोग
जन्मबलप्रवृत्त	गर्भज रोग
दोषबलप्रवृत्त	जातज रोग
संघातबलप्रवृत्त रोग	पीडाज रोग
कालबलप्रवृत्त रोग	कालज रोग
दैवबलप्रवृत्त रोग	प्रभावज रोग
स्वभावबलप्रवृत्त रोग	स्वभावज रोग

1. आदिबलप्रवृत्त या सहज रोग

तत्रादिबलप्रवृत्ता ये शुक्रशोणितदोषान्वया: कुष्ठार्शप्रभृतय:, तेऽपि द्विविधा:: मातृजा:, पितृजाश्च।

(सु. सू. 24/5)

चरक इसे कुलज रोग कहते है। आधुनिक काल में इन्हें अनुवांशिक या Hereditary disease कहते है।

पिता के शुक्र अथवा माता के आर्तव दोष से उत्पन्न होने वाले कुष्ठ व अर्श आदि रोग आदिबलप्रवृत्त कहे जाते है। माता, पिता के शरीर मे स्थित दोष शुक्र, शोणित द्वारा भावी संतति में प्रवेश करते है। इन्हे चरक ने कुलज रोग कहा । आदिबलप्रवृत्त या कुलज रोग असाध्य होते है कुलज रोगों का वर्णन प्रमेह चिकित्सा के अन्तर्गत किया गया हैं।

डल्हण के मतानुसार **शुक्रशोणितदोषान्वया: शुक्रशोणितस्थितवातादि दोषजनिता:।**

(सु. सू. 24/5 डल्हण)

शुक्र व शोणित की दुष्टि का तात्पर्य है कि पिता के शरीर में दूषित हुये वातादि दोष शुक्र को भी दूषित करते हैं उसी प्रकार माता के शरीर में दूषित हुये दोष शोणित को दूषित करते है जिससे आदिबलप्रवृत्त व्याधि उत्पन्न होती है।

कुष्ठार्श प्रभृतयः - प्रभृतिर्गहणान्मेह क्षयादयः। (सु. सू. 24/5 डल्हण।)

कुष्ठ व अर्श के साथ साथ मेह व क्षय आदि भी आदिबलप्रवृत्त व्याधि ही है।

आदिबलप्रवृत्त व्याधि को दो भागों में बाँटा गया है।

(i) मातृजा - मातृजा इति मातुःशोणितजाः। (सु. सू. 24/5 डल्हण)

माता के दुष्ट आर्तव से उत्पन्न व्याधि मातृज आदिबलप्रवृत्त व्याधि कहलाती है।

(ii) पितृजा - पितृजाश्चेति पितुः शुक्रजाः। (सु. सू. 24/5 डल्हण)

पिता के दुष्ट शुक्र से उत्पन्न व्याधि पितृज आदिबलप्रवृत्त व्याधि कहलाती है।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्। ये चापि केचित् कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् (च. चि. 6/ 57)

प्रमेह से पीड़ित माता पिता का सन्तान प्रमेही हो तो उस सन्तान का प्रमेह साध्य नहीं होंता है, इसे जातप्रमेही कहते है।

विकार युक्त Chromosome एवं Gene के द्वारा होने वाली Hereditary disease को आदि बलप्रवृत्त व्याधि कहते हैं।

2. जन्मबलप्रवृत्त या गर्भज रोग

जन्मबलप्रवृत्ता ये मातुरपचारात् पंगुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामनप्रभृतयो जायन्ते। तेऽपि द्विविधाः रसकृता दौहृदापचारकृताश्च (सु. सू. 24/6)

गर्भवती माता द्वारा मिथ्याहार विहार सेवन करने से उत्पन्न होने वाली संतति में जो रोग उत्पन्न होते है उन्हे जन्मबलप्रवृत्त व्याधि कहते है।

अपचार इति दुष्टाहारचारवपचारः। (सु. सू. 24/5 डल्हण)

गर्भावस्था में माता द्वारा मिथ्या आहार ग्रहण करने के कारण तथा दुष्ट आचरण करने के कारण जन्मबलप्रवृत्त व्याधि उत्पन्न होती है।

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते। भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव वा।। (सु. शा. 2/54)

गर्भावस्था काल में माता द्वारा वात प्रधान आहार विहार करने से वायु प्रकुपित हो जाती है। तथा दौहृद की पूर्ति नहीं होने से बालक में निम्न रोग उत्पन्न होते है।

जैसे- (i) पंगु - जन्म से ही चलने के सामर्थ्य से रहित

(ii) जात्यन्ध - जन्म से ही दृष्टि की विकृति वाला।

(iii) बधिर - जन्म से ही श्रवण शक्ति से हीन हो।

(iv) मूक - जन्म से ही वाक शक्ति रहित

(v) मिन्मिन - जन्म से ही अनुनासिक उच्चारण करने वाला।

(vi) वामन - अतिह्रस्व शरीर वाला, बौनापन

(vii) कुब्ज अर्थात कुबड़ा, कुणि अर्थात विकृत हस्त वाला

जन्मबलप्रवृत्त रोग निदान भेद से दो प्रकार के होते है।

(i) रसकृत:- माता द्वारा सर्वरसाभ्यास नहीं करने से बालक कुपोषण जन्य विकार से ग्रसित होता है

(ii) दौह्रद अवमाननाकृत - चौथे मास में गर्भ का ह्रदय विकसित हो जाने के कारण गर्भिणी को दौह्रद संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में माता की इच्छा पूर्ति नहीं करने पर गर्भ स्थित बालक में जन्मबलप्रवृत्त व्याधि उत्पन्न होती है।

जन्मजात विकार को Congenital disease के समान माना जाता है।

3. दोषबलप्रवृत्त या जातज रोग

दोषबलप्रवृत्ता ये आतंकसमुत्पन्ना मिथ्याहारचारकृताश्च। तेऽपि द्विविधा- आमाश्यसमुत्पन्ना, पक्वाश्यसमुत्थाश्च। पुनश्च द्विविधा: शारीर मानसाश्च। त एते आध्यात्मिका। (सु. सू. 24/6)

जो व्याधियाँ शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ आदि के कारण व मानसिक दोष रज, तम के दुष्ट होने से उत्पन्न होती है वह दोषबलप्रवृत्त व्याधि कहलाती है। दोषबलप्रवृत्त व्याधि के दो निदान वर्णित किये है

(i) आतंक समुत्पन्ना- आतंका रोगा:, यथा प्रतिश्यायात् कास: कासात् क्षय इत्यादि।

पूर्वोत्पन्न रोग निदान स्वरुप में रहकर अन्य रोग की उत्पत्ति करते है। जैसे प्रतिश्याय से कास उत्पन्न होना, कास से क्षय उत्पन्न होना।

(ii) मिथ्याहारऽपचारकृत - मिथ्याहारविहारिणामिति मिथ्या अनुचित:। (सु. नि. 1/4 डल्हण)

अष्टआहरविधि विशेष आयतन के अनुसार भोजन विधि नहीं ग्रहण करने से तथा काय, वाग् व मन के द्वारा मिथ्या आचरण करने से दोष दूषित होकर दोषबलप्रवृत्त व्याधि उत्पन्न करते है।

इन व्याधियों के दो भेद है (i) आमाशय समुत्थ (ii) पक्वाशयसमुत्थ

इन्हे पुन: दो भागों में विभाजित किया गया है। (i) शारीरिक रोग (ii) मानसिक रोग

(i) आमाशयसमुत्थ - आमाशयसमुत्था नाभेरुपरिजा: कफपित्तजन्या वा। (चक्रपाणि)

आमाशयसमुत्थत्वेन आमाशयाश्रया: कफपित्तजा: सर्वे गदा गृह्यन्ते । (चक्रपाणि।)

नाभि से उपर होने वाली व्याधियाँ जिसमें कफ व पित्त दोष का प्राधान्य होता है उन्हे आमाशयसमुत्थ दोषबलप्रवृत्त व्याधि कहते है।

(ii) पक्वाशयसमुत्थ - पक्वाशयसमुत्था नाभ्यधोगता वातजन्या वा।

पक्वाशयसमुत्थग्रहणेन सर्वे वातजा: ।

नाभि से नीचे होने वाली व्याधियाँ जिनमें वात दोष का प्राधान्य होता है उन्हें पक्वाशयसमुत्थ दोषबलप्रवृत्त व्याधि कहते है।

पुन: अन्य विभाजन

(i) शारीरिक रोग - शारीरिक दोषों के वैषम्य से तथा प्रथम शरीर में होने वाले रोगों का शारीरिक दोषबलप्रवृत्त कहते है

(ii) मानसिक रोग - मानसिक दोषों के वैषम्य व प्रथम मन को प्रभावित करने वाले रोग को मानसिक दोषबल प्रवृत्त व्याधि कहते है।

दोषबलप्रवृत्त व्याधि को Acquired disorders के समकक्ष माना जाता है।

4. संघातबल प्रवृत्त या पीडाज रोग

संघातबलप्रवृत्ता य आगन्तवो दुर्बलस्य बलवद्विग्रहात् तेऽपि द्विविधाः - शस्त्रकृता व्यालकृताश्च। एते आधिभौतिकाः। (सु. सू. 24/7)

दुर्बलस्यबलवद्विग्रहादिति आगन्तुकारण विशेषो उपलक्षणं तेन पतनादिजन्यानापि ग्रहणम् (चक्रपाणि)

प्रहार, पतन आदि कारणों से उत्पन्न होने के कारण संघातबल प्रवृत्त व्याधि को आगन्तुज व्याधि भी कहा जाता है। जो व्याधि दुर्बल पुरुष के द्वारा बलवत्तर पुरुष के साथ कायिक, वाचिक या मानसिक रुप से कलह करने से उत्पन्न होती है उसे संघातबलप्रवृत्त व्याधि कहते है।

इसके दो भेद बताये गये है।

(i) शस्त्रकृत -शस्त्र प्रहार पीड़न आदि हिंसक कर्मो से होने वाली व्याधियाँ।

(ii) व्यालकृत -**व्यालकृता इति व्यालादुष्टव्याघ्रादयः।** (सु. सू. 24/5 डल्हण)

अर्थात् हिंसक जन्तुओं जैसे व्याल आदि के द्वारा आघात से उत्पन्न व्याधि।

संघात बलप्रवृत्त व्याधि को Traumatic disorders के समकक्ष रख सकते है।

5. कालबलप्रवृत्त या कालज रोग -

कालबलप्रवृत्ता ये शीतोष्णवातवर्षाप्रभृति निमित्ताः तेऽपि द्विविधाः व्यापन्नऋर्तुकृता, अव्यापन्नऋतुकृताश्च। (सु. सू. 24/7)

ऋतुओं के शीत, उष्ण, वात, वर्षा, आतप, निवात व अन्धकार आदि कारणों से जो रोग उत्पन्न होते है उन्हे कालबलप्रवृत्त कहा जाता है।

व्याधि के दो भेद निम्न है-

(i) अव्यापन्नऋतुकृत - अव्यापन्नर्तुकृताः कालस्वभावकृतपित्तादिचयादिकृताः। (चक्रपाणि)

दोषों के स्वभाविक रुप से ऋतु अनुसार संचय प्रकोप प्रसर द्वारा अनेक रोग उत्पन्न होते है जिसे अव्यापन्नऋतुकृत रोग कहा जाता है। जैसे बसन्त में कफप्रकोप से उत्पन्न होने वाले कफज रोगों को अव्यापन्न ऋतुकृत रोग कहा जाता है।

(ii) व्यापन्नऋतुकृत - स्वगुणैरतियुक्तेषु विपरीतेषु वा पुनः। विषमेष्वपि वा दोषाः कुप्यन्त्यृतुषु देहिनाम्।।

(सु. सू. 6/39)

अव्यापन्न ऋतु के लक्षणों के विपरीत लक्षणों वाले व्यापन्न ऋतुकृत रोग उत्पन्न होते है। ऋतु का अतियोग, अयोग तथा मिथ्या योग होना। जैसे ग्रीष्म ऋतु में तेज गर्मी अतियोग, कम गर्मी होना अयोग तथा ग्रीष्म ऋतु में वर्षा होना ग्रीष्म ऋतु का मिथ्या योग कहलाता है।

कालबलप्रवृत्त व्याधि को Seasonal disorders के समकक्ष माना जाता है।

6. दैवबलप्रवृत्त या प्रभावज रोग

दैवबलप्रवृत्ता ये देवद्रोहादभिशस्तका अथर्वणकृता उपसर्गजाश्च। तेऽपि द्विविधाः - विद्युदशनिकृताः पिशाचादिकृताश्च। पुनश्च द्विविधा - संसर्गजा, आकस्मिकाश्च। (सु. सू. 24/8)

दैवबलप्रवृत्ता इतिदैवशक्ति जाता इत्यर्थः। (सु. सू. 24/7 डल्हण)

देव, गुरु, ब्राहण आदि के साथ अभिद्रोह, करने से अथवा गुरुओं के अभिशाप से उत्पन्न या अथर्ववेद प्रणीत अभिचार मंत्रो के प्रयोग से तथा उपसर्गज अर्थात् संक्रामक रोगों से ग्रसित व्यक्तियों का संग करने से उत्पन्न व्याधियों को दैवबलप्रवृत्त व्याधि कहा जाता है।

दो भेद निम्न है।

(i) विद्युदशनिकृताः - विद्युत (तिरछी रुप से गिरने वाली विद्युतलता), अशनि (मूसल की तरह सीधे गिरने वाली विद्युत लता) से उत्पन्न होने वाली व्याधि को विद्युदशनिकृता व्याधि कहा जाता है।

(ii) पिशाचादिकृताः - पिशाच आदि से होने वाली व्याधियाँ पिशाचादिकृत व्याधि कहते है।

दैवबलप्रवृत्त व्याधि को पुनः दो भागों में बाँटा गया है।

(i) संसर्गज - संसर्गजा इति देवादिद्रोहकजनसंपर्कजा इत्यर्थः। (सु. सू. 24/7)

जे रोग दैवों के प्रतिद्रोह करने से तथा संक्रामक रोग जैसे ज्वर से पीड़ित व्यक्ति के साथ संसर्ग करने से उत्पन्न होते है उन्हे संसर्गज दैवबलप्रवृत्त रोग कहा जाता है।

(ii) आकस्मिक - आकस्मिक इति विनैव संसर्गप्रक्त न कर्म पीडितत्वेन जाता इत्यर्थः।

(सु. सू. 24/7 डल्हण)

जो व्याधियाँ संसर्ग के बिना होती है तथा जिनका कोई प्रत्यक्ष कारण दृश्यमान नहीं होता है फिर भी फैलती है। जैसे Sporadic disease

दैवबलप्रवृत्त व्याधि को Epidemic Disorder के समकक्ष रखा गया है।

7. स्वभावबलप्रवृत्त या स्वभावज रोग

स्वभावबलप्रवृत्ताः क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः। तेऽपि द्विविधाः- कालकृताश्च अकालकृताश्च। तत्र परिरक्षणकृताः कालकृताः। अपरिरक्षणकृता अकालकृताः। एते अधिदैविकाः। (सु. सू. 24/8)

स्वभाव वश होने वाली क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु आदि रोग को स्वभाव बलप्रवृत्त रोग कहा जाता है।

इनके दो भेद निम्न है

(i) कालकृत - उचित समय पर होने वाली क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जरा, मरण आदि रोगों का प्रतिकार नहीं किया जा सकता है। अतः इन रोगों के उत्पन्न होने पर इन्हें अन्नपान, रसायन आदि के सेवन से शान्त कर दिया जाता है। यद्यपि रसायन आदि के प्रयोग द्वारा इनका प्रतिकार किया जा सकता है तथापि क्षुधा होने पर भोजन करना, पिपासा होने पर जलपान करना, निद्रा वेग आने पर शयन आदि द्वारा इन्हे शान्त करना चाहिये।

(ii) अकालकृत -अकाले असमय जाता इत्यर्थः। (सु.सू. 24/7)

क्षुधा, पिपासा आदि का आविर्भाव समय से पूर्व होना अकालज स्वभाविक रोग है। जैसे भस्मक रोग में पित्त का आधिक्य व श्लेष्मा का क्षय होने से बार बार क्षुधा व पिपासा की प्रवृत्ति होना।

शार्ङ्गधर के अनुसार व्याधि वर्गीकरण -

आचार्य शार्ङ्गधर ने रोग प्रकरण के अन्तर्गत रोगों के वर्गीकरण का वर्णन किया है।

एक भेद से रोग

दण्डालसक	विलम्बिका	सोमरोग	अन्नद्रवशूल	निद्रा
उरोग्रह	अण्डवृद्धि	गण्डमालिका	गण्डालजी	कामला
कुम्भकामला	हलीमक	उदर्द	शीतपित्त	निद्रा
तन्द्रा	सन्यास	परमद	पानाजीर्ण	पानविभ्रम
पानात्यय				

दो भेद वाले रोग

1. आनाह	अ. पक्वाशयोद्भव	ब. आमाशयोद्भव
2. कोष्ठभेद	अ. छिन्नात्र	ब. नि:सृतान्त्रक
3. अर्श	अ. सहज	ब. उत्तरजन्मज
	अ. शुष्क	ब. आर्द्र

तीन भेद वाले रोग

1. अजीर्ण -	अ. आमाजीर्ण	ब. विदग्धाजीर्ण	स. आमाजीर्ण
2. अलसक	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज
3. विसूचिका	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज
4. चर्मकील	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज
5. रक्तपित्त	अ. उर्ध्वगत	ब. अधोगत	स. उभयगत
6. अम्लपित्त	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज

चार भेद वाले रोग

1. प्रवाहिका	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. रक्तज
2. अग्निविकार	अ. विषमाग्नि	ब. विदग्धाग्नि	स. मन्दाग्नि	द. भस्मकाग्नि

वात दुष्टि के कारण विषमाग्नि; पित्त दुष्टि के कारण तीक्ष्णाग्नि; कफदुष्टि के कारण मन्दाग्नि; **भस्मकाग्नि -वात पित्त दुष्टि से उत्पन्न।**

3. मूर्च्छा	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
4. अपस्मार	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
5. आमवात	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
6. अश्मरी	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. शुक्राश्मरी
7. मद उत्पत्ति	अ. पूग सेवन से	ब. भंगा सेवन से	स. अक्ष सेवन से	द. कोद्रव सेवन से
8. अग्निदग्ध	अ. प्लुष्ट	ब. विदग्ध	स. दुर्दग्ध	द. सम्यक्दग्ध

पाँच भेद वाले रोग

1. ग्रहणी	अ. वात	ब. पित्त	स. कफ	द. सन्निपात	य. आम
2. पाण्डु	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. मृत्तिकाभक्षणजन्य
3. कास	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. उर:क्षतज	य.धातु क्षयज
4. क्षयज	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. उर:क्षतज
5. अरोचक	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. मन:संतापज
6. उपदंश	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. रक्तज
7. पुंसत्वदोष	अ.ईर्ष्यक	ब. आसेक्य	स. कुम्भीका	द. सुगन्धिक	य. षण्ड
8. नाडीव्रण	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. शल्यज

छ: भेद वाले रोग

1. अर्श	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. रक्तज	र. संसर्गज
2. शोष	अ.स्त्रीप्रसंग	ब. शोक	स.व्रण	द. अध्वश्रम	य. व्यायाम	र. वार्धक्य
3. स्वरभेद	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. मेदोज	र. क्षयज
4. तृष्णा	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. तृष्णा	र. क्षयज
5. उन्माद	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. विष	र. मानसिकदुखज
6. विद्रधि	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज	य. रक्तज	र. क्षतज

सात भेद वाले रोग

1. अतिसार	अ.वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
	य. शोकज अतिसार	र. भयज अतिसार	ल. आमातिसार	
2. छर्दि	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द सन्निपातज
	य. कृमिज	र. घृणाजन्य	ल. गर्भवती स्त्रीजन्य	
3. मद	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
	य. रक्तज	र. मद्यज	ल. विषज	
4. दाह	अ. रक्तपित्तज	ब. रक्तज	स. तृष्णाजन्य	द. पित्तज
	य. धातुक्षयज	र. मर्माघात	ल. रक्तपूर्णोदराद्	

आठ भेद वाले रोग

1. शूल	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. वातपित्तज
	य. वातकफज	र. कफपित्तज	ल. सन्निपातज	व. आमशूल
2. परिणामशूल	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. वातपित्तज
	य.वातकफज	र. कफपित्तज	ल. सन्निपातज	व. आमशूल

3. गुल्म	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. वातपित्तज
	य. वातकफज	र. कफपित्तज	ल. सन्निपातज	व. रक्तज
4. मूत्रकृच्छ्र	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. सन्निपातज
	य. शुक्रकृच्छ्र	र. विटकृच्छ्र	ल. धातुकृच्छ्र	व. अश्मरीकृच्छ्र
5. भगन्दर	अ. शतपोनक	ब. उष्ट्रग्रीव	स. परिस्रावी	द. ऋजु
	य. परिक्षेपी	र. अर्शजन्य	ल. उन्मार्गी	व. शंखावर्त
6. वातरक्त	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. वातपित्तज
	य. वातकफज	र. कफपित्तज	ल. सन्निपातज	व. रक्तज.
7. अस्थिभंग	अ. भग्न	ब. पृष्ठविदारित	स. विवर्तित	द. विश्लिष्ट
	य. तिर्यकक्षिप्त	र. अधोगत	ल. उर्द्धव	ह. सन्धिभग्न
8. गर्भ गद/	अ. उपविष्टक	ब. नागोदर	स. मक्कल	द. मूढगर्भ
गर्भजदोष/	य. विष्कम्भ	र. मूढगर्भक	ल. जरायुदोष	व. गर्भपात्
गर्भरोग				

नव भेद वाले रोग

1. शोथ रोग	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. वातपित्तज	य. वातकफज
	र. कफपित्तज	ल. सन्निपातज	व. अभिधातात्	ह. विषात्	
2. ग्रन्थि	अ. वातज	ब. पित्तज	स. कफज	द. रक्तज	य. सिरा
	र. मेदोज	ल. व्रणज	व. अस्थि	ह. मांस	
3. कपालगत रोग	अ. उपशीर्षक	ब. अरूंषिका	स. विद्रधि	द.दारूण	य. पिडिका
	र. अर्बुद	ल. इन्द्रलुप्त	व. खालित्य	ह. पालित्य	

दस भेद वाले रोग

प्रमेहपीडिका

1. शराविका	2. कच्छपिका	3. जालिनी	4. सर्षपिका	5. अलजी
6. विनता	7. विद्रधि	8. पुत्रिणी	9. मसूरिका	10. विदारिका

बारह भेद से बालग्रह

तेरह भेद वाले रोग

I. उदावर्त

1. क्षुधा निग्रह	2. तृष्णानिग्रह	3. निद्राघात	4. श्वासनिग्रह	5. छर्दिनिग्रह
6. क्षवथुनिग्रह	7 जृम्भानिग्रह	8. उद्गारग्रह	9. अश्रुअवरोध	10. शुक्रधारण
11. मूत्ररोग	12. मलनिग्रह	13. वातनिग्रह		

अन्तिम तीन उदावर्त घोर उपद्रवकारी होते है।

II. मूत्राघात

1. वातकुण्डलिका	2. वाताष्ठिला	3. वातबस्ति	4. मूत्रातीत	5. मूत्रजठरं
6. मूत्रक्षय	7. मूत्रोत्सर्ग	8. मूत्रग्रन्थि	9. मूत्रशुक्र	10. विडविघात
11. मूत्रसाद	12. उष्णवात	13 बस्तिकुण्डल		

बीस भेद वाले रोग

I. भूतोन्माद

1. देव	2. दान	3. गन्धर्व	4. किन्नर	5. यक्ष
6. पितृ	7. गुरुजन	8. प्रेत	9. गुह्यक	10. वृद्ध
11. सिद्ध	12. भूत	13. पिशाच	14. वरुण	15. नाग
16. ब्रह्मराक्षस	17. राक्षस	18. कूष्माण्ड	19. कृत्या	20 वेताल

II. प्रमेह

1. कफज प्रमेह - 10 2. पित्तज प्रमेह - 6 3. वातज प्रमेह - 4

इक्कीस भेद से कृमिरोग -

चरक के समान परन्तु एक अतिरिक्त कृमि का वर्णन स्नायुक कृमि यह कृमि कफरक्त से उत्पन्न होते है।

पच्चीस भेद से ज्वर

शूक दोष-24

क्षुद्ररोग-60

व्याधि घटक

रोगों की उत्पत्ति में अनेक प्रकार के घटक उत्तरदायी होते हैं, उनमें से वात, पित्त, कफ तीनों दोष किसी भी रोग के सन्निकृष्ट या प्रत्यासन्न या साक्षात् कारण होते हैं। इसीलिये दोषों का कार्य ही रोग उत्पन्न करना है, इसीलिये परस्पर रोग और दोष का कार्यकरण भाव सम्बन्ध है।

रोगो की उत्पत्ति में दोषों की महत्त्वता

1. "रोगस्तु दोषवैषम्य दोष साम्यमरोगता" (अ. ह. सू. 1)

दोषों की विषमता से ही रोग उत्पन्न होते है व दोषों की साम्यवस्था से आरोग्य उत्पन्न होता है। रोगों का कारण दोष, दूष्य तथा इनके कुपित होने का कारण अनेक प्रकार के अहितकर आहार विहार का सेवन करना है।

इसी विषय में आचार्य चरक का मत है विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। (च. सू. 9)

धातुओं की विषमता से रोग उत्पन्न होते है व धातुसाम्यवस्था से आरोग्यता उत्पन्न होती है। आचार्य चक्रपाणि के अनुसार धातु शब्द से दोष, दूष्य, मलों का ग्रहण किया जाता है।

धातवो वातादयों रसादयश्च तथा रजः प्रभृतयश्च तेषां वैषम्यं तथा प्रकृति आरोग्यम् (चक्रपाणि)

2. आचार्य सुश्रत के अनुसार शारीरिक रोगों की उत्पत्ति दोषों की विषमता के अधीन है तथा दोषो की विषमता दूषित अन्नपान के सेवन से होती हैं।

3. शारीरास्त्वन्नपान मूला वातपित्तकफ शोणितसन्निपात वैषम्य निमित्ता:। (सु. सू. 1/33)

आचार्य चरक के अनुसार व्याधियां अपरिसंख्येय होती है। सभी व्याधियों का नामकरण करना सम्भव नहीं है अत: रोगो की चिकित्सा हेतु नामाकरण नहीं भी किया जाये तो भी दोषो दूष्यों एवम् मलों की विषमता का ज्ञान कर उन्हे साम्यवस्था में लाने के उपाय करने चाहिये, क्योंकि व्याधि ज्ञान का अभिप्राय है दोषो, धातुओं एवं मलो की विषम स्थिति का ज्ञान तथा विषम धातुओं को सम करना ही चिकित्सा है।

4. सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वात पित्त कफेभ्योनिर्वर्तन्ते यथा हि शकुनि: सर्वदिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते तथा, स्वधातुवैषम्य निमित्ता सर्वेविकारा वातपित्त कफान्नाति वर्तते, वातपित्तश्लेष्मणां पुन: स्थानसंस्थान प्रकृतिविशेषानभि समीक्ष्यतदात्मकनपि च सर्वविकारांस्तानेवो पदिशन्ति बुद्धिमन्त:।

(च. सू. 19/5)

सभी प्रकार के निज रोग वात, पित्त व कफ को छोड़कर नहीं उत्पन्न होते है। जिस प्रकार शकुनि (पक्षी) सारे दिन आकाश में चारों तरफउड़कर देशदेशान्तर को लांघ जाता है पर वह अपनी छाया को कभी भी नहीं लांघ सकता है ठीक उसी प्रकार अपने धातु या दोष की विषमता से उत्पन्न होने वाली समस्त शारीरिक व्याधियां भले ही शास्त्रों में वर्णित संख्या व लक्षणों का अतिक्रमण कर जाये परन्तु वात, पित्त, कफ का अतिक्रमण नहीं करती है। इन्ही वात, पित्त, कफ के स्थान, संस्थान, प्रकृति को देखकर वात, पित्त, कफसे होने वाले रोगों का नामकरण भी किया जाता है।

रोग तथा दोषों का कार्य कारण सम्बन्ध

व्याधि रुपी कार्य का उत्पादन निदान रुपी कारण द्वारा किया जाता है अर्थात निदानों के द्वारा ही व्याधि की उत्पत्ति होती है। कारण के तीन भेद होते है। अत: व्याधि की उत्पत्ति में तीन प्रकार के कारणों का योगदान होता है।

1. समवायी कारण - **यत् समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत् समवायिकारणम्** (तर्कसंग्रह)

जो कारण समवाय सम्बन्ध से कारण को उत्पन्न करें उसे समवायी कारण कहते है। दोष विषम होकर ही रोगों को उत्पन्न करते है। दोष वैषम्य के बिना रोग उत्पन्न नहीं होते है। एक दोष की भी विकृति होने पर वह त्रिदोष साम्यवस्था को प्रभावित करते है जिससे उत्तरकाल में व्याधि उत्पन्न होती है।

2. असमवायी कारण - कार्येण कारणेन सहैकस्मिन्नर्थे समवेतं सत्कारणमसमवायिकारणम्।

(तर्कसंग्रह)

कार्य या कारण के साथ एक पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से रहता हुआ जो कारण उत्पन्न होता है। वह असमवायी कारण होता है। द्रव्यमात्र के प्रति अवयवों के संयोग से ही कार्य उत्पन्न होता है। दोष दूषित होकर दूष्यों को भी दूषित करते है इस प्रकार दोष दूष्य आपस में सम्मूर्छित होकर व्याधि को उत्पन्न करते है। दुष्ट हुये दोष व दूष्य के संयोग को ही असमवायी कारण कहते है।

3. निमित्त कारण - तदुभयभिन्नं कारणं। (तर्कसंग्रह)

निमित्तकारण समवायी कारण व असमवायि कारण से भिन्न कार्य उत्पत्ति में कारण निमित्त कारण है, मिथ्या आहार विहार एवं जीवाणु, अभिघातादि को निमित्त कारण कहते है क्योंकि इन्हीं के द्वारा दोष व दूष्य दूषित होते है।

शारीरिक दोष वात, पित्त, कफ तीन और मानस दोष रज तथा तम दो हैं, यह दोष सातों धातुओं, उपधातुओं, मल आदि को दूषित करते हैं, इसलिये इन्हें दूष्य भी कहते हैं। मधुकोषकार 'विजय रक्षित' ने व्याधि व उसके घटकों

के विषय में अपना अभिमत व्यक्त किया है कि दोष और दूष्य का विशेष प्रकार का संयोग व्याधि है, अरुचि आदि लक्षण व्याधि के कार्य हैं।

तथाविधदोषदूष्यसंमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्याश्चारुच्यादयः।

(मा. नि. पञ्चनि. 7 पर मधुकोष)

समूर्च्छना शब्द का अर्थ है, एक-दूसरे के गुण-धर्मों को ग्रहण कर एक रूप हो जाना। जैसे- तेल की समूर्च्छना में तेल के दोषों को दूर कर विशेष गुण उत्पन्न किये जाते हैं। जब दोष और दूष्य का ऐसा विशेष संयोग होता है तो परस्पर संयोग से विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न होती है व व्याधि उत्पन्न होती हैं, इस प्रकार व्याधि घटकों में दोष दूष्य व दोष-दूष्य समूर्च्छना का ग्रहण करना चाहिये।

जैसे- प्रकृति, करण, संयोग आदि आठ आहार विधियों की अवहेलना करने से, शक्ति से अधिक श्रम या एकदम श्रम न करने से आदि अनेक निदानों का सेवन करने से वात, पित्त, कफ प्रकुपित होकर आमाशय को कुपित करते हैं, पाचक रसों की कमी के कारण कोष्ठस्थ अग्नि मन्द हो जाती है, किन्तु धात्वाग्नि अधिक सक्रिय हो जाती है, जिससे अन्ततः ताप वृद्धि होकर ज्वर उत्पन्न होता है, ज्वर में रस अवश्य ही दूषित हो जाता है, रस दूषित होने से रस आदि की धात्वाग्नियाँ अधिक सक्रिय हो जाती है और अधिक ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। रस त्वचा के आश्रित रहता है, अतः त्वचा में ताप की अनुभूति विशेष रूप से होती है, परिणमतः रोगी का सम्पूर्ण शरीर उष्ण हो जाता है. इस प्रकार दोष-दूष्य के विशेष प्रकार के संयोग होने पर रोग का जन्म होता है।

व्याधिनामकरण सिद्धान्त

नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं। (च. सू. 18/23 चक्रपाणि)

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार व्याधि नामकरण करने से व्याधि के स्वरुप का ज्ञान सुलभता से हो जाता है। आधुनिक चिकित्सा क्षेत्र में सभी व्याधियों का नामकरण, वर्गीकरण International classification of disease [ICD] के अन्तर्गत किया गया है इसके अन्तर्गत न केवल सभी व्याधियों को क्रमबद्ध किया गया वरन् सभी चिकित्सकीयविधियों, शल्य कर्मो, प्रयोगशालीय परीक्षणों को भी क्रमबद्ध किया गया है। इस प्रकार की पद्धति का आयुर्वेद में नितान्त अभाव मिलता है। अतः आयुर्वेद क्षेत्र में भी समस्त व्याधियों के नामकरण व वर्गीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। यह कार्य अभी तक सफल नहीं हो सका क्योंकि किसी भी व्याधि के संदर्भ में आयुर्वेदविदों के एक मत नहीं है जिससे चिकित्सक के अनुसार चिकित्सात्मक पक्ष भी बदल जाता है। कोई भी एकीय मत का पालन नहीं कर रहा हैं।

जैसे पाण्डु को कुछ आयुर्वेदविद् Anaemia, कुछ आयुर्वेदविदों के अनुसार Leukaemia, कुछ आयुर्वेदविदों के अनुसार Hypothyroidism जाना जाता है।

Rheumatoid arthritis की कभी वातरक्त के अनुसार व कभी आमवात के अनुसार चिकित्सा की जाती है। इसी प्रकार Cancer को कभी विद्रधि जानकर, कभी अर्बुद जानकर, कभी गुल्म जानकर चिकित्सा की जाती है। अतः आयुर्वेद मत, मतान्तर अधिक होने के कारण एकोयमत नहीं हो पाता है।

आधुनिक काल में नवीन उद्भूत व्याधियों का नामकरण करना आवश्यक है तथा उनका वर्गीकरण करना परमावश्यक है इस हेतु Ayurvedic classification of disease [ACD] को भी विकसित करना चाहिये।

आयुर्वेदीय मत व आधुनिक चिकित्सापद्धति के रोग निदान के सिद्धान्त व चिकित्सा के सिद्धान्त भिन्न भिन्न है। तथापि सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान की एक रुपता बनाये रखने के लिये किसी भी व्याधि का नामकरण करना परम आवश्यक है।

यद्यपि आचार्य चरक के अनुसार व्याधि नामाकरण को महत्व नहीं दिया गया।

विकारानामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। नहि सर्व विकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः।।

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थनान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहुन्।। (च. सू.18/45)

यदि सुज्ञानी वैद्य किसी रोग का नामकरण करने में असमर्थ हो तो उसे अपने ज्ञान पर लज्जा नहीं करनी चाहिये क्योंकि जगत में असंख्य रोग विद्यमान है उन सभी का नामकरण करना असम्भव है। कुपित हुये दोष कारण की भिन्नता से भिन्न रोग, भिन्न स्थानों में जाकर उत्पन्न करते हैं। अतः रोग की प्रकृति, अधिष्ठान, समुत्थान विशेष को ठीक जानकर वैद्यों को चिकित्सा कार्य करना चाहिये।

कोई भी रोग दोषों की संचय, प्रकोपादि विभिन्न अवस्थाओं द्वारा व्यक्तावस्था तक पहुँचता है। अतः जिन व्याधियों का नामकरण संहिताओं में नहीं किया गया है उनके कुपित दोषों, दूष्यों आदि विभिन्न संप्राप्ति घटकों को जानकर रोगों का निदान करना चाहिये। आधुनिक काल में आयुर्वेद की सम्पूर्ण विश्व में व्यापकता बढ़ रही है ऐसे में वह व्याधियाँ जो वर्तमान युग में विकराल रूप धारण कर चुकी है परन्तु संहिता ग्रन्थों में उनका वर्णन नहीं है। संहिता ग्रन्थों में वर्णन के आधार पर भी व्याधियाँ तीन प्रकार की है।

1. कुछ व्याधियाँ जिनका वर्णन आयुर्वेदिक ग्रन्थों में व आधुनिक चिकित्सा ग्रन्थों में एक समान किया गया है। उन व्याधियों का आयुर्वेदिक नामकरण करने की आवश्यकता नहीं होती है क्योकि ग्रन्थों में उनका नामकरण किया जा चुका है तथा वह सर्वव्यापक है इन्हे **उक्त व्याधि** कहते है। जैसे ज्वर को Fever, पक्षवध को Paralysis, अर्श को Hemorrhoids कहते है।

2. कुछ व्याधियाँ जिनका लाक्षणिक वर्णन आयुर्वेदीक ग्रन्थों मे मिलता है तथा उन्हे किसी व्याधि की अवस्था विशेष के अन्तर्गत वर्णन किया गया परन्तु आधुनिक चिकित्सा क्षेत्र में उन लक्षणों को व्याधि रुप में नामांकित किया गया है। इस प्रकार की व्याधियों को **अल्प उक्त व्याधि** कहते है। जैसे रक्तपित्त रोग की अवस्था विशेष ग्रथित रक्तपित्त को Vein thrombosis, कफज गुल्म की अवस्था विशेष जिसमें आनाह, मलबन्ध व कठिन उन्नत हो उसे Cystic growth कह सकते है। इस प्रकार अन्य अनेक लक्षणों का व्याधि रुप में नामाकरण करना चाहिये।

3. कुछ व्याधियां जिनका आयुर्वेदिक ग्रन्थों में लेशमात्र भी वर्णन नहीं मिलता है। जैसे Kleinfelter Syndrome, Gullian bare Syndrome आदि। इन व्याधियों को **अनुक्त व्याधि** कहते है। इन व्याधियों का नामकरण करना भी आवश्यक है।

अतः आयुर्वेदिक मत से अनुक्त व्याधि व अल्प उक्त व्याधियों का नामकरण करना चाहिये।

नामकरण हेतु आचार्य चरक ने बताया

त एवऽपरिसंख्येय भिद्यमाना भवन्ति हि। रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थान नामभिः।

व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः। तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिष्यते। (च. सू. 18/42)

रोगों के असंख्य भेद होते है। रुजा, वर्ण, समुत्थान, स्थान, संस्थान व नाम के आधार पर रोगों के असंख्य भेद बताये गये है। सभी की गणना करना और उसको लिखना असम्भव है इसलिये स्थूल रुप से चिकित्सा करने के लिये उनका नामकरण किया जा सकता है।

1. वेदना भेद - तोद, दाह, कण्डू आदि विभिन्न वेदनाओं के आधार पर एक रोग के अनेक भेद होते है। अत: वेदना के आधार पर नामकरण करना चाहिये जैसे कि शूल रोग को वेदना के आधार पर नाम दिया गया है।

2. वर्ण भेद से - दोष के द्वारा नील, पीत, कृष्ण आदि अनेक वर्ण होने से व्याधि अनेक प्रकार की उत्पन्न होती है। जैसे पाण्डु, श्वित्र, रक्तमेह, नीलमेह, हरिद्रामेह आदि रोगों का नामकरण वर्ण के आधार पर किया गया है।

3. समुत्थान भेद अथवा निदान भेद - निदान के भेद रुक्ष भोजन, रात्रि जागरण, दिवास्वप्न, विभिन्न रसों का अति सेवन आदि के आधार पर एक ही दोष के भिन्न लक्षण उत्पन्न करते हैं।

जैसे मृत्तिकाभक्षणजन्यपाण्डु - मृत्तिका भक्षण से उत्पन्न पाण्डु रोग

उदावर्त - वेग धारण करने से अपान वायु का उदावृत्त होना

कृमिरोग - कृमि के कारण उत्पन्न रोग

4. स्थान भेद से - दोषों का आमाशय, पक्वाशय तथा विभिन्न रसादि धातुओं में गमन करने से भिन्न वेदनाये व लक्षण उत्पन्न होते है।

जैसे प्लीहोदर - प्लीहा में रक्त आदि दोष दुष्ट

यकृद्दाल्योदर- यकृत में दोष दुष्ट होने से

योनिव्यापद - योनि में दोष स्थित होने पर

5. संस्थान भेद से - संस्थान का तात्पर्य आकृति विशेष के आधार पर रोग भिन्न भिन्न प्रकार के हो जाते है। जैसे गुल्म, अर्बुद, गलगण्ड, गण्डमाला आदि के स्वरुप भिन्न भिन्न होते है।

6. नाम भेद से - प्रत्यात्म लक्षण के आधार पर नामकरण किया जाता है। जैसे राजयक्ष्मा रोग के शोष, क्षय आदि, अतिसार को उदरामय, ज्वर को मृत्यु, पाप्मा, यम आदि, उर:क्षत को क्षतक्षीण आदि नामों के आधार पर अर्थात् व्याधि के प्रधान लक्षण के आधार पर नामकरण किया जा सकता है।

जिस प्रकार उक्त व्याधियों का नामकरण ग्रन्थों में रुजा, वर्ण, समुत्थान, स्थान, संस्थान व नाम भेद से मिलता है उसी प्रकार अनुक्त व यथोक्त व्याधि का नामकरण भी रुजा आदि के आधार पर करना चाहिये।

बीज़, बीजभाग व बीजभागावयव दुष्टि

बीज, बीजभाग, व बीजभागावयव की दुष्टि जानने से पूर्व इनका सामान्य ज्ञान होना परमावश्यक है।

बीज, बीजभाग व बीजभागावयव का सामान्य स्वरुप

मनुष्यबींजं हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृश्यप्रत्यङ्गसमुदायरुप पुरुषजनकं।

(च. शा. 3/23 चक्रपाणि)

मनुष्य का बीज विविध अंगों के बीजभागों का समुदायरुप होता है। रचना की इस विशेषता के कारण ही यह बीज अपने माता पिता के समान आकृति प्रकृति वाले तथा विविध अंगों के समुदाय रुप पुरुष को उत्पन्न करता है।

पुरुष बीज का तात्पर्य - Spermatozoa or male gamete

स्त्री बीज का तात्पर्य - Ovum है।

Spermatozoa – The mature male germ cells formed with in seminiferous tubules of the testis. It contain 22 autosomes + 1 sex chromosome X or Y.

Ovum – The mature female germ cells formed in medulla of ovary. This cell have capability to develop a new organism but the fertilization by spermatozoa is necessary.

यह परिपक्व पुरुषबीज है जिसका निर्माण सेमीनिफेरस ट्यूब्यूल्स द्वारा होता है व स्त्री बीज का निर्माण अण्डग्रन्थियों में होता है। इन दोनों के मिलने से नवीन संतति का निर्माण होता है।

बीजभाग

बीज भाग का अर्थ बीज में स्थित भाग जिससे नवीन संतति में किसी अंग विशेष की रचना होती है ऐसे अनेक बीज भागों के मिलने से सम्पूर्ण बीज बना होता है। बीज अर्थात् Ovum or spermatozoa के गुणसूत्रों को बीजभागावयव माना जा सकता है।

Chromosome – A singular piece of DNA [which contain many genes, regulatory elements, other neucleotide sequence] plus DNA binding protein.

Genome – Refer to full set of chromosome present in human. Somatic cell contain two set 23 chromosome in their genome while gamete contain one set of 23 chromosome in its genome. Somatic cell have 46 chromosome in their genome. That means somatic cells have 46 chromosome. Germ cell have 23 chromosome in its genome.

गुणसूत्र-डी. एन. ए. का एक अंश होता है तथा इन्हें बंधित करने वाली प्रोटिन भी क्रोमोसोम में समाहित हैं।

समस्त क्रोमोसोम को सम्मिलित रूप से जीनोम कहा जाता है कायिक कोशिकाओं में 23 क्रोमोसोम जोड़े से होते है अत: कुल 46 क्रोमोसोम होते है जबकि जनन कोशिकाओं में केवल 23 क्रोमोसोम ही होते हैं।

बीजभागावयव

बीज के विभिन्न भागों में से प्रत्येक भाग में अनेक अवयव निहित होते है इन बीजभागों में किसी एक अवयव को बीजभागावयव कहा जाता हैं। क्रोमोसोम के विशेष अंश को भी जीन कहते है। जीन वंशगति की ईकाई होती है। अत: इसे बीजभागावयव कहना चाहिये।

Gene is the basic unit of hereditary made of DNA . It is code of specific protein. Each gene occupies a certain location on a chromosome .

Heriditary traits are controlled by pair of genes in the same position on a pair of chromosome, these gene pairs or allels may both be dominant or both be recessive in their expression of that trait.

जीन यह अनुवांशिक ईकाई है जिसके द्वारा डी. एन. ए. बना होता है।

अनुवांशिक लक्षणों का नियमन इन्हीं जीन युग्मों द्वारा होता है, जिन्हें एलील कहा जाता हैं यह जीन युग्म गुणसूत्रों पर एक निश्चित स्थान पर ही रहते है यह जीन युग्म प्रभावी अथवा अप्रभावी दोनों प्रकार के हो सकते हैं।

बीज, बीजभाग व बीजभागावयव दुष्टि विवेचन

गर्भ की वृद्धि 6 गर्भकर भावों के सम्पत्त होने से होती हैं. यह गर्भ कर भाव माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, सत्व तथा रस हैं।

ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णशरीरो बलवर्णसत्वसंहनन संपदुपेतः सुखेन जायते समुदयादेषां भावानां-मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च, अस्ति च खलु सत्वमौपपादुकमिति।।

(च. शा. 3/3)

जन्म लेने वाला बालक सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त, परिपूर्ण शरीर से युक्त, बल, वर्ण, मन और शरीर संगठन से उचित रुप से युक्त होकर माता, पिता, आत्मा, सात्म्य , रस, सत्त्व इन भावों के समुदाय से सुख पूर्वक उत्पन्न होता है।

माता, पिता आदि गर्भ कर भावों की दुष्टि होने से गर्भ का जन्म नहीं होता है परन्तु कभी कभी गर्भ पूर्ण रुप सें नष्ट न होकर विकृति को प्राप्त होता है। जब वातादि दोषों से प्रकुपित आहार-विहार का सेवन स्त्री अथवा पुरुष करता है तब वातादि दोष कुपित होकर माता में रक्त या गर्भाशय को व पुरुष में सर्वव्यापी शुक्रधरा कला को प्राप्त होते है। ऐसी दशा में स्त्री के गर्भ धारण करने पर उस गर्भ के मातृज व पितृज अवयवों में से किसी एक या अधिक अवयवों में विकृति उत्पन्न होती है।

बीजदुष्टि स्वरुप

आचार्य चरक ने विकृत हीनअधिकांगी या विकलेन्द्रिय संतान की उत्पत्ति के कारण बताते हुये लिखा है कि **बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाऽऽहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थान वर्णेन्द्रिय-वैकृतानि।।** (च. शा. 2/29)

गर्भ की आकृति, वर्ण तथा इन्द्रियों को विकृत करने के लिये निम्न कारक उत्तरदायी होते है।

1. बीज - माता अथवा पिता के बीज में विकृति उत्पन्न होना।

2. आत्मा कर्म दोष अर्थात पूर्व देह द्वारा किये गये अशुभ कर्म के कारण विकृति उत्पन्न होना। आत्मदोष का एक मात्र महत्त्व यह है कि इस दोष के द्वारा (Twins baby) यमल गर्भ के मानसिक विकास के अन्तर को स्पष्ट किया जा सकता है।

3. आशय अर्थात माता का गर्भाशय में विकृति उत्पन्न होना।

4. काल की विकृति - काल दोष का तात्पर्य ऋतुकाल अथवा गर्भधारण काल या गर्भिणीकाल में विकृति उत्पन्न होना।

5. माता के द्वारा ग्रहण किये गये दुष्ट आहार विहार से।

इस प्रकार गर्भ की विकृति में प्रधान कारण बीजदुष्टि ही है।

बीजभाग तथा बीजभागावयव दुष्टि का स्वरूप

यस्य यस्याह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गवयवस्य विकृतिरुपजायते।

(च. शा. 3/17)

किसी अंग को बनाने वाला बीज भाग उपतप्त या विकृत हो तो उत्पन्न होने वाली संतान को वह अंग विशेष या तो बनता नहीं, या उसमें कुछ विकृति होती है। परिणाम का यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि बीज भाग में विकृति कितने प्रमाण में है। विकृति यदि बीजभाग के किसी अवयव में हो तो उस भागावयव से बनने वाले अंग में विकार पाया जायेगा।

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति।

यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा बन्ध्यां जनयति, यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति, यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्रियाकृतिभूयिष्ठामस्त्रिय वार्तां नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते। (च. सू. 4/30)

जब स्त्री के शोणित तथा गर्भाशय की बनाने वाला बीजभाग प्रदुष्ट हो गया है तब वह स्त्री बन्ध्य संतति उत्पन्न करती है। इसी प्रकार जब पुरुष के बीज भाग दुष्ट हो गया है। तब वह पुरुष बन्ध्य पुत्र उत्पन्न करता है।

एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा बन्ध्यं जनयति, यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजं जनयति यदा त्वस्यबीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदापुरुषाकृतिभूयिष्ठं पुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति, तामपुरुष-व्यापदमाचक्षते। (च. सू. 4/31)

1. स्त्री के बीज में गर्भाशय को बनाने वाला भाग दोषाक्रान्त होता है तब जो भावी स्त्री संतति उत्पन्न होती है वह बन्ध्य होती है। गर्भाशय निर्माण करने वाला बीज भाग दोषों द्वारा इतना ही दूषित होता है कि स्त्री बीज के अन्तर्गत अन्य समस्त शरीर अवयवों के उत्पादक भाव तो दोष रहित रहते है जिससे शेष शरीरावयव तो उत्पन्न होते हैं परन्तु गर्भाशय जनक **बीजभाग** अत्यन्त दोष उपहत होने के कारण उसकी स्त्री संतान में गर्भाशय से संबन्धित अवयवों का निर्माण यथावत नहीं होता है परिणामस्वरुप भावी स्त्री संतति बन्ध्या होती है।

2. स्त्री बीज में गर्भाशय जनक बीजभाग पूर्णतया दोष दूषित नहीं होता वरन् इसका एक अवयव दोषोपहत हुआ होतो उस दोष उपहत **बीजभागवयव** से स्त्री की गर्भाशय पूर्ण रूप से नष्ट न होकर उसका अंश प्रभावित होता है। अतः जो भावी स्त्री संतान उत्पन्न होती है उसे पूतिप्रजा कहा जाता है।

म्रियमाणापत्याम् अन्ये तु क्लिनांग प्रत्यंगा पूतिमाहूः। (चक्रपाणि)

पूतिप्रजा का तात्पर्य ऐसी स्त्री जिसके अपत्य होकर भी गर्भ में ही या बाहर आकर मर जाता हो। अन्य मत से पूतिप्रजा का अर्थ - ऐसी स्त्री पैदा होना जिसके अंग प्रत्यंग क्लिन्न अंग वाले अर्थात शोथ व कोथ से युक्त हो।

स्त्रिकराणां शरीरबीजभागानामिति स्त्रीत्वव्यंजकस्तनोपस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम् अस्त्रियमिति संपूर्णस्त्रीलक्षणाम्। (चक्रपाणि)

3. गर्भाशयजनक बीजभागावयव अतिदोषोपहत हो तथा स्त्री बीज में स्त्रीत्व के सूचक जैसे स्तन, उपस्थ आदि अवयवों के जनक स्त्रीबीजकर भाव भी दोषदूषित हो तो जो भावी संतति होती है उसका आकार प्रकार अधिकांश स्त्री के समान होता है परन्तु उसमें स्त्री के सम्पूर्ण लक्षण नहीं होते है। ऐसे व्यक्ति को वार्ता कहा जाता है। अतः इसे स्त्रीव्यापद् कहा जाता है।

एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा बन्ध्यं जनयतिः, यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजं जनयतिः, यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति। तां पुरुषव्यापदाचक्षते।। (च. सू. 4/31)

स्त्रीव्यापद के सदृश्य ही पुरुष व्यापद में भी बीजभाग अर्थात् शुक्र उत्पादक बीज भाग की दुष्टि होने से पुरुष संतति उत्पन्न होती है वह बन्ध्य होती है । शुक्र निर्माण करने वाले बीजभाग के किसी एक विशेष अंश में दुष्टि होने पर जो पुरुष संतति उत्पन्न होती है उसे पूतिप्रज कहते है। इसके लक्षण भी स्त्री व्यापद पूतिप्रजा के समान ही जानने चाहिये। यदि शुक्रउत्पादक बीजभाग के किसी अवयव में दुष्टि अधिक उत्पन्न होना साथ ही पुरुषत्व सूचक अवयव जैसे दाढ़ी आना, आवाज भारी होना आदि उत्पन्न करने वाले पुरुष बीजकर भावों में दुष्टि होने पर जो संतति होती है उसमें पुरुष के सम्पूर्ण लक्षण नहीं होते है किन्तु उसकी आकृति प्रकृति पुरुष से अधिक मिलती जुलती है ऐसे पुरुष को तृणपुत्रीक कहा जाता है। इसे पुरुषव्यापद् भी कहते है।

(i) बीज दुष्टि - **विकृत अंग वाली संतान** - Congenital disorders

(ii) बीजभाग में दुष्टि -**बन्ध्या अथवा बन्ध्य** - संतानोत्पत्ति में असमर्थ - Chromosomal disorder

(iii) बीजभागावयव में दुष्टि -**पूतिप्रजा अथवा पूतिप्रज** -Single gene defect

(iv) बीजभागावयव दुष्टि व स्त्रीबीजकरभाव अथवा पुरुषबीजकरभाव में दुष्टि-**वार्ता अथवा तृणपुत्रीक**- Intersex disorder.

आनुवांशिक विकार (Heriditary Disorder)

आनुवांशिक विकारों के अन्तर्गत जीन में होने वाली विकृतियों व उनसे उत्पन्न होने वाले रोगों का अध्ययन किया जाता है। जीन प्रोटीन निर्माण की क्रियात्मक ईकाई है यदि जीन के संग्रहण में, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में संचरण होने के दौरान कोई विकृति होती है तो उसका अध्ययन अनुवांशिक विकार के अन्तर्गत किया जाता है।

प्रत्येक कोशिकीय जीनोम में 3000 से 4000 जीन होते है। जीन प्रत्येक प्रकार के प्रोटीन निर्माण के लिये उत्तरदायी होती है। प्रोटीन निर्माण विभिन्न चरणों में पूरा होता है जैसे ट्रांसक्रिप्शन, कोडिंग आदि। प्रत्येक जीन का भाग प्रोटीन निर्माण में भाग नहीं लेता है। जिस भाग में कोडिंग की प्रक्रिया होती है वही प्रोटीन निर्माण में भाग लेता है। जीन के कुछ भागों में कोडिंग नहीं होती है यदि इन भागों में म्यूटेशन द्वारा कोई विकृति उत्पन्न होती भी है तो भी प्रोटीन निर्माण नहीं करने के कारण यह विकृति रोग उत्पन्न नहीं कर पाती परन्तु यदि कोडिंग वाले स्थान पर विकृति होती है तो प्रोटीन निर्माण में भी विकृति होगी व अनुवांशिक विकार उत्पन्न होंगे।

प्रत्येक जीन डी. एन. ए. (डीआक्सी राइबो न्युक्लीयर एसीड) का खण्ड है। डी. एन. ए. पॉलीन्यूक्लीयोटाइड का लम्बा बहुलक होता है। डी. एन. ए. द्विकुण्डली रज्जु से बना है। डी. एन. ए के दोनों रज्जुओं में स्थित क्षार आपस में हाइड्रोजन बन्ध द्वारा जुडे रहते है। एडेनिन थायमिन के साथ व ग्वानिन साइटोसिन के साथ हाइड्रोजन बन्ध से जुडा रहता है।

Diseases caused by disturbances in the storage, transmission, end production of genetic information. The study of heriditory diseases in man is chiefly the concern of medical genetics.

The term Heriditary disorder used earlier in different text but now the updated term used for heriditory disorder is genetic disorder although genetic disorder are not always hereditary.

We are studying Heriditary disorders under the heading of genetic disorder.

Each gene is composed of a linear polymer of DNA. DNA is a double-stranded helix composed of four different bases: adenine (A), thymidine (T), guanine (G), and cytosine

(C). Adenine is paired to thymidine, and guanine is paired to cytosine, by hydrogen bond interactions that span the double helix. DNA has several remarkable features that make it ideal for the transmission of genetic information.

Classification of Genetic Diseases

1)	Mendelian disorders or single gene disorder	Familial hypercholesterolaemia, β-thalassaemia, haemophilia
2)	Somatic cell disorders	Cancers
3)	Chromosome disorders	Down syndrome, Turner's syndrome
4)	Mitochondrial disorders	Leigh's hereditery optic atrophy
5)	Multifactorial disorders	Hypertension, epilepsy

1. Mendelian Disorder – Mendelian disorder are mainly determined by alteration or mutation in the single gene. It also called single gene disorder. There are over 3900 genetic disorders due to single gene mutations inherited according to Mendelian principles. The mutant gene can be either on an autosome or on the X chromosome. The effect of the gene may be either dominant or recessive. If dominant the disease is evident even when only one gene of a pair is abnormal. If recessive the disease expresses only when both genes are abnormal. If the abnormal gene is on a sex chromosome, the inheritance is called sex-linked, either X or Y linked. There are thus four patterns of inheritance:

(i) Autosomal Dominant –

- Abnormal gene locus only on one autosome of the pair of homologous chromosomes.
- Single dose of gene enough to produce phenotypic expression, i.e. it expresses in heterozygote
- Males and females equally affected

  Affected individual transmits disease to 50% of children
- Trait vertically transmitted, i.e. direct transmission from grandparent to parent to child
- Advanced paternal age contributes to new mutations

  Examples : Marfan's syndrome, adult polycystic kidney, hutington chorea

(ii) Autosomal Recessive–

- Abnormal gene locus on both autosomes of the pair
- Double dose of genes required to produce phenotypic expression, i.e. disease expresses in homozygotes
- Carrier parents produce 25% normal, 25% affected and 50% carrier children
- Males and females equally affected

- Shows horizontal pattern of transmission, i.e. disease is seen to occur in one or more members of same generation
- Consanguinous marriages bring out recessive traits.
- Generally manifests in early life.

i.e. inborn error of metabolism Sickle cells disease, thalassaemia major, phenylketonuria, Tay-Sach's disease.

(iii) X-linked Dominant –

- Abnormal gene locus on one of the X chromosomes.
- Single dose of gene required to produce effect in males or females.
- Males and females equally affected, though in many disease in males is more severely affected.
- Both males and females can transmit disease equally.
- Affected individuals transmit disease to 50% of children.

Examples :

Vitamin D-resistant rickets, pseudohypoparathyroidism.

(iv) X-linked Recessive –

- Abnormal gene locus on one or both X chromosomes.
- Single dose of gene required to produce disease in males.

Males generally affected; females may be affected if homozygous for the abnormal gene or have 45 XO carrier female has 50% chance of producing carrier daughter, 50% normal daughter, 50% normal son and 50% affected son. Affected male produces all normal sons and all carrier daughters.

Males suffer and females are carriers of disease.

Transmission oblique; affected males are nephews, maternal uncles, granduncles

Examples : Haemophilia A, haemophilia B, Duechenne muscular dystrophy, Becker muscular dystrophy, red-green colour blindness.

2. Somatic Cell Disorder

A genetic disorder in which defect are restricted to specific somatic cell.

eg. cancer cell.

3. Chromosomal Disorder

Chromosomal abnormalities can occur in autosomes (1 to 22) or in sex chromosomes (X and Y) and can be.

A. Numerical disorders

B. Structural disorders

A. Numerical Disorders

The commonest chromosomal anomaly is aneuploidy, i.e. deviation from the modal diploid number 46 to 45, 47, 48, etc. Polyploidy means duplication of sets; thus the number becomes 69 (triploidy), 92 (tetraploidy), etc.

Down Syndrome

Chromosomal anomalies – Trisomy in 21 chromosome so chromosomes are 47.

This syndrome was first seen by langdum down digra.

Birth Frequency – 1:1700

Clinical features

1. Intelligence quotient [IQ] < 60 normal range
2. Mongolian slant of eyes
3. Small soft ears, epicanthic fold at inner canthus,
4. Brushfield spots, cataract, nystagmus, kerato-conjunctivitis
5. Depressed nose bridge
6. Brachycephalic small skull
7. Scrotal or fissured tounge
8. Simian crease over hands, clinodactyly
9. Congenital heart disease (endocardial cushion defect),
10. Duodenal/jejunal/billary atresia
11. Leukaemia

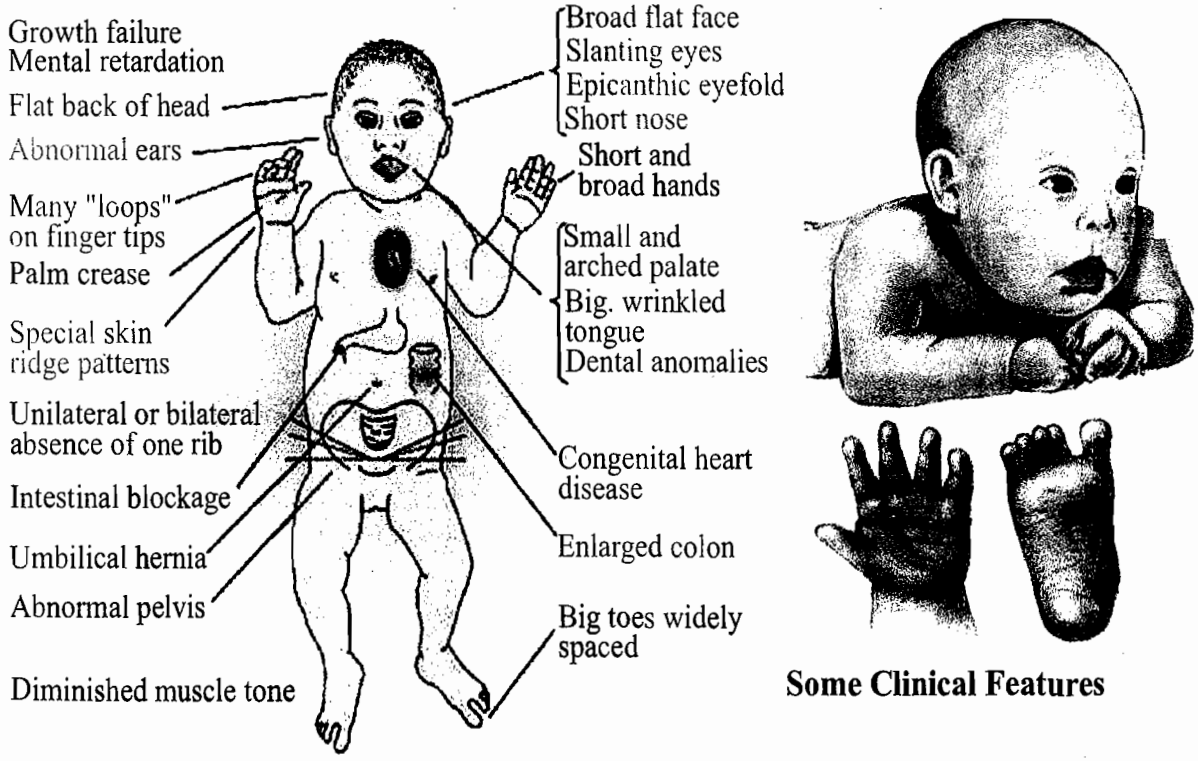

चित्र – 2 Down Syndrome

Turner Syndrome

Monosomy of X chromosome so the karyotype is 45 XO

Birth frequency - 1:10,000 males

Clinical symptoms –

1. Short stature - significant growth retardation, Height < 150 cm
2. Primary amenorrhoea
3. Poorly developed secondary sexual characters
4. Webbing of neck-Swelling of the nape of the neck due to distended lymphatic channels
5. Shield breast - shieldlike chest with widely spaced nipples
6. Cubitus valgus - an increase in the carrying angle of the arms
7. Short 4th metacarpal or metatarsal
8. Low posterior hairline
9. Congenital malformations such as horseshoe kidney, bicuspid aortic valve, and coarctation of the aorta. Cardiovascular abnormalities are the most common cause of death in childhood. affected girls fail to develop normal secondary sex characteristics; the genitalia remain infantile, breast development is minimal, and little pubic hair appears. Most have primary amenorrhea, and ovaries become white streaks of fibrous stroma devoid of follicles.
10. Peripheral lymphoedema
11. Nail hypoplasia,
12. Some are mentally retarded

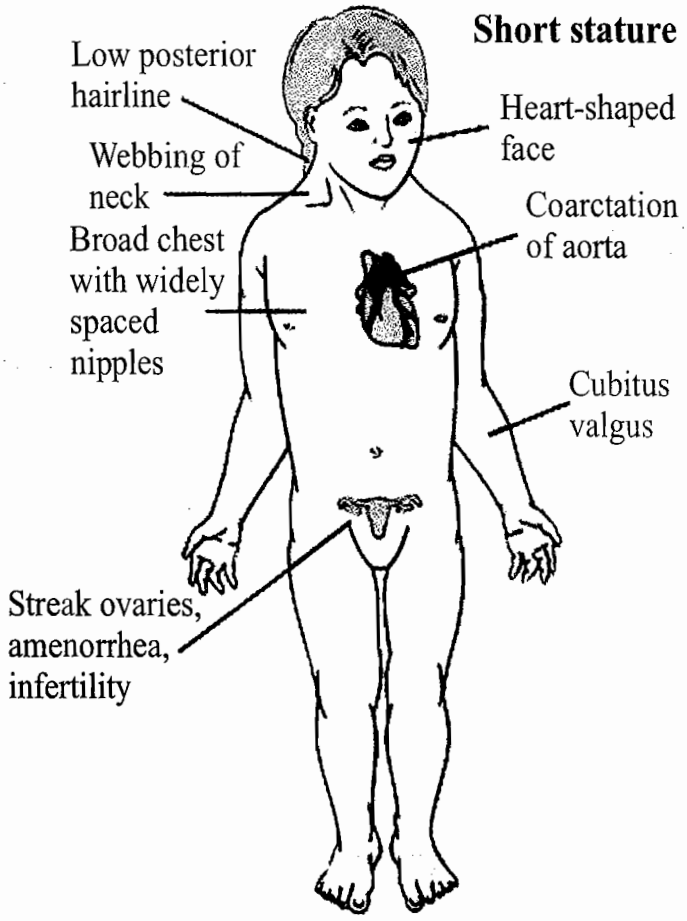

चित्र – 3 Turner Syndrome

Klinefelter syndrome

Karyotype is - 47 XXY

Clinical frequency - 1:1000

Clinical Features –

1. Tall males

2. Mild mental retardation

3. Hypogonadism - The testes are markedly reduced in size, sometimes to only 2 cm in greatest dimension. The serum testosterone levels are lower than normal,

4. Infertility - Azospermia

5. Poorly developed secondary sexual characters *Reduced facial, body, and pubic hair* and *gynecomastia.*

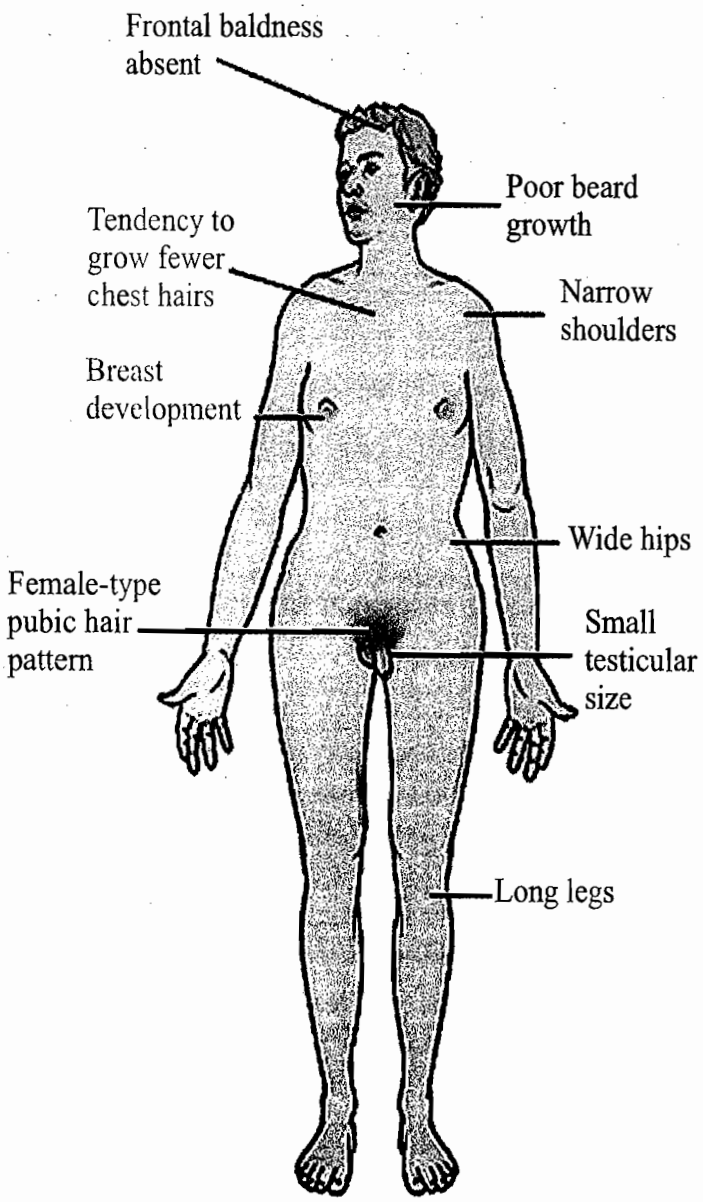

चित्र – 4 Klinefelter syndrome

Patau syndrome

Trisomy 13 chromosome

Clinical features -

1. Hypotelorism due to holoprosencephaly
2. Microophthalmia
3. Harelip
4. Cleft palate
5. Odd ears
6. Post axial polydactyly
7. Cryptorchidism
8. Simian crease
9. Congenital heart disease
10. Rocker bottom foot (Congenital vertical talus) - Prominent calcaneum (heel bone) convex rounded bottom of feet.

चित्र – 5 Patau syndrome

Edward Syndrome

Trisomy 18th chromosome

Clinical features–

1. Low birth weight
2. Microcephaly, small chin, prominent occiput, etc

B. Structural Chromosome Abnormalities

Structural rearrangements involve breakage and reunion of chromosomes. Although less common than numerical abnormalities.

Cri-du-chat syndrome and Philadelphia chromosome (Phi) are important structural abnormalities. Phi chromosome is the small chromosome 22 resulting from reciprocal translocation between chromosomes 9 and 22. It is the hallmark of chronic myeloid leukaemia. Cri-du-chat syndrome is 5p- and results in mental retardation and odd features with a cat-like cry in infancy.

संरचनात्मक दृष्टि से गुणसूत्र टूटते है और उनका पुनः समायोजन होता है। संख्यात्मक विकृतियों की तुलना में संरचनात्मक विकृतियाँ कम होती है।

क्राई- ड्यूचेट सिण्ड्रोम व फिलेडेल्फिया गुणसूत्र विकृतियॉ प्रमुख है।

फिलेडेल्फिया गुणसूत्रों में 22 वें गुणसूत्र की लम्बाई कम हो जाती है क्योंकि दो अयुग्म गुणसूत्र 9 व 22 में स्थानान्तरण होता है। इसके द्वारा क्रोनिक माइलाइड ल्युकेमिया होने की सम्भावना अधिक होती है।

क्राइडयूचेट सिण्ड्रोम के कारण बच्चा मानसिक रूप से विक्षिप्त व बिल्ली जैसी आवाज वाला होता है।

4. Mitochondrial Disorder

Mitochondrial disorders caused by mutation in the mitochondrial DNA that effect mitochondrial function.

माइटोकोण्ड्रीया के डी. एन. ए. में म्युटेशन के कारण यह विकृतियाँ उत्पन्न होती है।

Eg. 1. Diabetes mellitus and deafness.

2. Leber's hereditary optic neuropathy.

5. Multifactorial Genetic Disorder

बाह्य वातावरण के कारण तथा जीन में विकृतियॉ होने पर यह सम्मिलित रूप से एक विशेष प्रकार का विकार उत्पन्न करती है। जिसे Multifactorial genetic disorder कहते हैं।

Environment and genetic factor combine in varying proportion. Common medical problems like heart disease, type2 diabetes, Obesity do not have singular cause. They are likely to be associated with effects of multiple genes in combination with lifestyle and environment factor.

Some Multifactorial Disease

1. Coronary artery disease- 50% genetic factors and 50% environment factors involve.
2. Type 2 Diabetes – genetic factor 26% so environmental factors are more responsible for that like obesity, HTN, PCOS etc.
3. Obesity.
4. Breast Cancer.
5. Osteoporosis–genetic factors influence 60-90% so environmental factors are least important.

Congenital Disorder

These condition existing at birth and often before birth. Not all congenital disroders are hereditary and not all hereditary disorders are congenital. Like D.M is hereditary but not congenital.

यह विकार जन्मसेही अथवा जन्म लेने से पूर्व गर्भ में ही उत्पन्न हो जाते हैं। सभी अनुवाशिंक विकार जन्मजात नहीं होते है व सभी जन्मजात विकार अनुवांशिक नहीं होते हैं।

मधुमेह अनुवांशिक विकार है ना कि जन्मजात विकार है।

Causative factors are.

1. Single gene defect–Albinism–complete or partial absence of pigment on skin, hair and eyes. Hemophilia, Marfan syndrome.

2. Cleft lip or palate is congenital disorder.

3. Chromosomal genetic defect–Down syndrome, Klinefelter syndrome, Turner syndrome,

4. Due to Intra uterine environment- if mother have toxoplasm infection then child have micro cephaly, mental defect, cataract, Patent ductus arteriosus, Congenital Syphilis.

Traumatic Disorder or Traumatic Injuries

Physical injuries of sudden onset and severity which requires immediate medical attention. Traumatic injuries may affect many part of the body, including the brain internal organs. **Trauma can cause anatomical injuries, physiological injuries.** Body wound produced by sudden physical injury as form of violence or accident.

शरीर पर लगने वाले आघात अथवा क्षत जिसके कारण उत्पन्न आत्ययिक अवस्था में शीघ्र चिकित्सात्मक व्यवस्था की आवश्यकता होती है।

क्षत द्वारा कोई भी शारीरिक अथवा क्रियात्मक विकृति उत्पन्न हो सकती है।

क्षत के कारण रोगी बेहोश हो सकता है उसके अंग प्रत्यंग में विकृति हो सकती है रक्त बहने के कारण शरीर में रक्त की कमी भी आ सकती है इन सभी कारणों से रोगी की रुग्णता व उसकी चेतना का प्रमाण जानने के लिये ग्लास गो कोमा स्केल का प्रयोग किया जाता है।

सामान्यत: कोई भी चोट या आघात सिर या तंत्रिका तंत्र पर लगने से व्यक्ति स्थाई रूप से अपङ्ग हो सकता है अथवा उसकी मृत्यु भी हो सकती है क्योंकि सिर पर चोट लगने से सिर पर सूजन व सिर में ऑक्सीजन की कमी पैदा हो सकती है। जिससे कुछ विकार उत्पन्न हो सकते हैं।

जैसे- एल्जीमर रोग, शिजोफ्रेनिया रोग आदि मानसिक विकार।

Glass gow coma score used to estimate patient outcome after trauma. The patient response to certain stimuli like supraorbital rubbing the sternum etc.

Vehicle collision is leading cause of death among 19-26 yr of age people.

Traumatic factor responsible for some disease

1. **Traumatic brain Injury** – Trauma to the Central nervous system constitute important cause of death and permanent disability.

   It can cause brain swelling, hypoxia, disrupt blood brain barrier, Increase inflammatory response, and it can develop risk of Alzheimer's disease, Shizophrenia, and other psychiatric disorder.

   The glass gow coma score – it is composed of three parameters

   Best Eye Response [4]

Response	Grade
No eye opening	1
Eye opening to pain	2
Eye opening to verbal command	3
Eyes open spontaneously	4

   Best Verbal Response [5]

Response	Grade
No verbal response	1
Incomprehensible sounds	2
Inappropriate words	3
Confused	4
Oriented	5

   Best Motor Response [6]

esponse	Grade
No motor response	1
Extension to pain	2
Flexion to pain	3
Withdrawl from pain	4
Localising pain	5
Obey commands	6

   Net score=best eye response + best verbal response + best motor response

   Maximum score is 15 and minimum score is 3

   13 or higher score related with mild brain injury. (अल्प शिरोघात में)

   9 -12 moderate injury (मध्यमशिरोघात में)

   8 or less a severe brain injury (घातक शिरोघात में)

2. Trauma During Delivery –These are birth injuries sustained during labour and delivery. Birth injuries may be severe enough to cause neonatal death, still birth or number of morbidities. प्रसव के दौरान अनेक प्रकार से क्षत होने के काण जन्मजात विकार उत्पन्न हो सकते व मृत्यु भी हो सकती है।

Environmental Disorder

These disorders are associated with ecological factor or eco factor-

Any factor biotic or abiotic that affect living organism.

(1) Abiotic factor - 1- environmental temperature, amount of sunlight and Ph of the water and soil in which we live

(2) Biotic factor – food organism, competition for water supplies, food, mates, and biological sources. Human compete for food and mates.

Enviromental disease caused by environmental factor. Not by infection and hereditary.

1. **Lifestyle diseases** – cardio vascular disease, Diseases caused by alcohol abuse and smoking related diseases
2. Diseases caused by physical factor in the environment, such as skin cancer caused by excessive exposure to ultra violet radation in sunlight.
3. Diseases caused by exposure to chemicals in the environment such as toxic metals.

ICD (International Statistical Classification of Disease and Related Health Problems)

The international statistical classification of disease and related health problems, usually called by the short form name International classification of disease [ICD]

It is "International Standard of diagnostic tool for epidemiology, health management and clinical purpose."

ICD designed as health care classification system, providing a system of diagnostic codes for classifying disease.

ICD is maintained by the world health organization.

ICD is used by physicians, nurses, researchers, health information managers and coders, patient organizations to classify diseases and other heatlh problem recorders, including death certificate and health records.

ICD – 10 was endorsed by the forty – third world health assembly in may 1990. ICD is thorough an ongoing revision process and the release date for ICD -11 is 2017.

ICD Classification of Disease of WHO – Codification of diseases, injuries, causes of death and procedures, including operations, and diagnostic and nonsurgical procedures. The ICD's principle use is to standardize reporting of illness, death and procedures, ICD-10 is printed in three volume set 3 volumes –

1. First volume – Main classification
2. Second volume – Use of ICD
3. Third volume – Alphabetic index of classification

It is a variable axis classification which used for the epidemiological data and statistical data coded to it may be grouped as follows-

- Epidemic diseases
- Constitutional or general diseases
- Local diseases arranged by site
- Developed diseases
- Injuries

A classification system based exclusively on pathological diagnosis would seriously underestimate the disease (or illness) burden both in developing country and developed counteries in developing countries laboratory and imaging facilities are limited but also in Western countries. Conversely, in the course of investigation pathology is sometimes identified as a coincidental feature without any relevance to the patient's illness

ICD-10 have used the broad primary groupings of "Inflammatory Disorders" and "Non-inflammatory Disorders"

DSM Classification

Full form of DSM is Diagnostic and Statistical Manual of mental disorder. Published by American psychiatric association. DSM is the standard nomenclature of emotional illness used by all health care practitioners.

Now fifth edition known as DSM–5 published on May 18, 2013. DSM–5 is first major edition of the manual in twenty years.

It is used by clinician, researcher, psychiatric drug regulation agencies etc.

All emotional illness are categorized and they develop the criteria to diagnose the disease.

The purpose of DSM –V is to provide clear description of diagnostic categories in order to enable clinicians and investigators to diagnose, communicate about mental disorders and treat people with various mental disorders.

Diagnostic statistical manual provide official coding system which is fundamental for record keeping. Codes provides facilities of data collection and statistical compilation. Codes are also often required to report diagnostic data to interested third parties, including goveramental agencies, private insurer and the world health organization.

Salient Features

1. Diagnostic code is given.
2. Severity and course specifier guideline.

Majority of disorders follow guideline which is mentioned below.

1. Mild – Few. If any Mild symptoms or mild physical impairment in social or occupational functioning.

2. Moderate–Symptoms or function impairment between mild and severe are present.

3. Severe –Many symptoms that are particularly severe or the symptoms result in marked impairment in social or occupational functioning.

4. In partial remission–Full criteria previously met but currently some symptoms remain.

5. Full remission – There are no longer any symptoms or sign of the disorder.

Principle diagnosis – Is the condition established after study to be chiefly responsible for accessioning the admission of individual.

Provisional diagnosis – The provisional can be used when there is a strong presumption that the full criteria will ultimately met for disorder, but not enough information is available to make a firm diagnosis.

सामान्यज विकार व नानात्मज विकार

तत्र विकारा: सामान्यजा: नानात्मजाश्च। च. सू. 20/10)

व्याधि के दो भेद सामान्यज व नानात्मज रोग भी है।

सामान्यज विकार

तत्र सामान्यज इति सामान्येन तत्राव्याधित्व रुपेण जायन्ते वाताद्वा पित्ताद्वा कफाद्वा द्वन्द्वाद्वा सन्निपाताद्वाऽन्यस्माद्वा ये ते सामान्यजा:। (च. सू. 20/10 गंगाधर टीका)

जिन व्याधियों का जन्म सामान्य है अर्थात् जो वात से, पित्त से अथवा कफसे भी हो सकती है वह व्याधि द्वन्द्वज अथवा सन्निपातिक भी हो सकते है। इसके अलावा आगन्तुज हेतुओं से भी हो सकती है। चरक ने अष्टोदरीय अध्याय में समान्यज व्याधियों का उल्लेख किया है।

48 सामान्यज रोगों का वर्णन चरक संहिता में सूत्रस्थान के अन्तर्गत अष्टोदरीय अध्याय में किया गया है।

एक भेद वाले 3 रोग

एक उरुस्तम्भ इति आमत्रिदोषसमुत्थ:, एक: संन्यास इति त्रिदोषात्मको मन: शरीराधिष्ठान:, एको महागदइति अतत्त्वाभिनिवेश:। (च. सू. 19/8)

(i) उरुस्तम्भ- आम व त्रिदोष के संयोग से उत्पन्न होता है।

(ii) संन्यास - मन और शरीर पर आश्रित यह व्याधि त्रिदोष से उत्पन्न होती है।

(iii) अतत्वाभिनिवेश - इसे महागद भी कहते है।

दो भेद वाले 8 रोग

1. ज्वर - द्वौ ज्वराविति उष्णाभिप्राय: शीतसमुत्थाश्च शीताभिप्रायश्चोष्ण समुत्थ:।

(च. सू. 19/7)

ज्वर के दो भेद -

(i) शीत ज्वर - शीत आहार विहार से उत्पन्न ज्वर जिसमें रोगी उष्ण आहार विहार की इच्छा रखता हो।

(ii) उष्ण ज्वर - उष्ण आहार विहार से उत्पन्न ज्वर जिसमें रोगी शीतल आहार विहार की इच्छा रखता हो।

2. व्रण - द्वौ व्रणाविति निजश्चागन्तुजश्च। (च. सू. 19/7)

व्रण के दो भेद -

(i) निजव्रण - वात, पित्त, कफसे उत्पन्न व्रण (ii) आगन्तुज व्रण - बाह्य कारणों से उत्पन्न व्रण

3. आयाम - द्वावायामाविति बाह्यश्चाभ्यान्तरश्च। (च. सू. 19/7)

2 प्रकार के आयाम :-

(i) बहिरायाम (ii) आभ्यान्तर आयाम

4. गृध्रसी - द्वे गृध्रस्याविति वाताद्वातकफाच्च। (च. सू. 19/7)

गृध्रसी के दो भेद :-

(i) वातजग्रहणी (ii) वातकफजग्रहणी

5. कामला - द्वे कामले इति कोष्ठाश्रया शाखाश्रया च (च. सू. 19/7)

कामला के दो भेद :-

(i) कोष्ठाश्रित कामला (ii) शाखाश्रित कामला

6. आमदोष-द्विविधमाममित्यलसको विसूचिका च (च. सू. 19/7)

आमदोष के दो भेद :-

(i) अलसक (ii) विसूचिका

7. वातरक्त - द्विविधं वातरक्तमिति गम्भीरमुत्तानं च। (च. सू. 19/7)

वातरक्त के तीन भेद :-

(i) गम्भीर (ii) उत्तान

8. अर्श - द्विविधान्यर्शांसीति शुष्काण्यार्द्राणि च। (च. सू. 19/7)

अर्श के दो भेद :-

(i) शुष्कार्श (ii) आर्द्र अर्श

तीन भेद वाले 3 रोग

1. शोथ - त्रयः शोथा इति वातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः। (च. सू. 19/6)

शोथ के तीन भेद :-

(i) वात (ii) पित्त (iii) कफ

2. किलास - त्रीणि किलासानीति रक्तताम्रशुक्लानि। (च. सू. 19/6)

किलास के तीन भेद :-

(i) रक्त किलास (ii) ताम्र किलास (iii) शुक्ल किलास

3. **रक्तपित्त - त्रिविधं लोहितपित्तमित्यूर्ध्वभागमधोभागमुभयभागं च।** (च. सू. 19/6)

रक्तपित्त के दो भेद :-

(i) उर्ध्वगत रक्तपित्त (ii) अधोगतरक्तपित्त (iii) उभयगत रक्तपित्त

चार भेद से 10 रोग

1. **अपस्मार - चत्वारोऽपस्मारा इति वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ता:।** (च. सू. 19/5)

अपस्मार के चार भेद :-

(i) वातज अपस्मार (ii) पित्तज अपस्मार (iii) कफज अपस्मार (iv) सन्निपातज अपस्मार

2. **अक्षिरोग - चत्वारोऽक्षिरोगा:।** (च. सू. 19/5)

अक्षिरोग के चार भेद :-

(i) वातज अक्षिरोग (ii) पित्तज अक्षिरोग (iii) कफज अक्षिरोग (iv) सन्निपातज अक्षिरोग

3. **कर्णरोग - चत्वार: कर्णरोगा:।** (च. सू. 19/5)

कर्णरोग के चार भेद :-

(i) वातज कर्ण रोग (ii) पित्तजकर्णरोग (iii) कफजकर्णरोग (iv) सन्निपातज कर्णरोग

4. **प्रतिश्याय - चत्वार: प्रतिश्याया:।** (च. सू. 19/5)

प्रतिश्याय के चार भेद :-

(i) वातज प्रतिश्याय (ii) पित्तज प्रतिश्याय (iii) कफजप्रतिश्याय (iv) सन्निपातज प्रतिश्याय

5. **मुखरोग - चत्वारोमुखरोगा:।** (च. सू. 19/5)

मुखरोग दोष के चार भेद :-

(i) वातजमुखरोग (ii) पित्तजमुखरोग (iii) कफजमुखरोग (iv) सन्निपातजमुखरोग

6. **ग्रहणी दोष - चत्वारोग्रहणीदोषा:।** (च. सू. 19/5)

ग्रहणी दोष के चार भेद :-

(i) वातज ग्रहणीरोग (ii) पित्तज ग्रहणीरोग (iii) कफजग्रहणीरोग (iv) सन्निपातजग्रहणी रोग

7. **मद - चत्वारोमदा:।** (च. सू. 19/5)

मद के चार भेद :-

(i) वातजमद (ii) पित्तजमद (iii) कफजमद (iv) सन्निपातज मद

8. **मूर्च्छा - चत्वारो मूर्च्छाया।** (च. सू. 19/5)

मूर्च्छा के चार भेद :-

(i) वातजमूर्च्छा (ii) पित्तज मूर्च्छा (iii) कफज मूर्च्छा (iv) सन्निपातज मूर्च्छा

9. **शोष - चत्वार:शोषा इति साहससन्धारणक्षयविषमाशनजा:।** (च. सू. 19/5)

शोथ के चार भेद :-

(i) साहसजन्य (ii) सन्धारणजन्य (iii) क्षयजन्य (iv) विषमाशनजन्य

10. क्लैब्य - चत्वारि क्लैब्यानीति बीजोपघाताद् ध्वजभङ्गाज्जरायाः शुक्रक्षयाच्च। (च. सू. 19/5)

क्लैब्य के चार भेद :-

(i) बीजोपघात (ii) ध्वजभंग (iii) जराजन्य (iv) शुक्रक्षयजन्य

पाँच भेद वाले 12 रोग

1. गुल्म - पञ्च गुल्मा इति वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः। (च. सू. 19/4)

गुल्म के पाँच भेद :-

(i) वातज गुल्म (ii) पित्तजगुल्म (iii) कफजगुल्म

(iv) सन्निपातजगुल्म (v) रक्तजगुल्म

2.प्लीहादोष - पञ्चप्लीहदोषा इति गुल्मैर्व्याख्याताः। (च. सू. 19/4)

प्लीहादोष के पाँच भेद :-

(i) वातज प्लीहा (ii) पित्तजप्लीहा (iii) कफजप्लीहा

(iv) सन्निपातजप्लीहा (v) रक्तजप्लीहा

3. कास - पञ्च कासा इति वातपित्तकफक्षतक्षयजाः। (च. सू. 19/4)

कास के पाँच भेद :-

(i) वातजकास (ii) पित्तजकास (iii) कफजकास

(iv) सन्निपातजकास (v) क्षतजकास (vi) क्षयजकास

4. श्वास - पञ्च श्वास इति महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्राः। (च. सू. 19/4)

श्वास के पाँच भेद :-

(i) महाश्वास (ii) उर्ध्वश्वास (iii) छिन्नश्वास

(iv) तमकश्वास (v) क्षुद्रश्वास

5. हिक्का - पञ्चहिक्का इति महति गम्भीरा व्यपेता क्षुद्रान्नजा च। (च. सू. 19/4)

हिक्का के पाँच भेद :-

(i) महाहिक्का (ii) गम्भीरा हिक्का (iii) व्यपेताहिक्का

(iv) क्षुद्र हिक्का (v) अन्नजाहिक्का

6. तृष्णा - पञ्चतृष्णा इति वातपित्तामक्षयोपसर्गात्मिका। (च. सू. 19/4)

तृष्णा के पाँच भेद :-

(i) वातजतृष्णा (ii) पित्तज तृष्णा (iii) आमजतृष्णा

(iv) क्षयजतृष्णा (v) उपसर्गजतृष्णा

7. छर्दि - पञ्च छर्दय इति द्विष्टार्थसंयोगजा वातपित्तकफसन्निपातोद्रेकोत्थाश्च। (च. सू. 19/4)

छर्दि के पाँच भेद :-

(i) द्विष्टार्थसंयोगज छर्दि (ii) वातजछर्दि (iii) पित्तजछर्दि

(iv) कफजछर्दि (v) सन्निपातज छर्दि

8. अरुचि - पञ्चभक्तस्यानशनस्थानानीति वातपित्तकफसन्निपातद्वेषवासाः। (च. सू. 19/4)

अरुचि के पाँच भेद :-

(i) वातज अरुचि (ii) पित्तज अरुचि (iii) कफज अरुचि

(iv) सन्निपातज अरुचि (v) द्वेषजन्य अरुचि

9. पञ्च शिरोरोग इति पूर्वोद्देशमभिसमस्य वातपित्तकफसन्निपातक्रिमिजा।

शिरोरोग - वातपित्तकफसन्निपातक्रिमिजाः। (च. सू. 19/4)

शिरोरोग के भी पाँच भेद

(i) वातज शिरोरोग (ii) पित्तजशिरोरोग (iii) कफजशिरोरोग

(iv) सन्निपातजशिरोरोग (v) क्रिमिज शिरोरोग

10. हृद्रोग - पञ्च हृद्रोगा इति शिरोरोगैव्याख्र्याताः। (च. सू. 19/4)

शिरोरोग के समान भेद

(i) वातज हृदरोग (ii) पित्तज हृदरोग (iii) कफज शिरोरोग

(iv) सन्निपातजशिरोरोग (v) कृमिजशिरोरोग

11. पाण्डुरोग - पञ्च पाण्डुरोगा इति वातपित्तकफसन्निपातमृद्भक्षणजाः। (च. सू. 19/4)

पाण्डुरोग के पाँच भेद :-

(i) वातज पाण्डु (ii) पित्तज पाण्डु (iii) कफज पाण्डु

(iv) सन्निपातज पाण्डु (v) मृद्भक्षणजन्य पाण्डु

12. उन्माद - पञ्चोन्मादा इति वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः। (च. सू. 19/4)

उन्माद के पाँच भेद :-

(i) वातज उन्माद (ii) पित्तज उन्माद (iii) कफज उन्माद

(iv) सन्निपातज उन्माद (v) आगन्तुज उन्माद

छः भेद वाले 2 रोग

1. अतिसार - षडतीसारा इति वातपित्तकफसन्निपातभयशोकजाः। (च. सू. 19/3)

अतिसार के छः भेद :-

(i) वातज अतिसार (ii) पित्तज अतिसार (iii) कफज अतिसार

(iv) सन्निपातज अतिसार (v) भयज अतिसार (vi) शोकज अतिसार

2. उदावर्त - षडुदावर्ता इति वातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथुजाः। (च. सू. 19/3)

उदावर्त के छः भेद :-

(i) अपानवायु वेग धारण करने से (ii) मूत्र वेग धारण करने से

(iii) पुरीष वेग धारण करने से (iv) शुक्र वेग धारण करने से

(v) छर्दि वेग धारण करने से (vi) क्षवथु वेग धारण करने से

सात भेद वाले 3 रोग

1. कुष्ठ - सप्तकुष्ठानीति कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिव्हपुण्डरीकसिध्मकाकणानि। (च. सू. 19/2)

कुष्ठ के सात भेद :-

(i) कपाल कुष्ठ (ii) उदुम्बर कुष्ठ (iii) मण्डल कुष्ठ

(iv) ऋष्यजिव्ह कुष्ठ (v) पुण्डरीक कुष्ठ (vi) सिध्मकुष्ठ

(vii) काकणक कुष्ठ

2. प्रमेहपीडिका- सप्तपिडका इति शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षप्यलजी विनता विद्रधि च।

(च. सू. 19/2)

प्रमेहपीडिका के सात भेद :-

(i) शराविका (ii) कच्छपिका (iii) जालिनी

(iv) सर्षपिका (v) अलजी (vi) विनता

(vii) विद्रधि

3. विसर्प - सप्तविसर्पा इति वातपित्तकफाग्निकर्दमकग्रन्थिसन्निपाताख्याः। (च. सू. 19/2)

विसर्प के सात भेद :-

(i) वातज विसर्प (ii) पित्तज विसर्प (iii) कफज विसर्प

(iv) अग्निक विसर्प (v) कर्दमविसर्प (vi) ग्रन्थि विसर्प

(vii) सन्निपातज विसर्प

आठ भेद वाले 4 रोग -

उदररोग के आठ भेद :-

1. उदर रोग - अष्टावुदराणीति वातपित्तकफसन्निपातप्लीहबद्धच्छिद्रदकोदराणि। (च. सू. 19/1)

(i) वातज (ii) पित्तज (iii) कफज

(iv) सन्निपातज (v) प्लीहोदर (vi) बद्धोदर

(vii) छिद्रोदर (viii) उदकोदर

2. मूत्राघात-अष्टौमूत्राघाता इति वातपित्तकफसन्निपाताश्मरीशर्कराशुक्रशोणितजाः। (च. सू. 19/1)

मूत्राघात के आठ भेद :-

(i) वातज (ii) पित्तज (iii) कफज

(iv) सन्निपातज (v) अश्मरी जन्य (vi) शर्करा जन्य

(vii) शुक्र दोष जन्य (viii) रक्तदोषजन्य

3. क्षीरदोषा - अष्टौ क्षीरदोषा इति वैवर्ण्यं वैगन्ध्यं वैरस्यं पैच्छिल्यं फेनसङ्घातो रौक्ष्यं गौरवमतिस्नेहश्च।

(च. सू. 19/1)

क्षीरदोष के आठ प्रकार :-

1. **वैवर्ण्य** - दुग्ध का वर्ण परिवर्तन होना।
2. **वैगन्ध्यं** - दुग्ध का दुर्गन्धि।
3. **वैरस्य** - दुग्ध का विरस होना।
4. **पिच्छिल** - दुग्ध पिच्छिल होना।
5. **फेन** - फेन की अधिकता।
6. **रौक्ष्यं** - दुग्ध में स्नेह की कमी होना।
7. **गुरुता**- दुग्ध में भारीपन होना।
8. **अतिस्नेह** - दुग्ध का अतिस्निग्ध होना।

4. रेतो दोष - अष्टौरेतोदोषा इति तनु शुष्कं फेनिलं श्वेतं पूत्यतिपिच्छलमन्यधातूपहितमवसादि च।

(च. सू. 19/1)

रेतोदोष के आठ प्रकार :-

1. **तनु** - शुक्र का पतला होना।
2. **शुष्क** - शुक्र का शुष्क होना।
3. **फेनिल** - शुक्र में फेन का होना।
4. **श्वेत** - शुक्र का सफेद होना।
5. **पूति** - शुक्र में दुर्गन्ध आना।
6. **पिच्छिल** - शुक्र का चिपचिपा होना।
7. **अन्यधातुउपसृष्ट** - शुक्र में अन्य धातु का मिला होना।
8. **अवसादी** - शुक्र का अवसादी होना।

बीस भेद वाले 3 रोग

1. कृमि रोग - विंशतिः कृमिजातय इति यूकाः पिपीलिकाश्चेति द्विविधा बहिर्मलजाः, केशादालोमादा लोमद्वीपाः सौरसा औदुम्बरा जन्तुमातरश्चेति षट् शोणितजाः, अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादाश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति सप्तकफजाः, ककेरुका मकेरुका लेलिहाः सशूलकाः सौसुरादश्चेति पञ्चपुरीषजाः।

(च. सू. 19/9)

कृमि रोग 20 प्रकार के होते है :-

1. **बाह्य मलज कृमि** - संख्या- 2- यूका पिपीलिका
2. **शोणितज कृमि** - संख्या - 6- केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, उदुम्बर, जन्तुमाता
3. **श्लैष्मिक कृमि** - संख्या - 7 - अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, चुरु, दर्भपुष्प, सौगन्धिक, महागुद
4. **पुरीषज कृमि** - संख्या - 5 - ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौसुराद

2. प्रमेह - विंशतिः प्रमेहा इति उदकमेहश्चेक्षुबालिका-रसमेहश्चसान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्लमेहश्च शुक्रमेहश्च शीतमेहश्च शनैर्मेहश्च सिकतामेहश्च लालामेहश्चेति दशश्लेष्मनिमित्ताः, क्षारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितमेहश्च मञ्जिष्ठामेहश्च हरिद्रामेहश्चेति षट्पित्तनिमित्ताः, वसामेहश्च मज्जामेहश्च हस्तिमेहश्च मधुमेहश्चेति चत्वारोवातनिमित्ताः इति विंशतिः प्रमेहाः। (च. सू. 19/9)

प्रमेह के 20 भेद :-

1. कफज प्रमेह -

(i) उदकप्रमेह (ii) इक्षुबालिका प्रमेह (iii) सान्द्रमेह

(iv) सान्द्रप्रसादमेह (v) शुक्लमेह (vi) शुक्रमेह

(vii) शीतमेह (viii) शनैर्मेह (ix) सिकतामेह

(x) लालामेह

2. पित्तज प्रमेह

(i) क्षारमेह (ii) कालमेह (iii) नीलमेह

(iv) लोहितमेह (v) मञ्जिष्ठामेह (vi) हरिद्रामेह

3. वातज प्रमेह

(i) वसामेह (ii) मज्जामेह (iii) हस्तिमेह

(iv) मधुमेह

3. योनिव्यापद - विंशतिर्योनिव्यापद इति वातिकी पैतिकी श्लैष्मिकी सन्निपातिकी चेति चतस्त्रो दोषजाः, दोषदूष्यसंसर्गप्रकृतिनिर्देशैरवशिष्टाः षोडश निर्दिश्यन्ते, तद्यथा - रक्तयोनिश्चारजस्का चाचरणा चातिचरणा च प्राक्चरणा चोपप्लुता च परिप्लुता चोदावर्तिनी च कर्णिनी च पुत्रघ्नी चान्तर्मुखी च सूचीमुखी च शुष्का च वामिनी च षण्ढयोनिश्च महायोनिश्चेति विंशतिर्योनिव्यापदो भवन्ति। (च. सू. 19/9)

योनिव्यापद के 20 भेद :-

(i) वातिक योनिव्यापद (ii) पित्तज योनिव्यापद (iii) कफज योनिव्यापद

(iv) सन्निपातिक योनिव्यापद (v) रक्तजा योनिव्यापद (vi) अरजस्का योनिव्यापद

(vii) अचरणा योनिव्यापद (viii) अतिचरणा योनिव्यापद (ix) प्राक्चरणा योनिव्यापद

(x) उपप्लुता योनिव्यापद (xi) परिप्लुता योनिव्यापद (xii) उदावर्तिनी योनिव्यापद

(xiii) कर्णिनी योनिव्यापद (xiv) पुत्रघ्नी योनिव्यापद (xv) अन्तर्मुखी योनिव्यापद

(xvi) सूचीमुखी योनिव्यापद (xvii) शुष्का योनिव्यापद (xviii) वामिनि योनिव्यापद

(xix) षण्ढ़योनिव्यापद (xx) महायोनिव्यापद

नानात्मज विकार

नानात्मजा इति नानात्मकत्वेन बहुव्याधित्वरुपेण जायन्ते वाताद्वा पित्ताद्वा कफाद्वा ये तेनानात्मज

(च. सू. 20/10 गंगा

नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते। (च. सू. 20/10 चक्रपाणि)

नाना अर्थात् पृथक - आत्मज अर्थात् एक दोष।

जो रोग केवल एक दोष के प्रकोप से होता है। अन्य दूसरा दोष नानात्मज रोग में कारण नहीं होते है। नानत्मज रोग 80 प्रकार के, पित्त नानात्मज विकार 40 व कफ नानात्मज विकार 20 है। किन्तु नानात्मज रोगो संख्या असंख्य भी हो सकती है क्योंकि शरीर के अंग प्रत्यंग असंख्य होते है जिन पर दोष स्थित होकर अनेक व्य उत्पन्न कर सकते है।

नानात्मज व्याधियों में भिन्नता के निम्न कारण है।

नानात्मज व्याधियों के असंख्य होने के अनेक कारण है जैसे एक ही दोष अपने विभिन्न अंशो से दू होकर, विभिन्न स्त्रोतसों को दूषित करते हुये, अथवा विभिन्न अवयवों को दूषित करते हुये अथवा विभिन्न निदानों द दूषित होते हुये अनेक विकार उत्पन्न करते है। जिनकी गणना नहीं की जा सकती है।

विकल्प भेद से

1. एक ही दोष विभिन्न अंशो में दूषित होकर अथवा विकल्प सम्प्राप्ति द्वारा तर तम भेद से दूषित हो सक है। जैसे - वात अपने सर व सूक्ष्प गुण से रक्त को दूषित कर वातरक्त उत्पन्न करता है जबकि वात रुक्ष व लघु ग से कृशता उत्पन्न करता हैं।

2. स्त्रोतसो की भिन्नता से - कफ मनोवह स्त्रोतस में स्थित होकर निद्राधिक्य व अन्नवह स्त्रोतसों में जाव अविपाक उत्पन्न करता है। इस प्रकार दोष ही विभिन्न स्त्रोत दुष्ट होकर अनेक व्याधियों को उत्पन्न करते हैं।

3. स्त्रोतो दुष्टि के भेद से - कफदोष की अतिप्रवृत्ति से प्रमेह उत्पन्न होता है, कफदोष का अवरोध होने प अथवा संग द्वारा श्वास रोग उत्पन्न होता है।

4. अवयवों की भिन्नता - पित्त दोष इन्द्रियो मे स्थित होकर दवथु उत्पन्न करता है जबकि सर्व अंग स्थित होकर दाह उत्पन्न करता है।

5. दूष्यों की भिन्नता से - दुष्ट पित्त अपनी उष्मा द्वारा रक्त को दूषित कर रक्तपित्त उत्पन्न करता है जबकि यही पित्त अपनी उष्मा द्वारा जलीय अथवा उदक अंश का अवशोषण कर तृष्णा उत्पन्न करता है।

6. निदान की भिन्नता से - रज, धूम, वात आदि निदानों से वात दुष्ट होकर हिक्का, श्वास रोग उत्पन्न करत है। रुक्ष, शीत, लघु गुण प्रधान आहार विहार सेवन से कार्श्य, वेगधारण करने से वही वायु उदावर्त रोग उत्पन्न करत है । अत: निदानों में विभिन्नता होने से भी अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते है।

वात नानात्मज विकार-

तत्रादौ वातविकाराननुव्याख्यास्याम:। तद्यथा नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च पादसुप्तता च, वातखुडुता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च, उरुस्तम्भश्च उरुसादश्च, पाङ्गुल्यं च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणाक्षेपश्च, शेफस्तम्भश्च, वंक्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च

उदावर्तश्च, खञ्जत्वं च, कुब्जत्वं च, वामनत्वं च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्ववमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च, हृद्द्रवश्च, वक्षउद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, वक्षस्तोदश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, हनुभेदश्च, ओष्ठभेदश्च, अक्षिभेदश्च, दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यंच, मूकत्वं च, वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलं च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यंच, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसंकोचश्च, तिमिरं च, अक्षिशूलं च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शंखभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनं च, अर्दितं च, एकांगरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च, पक्षवधश्च, आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, तमश्च, भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च, विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यं च, पारुष्यं च, श्यावारुणाभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितचित्तत्वं च, इत्यशीतिर्वाविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। (च. सू. 20/11)

1. नखभेद (Cracking of nails)
2. विपादिका (Cracking of feet)
3. पादशूल (Pain in foot)
4. पादभ्रंश (Foot drop)
5. पादसुप्तता (Numbness of foot)
6. वातखुड्डता (Club foot)
7. गुल्फग्रह (Stiffness of ankle)
8. पिण्डिकोद्वेष्टन (Cramp in the calf)
9. गृध्रसी (Sciatica)
10. जानुभेद (Genu varum)
11. जानुविश्लेष (Genu valgu.n)
12. उरुस्तम्भ (Stiffness of thigh)
13. उरुसाद (Pain in the thigh)
14. पाङ्गुल्य (Paraplegia)
15. गुदभ्रंश (Prolapse of rectum)
16. गुदार्ति (Tenasmus)
17. वृषणोत्क्षेप (Pain in scrotum)
18. शोफः स्तम्भ (Stiffness of penis)
19. वंक्षणानाह (Tension of groin)
20. श्रोणिभेद (Pain around the pelvic girdle)
21. विड्भेद (Diarrhea)
22. उदावर्त (Misperistalsis)
23. खञ्जता (Lameness)
24. कुब्जत्व (Kyphosis)
25. वामन (Dwarfism)
26. त्रिकग्रह (Arthritis of sacroiliac joint), दुष्टग्रह
27. पार्श्ववमर्द (Impairment of thoracic movement)
28. उदरावेष्ट (Griping pain in abdomen)
29. हृन्मोह (Brady cardia)
30. हृद्द्रवश्च (Tachycardia)
31. वक्षउद्घर्षण (Rubbing pain in chest)
32. वक्षोपरोध (Chest movement obstructed)
33. वक्षस्तोद (Stabbing pain in chest)
34. बाहुशोष (Atrophy of arm)
35. ग्रीवास्तम्भ (Stiffness of the neck)
36. मन्यास्तम्भ (Atrophy of arm)
37. कण्ठोद्ध्वंस (Hoarsness of voice)
38. हनुभेद (Torticollis)
39. ओष्ठभेद (Pain in lip)
40. अक्षिभेद (Pain in eye)
41. दन्तभेद (Toothache)
42. दन्तशैथिल्य (Looseness of tooth)
43. मूकता (Aphasia)
44. वाक्संग (Lolling speech)

45. कषायास्यता (Astringent taste in mouth)
46. मुखशोष (Dryness of the mouth)
47. अरसज्ञता (Ageusia)
48. घ्राणनाश (Anosmia)
49. कर्णशूल (Ear ache)
50. अशब्दश्रवण (Tinitus)
51. उच्चैश्रुति (Hard of hearing)
52. बाधिर्य (Deafness)
53. वर्त्मस्तम्भ (Ptosis of eye lid)
54. वर्त्मसंकोच (Etropion)
55. तिमिर (Blindness)
56. अक्षिशूल (Pinching pain in eye)
57. अक्षिव्युदास (Ptosis of eyeball)
58. भ्रूव्युदास (Ptosis of eye brow)
59. शंखभेद (Pain in temporal region)
60. ललाटभेद (Pain in frontal region)
61. शिरोरुक् (Generalised headache)
62. केशभूमिस्फुटन (Dandruff)
63. अर्दित (Facial paralysis)
64. एकाङ्गरोग (Monoplegia)
65. सर्वाङ्गरोग (Paraplegia)
66. पक्षवध (Hemiplegia)
67. आक्षेपक (Clonic convulsion)
68. दण्डक (Tonic convulsion)
69. तम (Fainting)
70. भ्रम (Giddiness)
71. वेपथु (Tremor)
72. जृम्भा (Yawning)
73. हिक्का (Hiccup)
74. विषाद (Depression)
75. अतिप्रलाप (Delirium)
76. रौक्ष्य (Dryness)
77. पारुष्य (Harshness)
78. श्यावारुणाभासता (Dusky red appearance)
79. अस्वप्न (Sleeplessness)
80. अनवस्थितचित्तत्वं (Unstable mentality)

पित्त नानात्मक विकार

पित्तविकारांश्चत्वारिंशतमत उर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः - ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, उष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, अंगगंधश्च, अंगावदरणं च, शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च, त्वगवदरणम् च, चर्मदलनम् च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तं च, रक्त मण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा च, कामला च, तिक्तास्यता च, लोहितगन्धास्यता च, पूतिमुखता च, तृष्णाधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च, हरितहारिद्र नेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च, इति चत्वारिंशत्पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः। (च. सू. 20/14)

1. ओष - सर्वाङ्ग में स्वेद और अरति युक्त दाह (Generalized burning sensation)
2. प्लोष - अग्नि के असह्य ताप के समीप बैठना (Red hot burning sensation)
3. दाह - प्रादेशिक दाह (Localized burning)
4. दवथु - इन्द्रियों में दाह (Burning sensation in sense organs)
5. धूम - शिर, ग्रीवा, नासिका कण्ठ में दाह होना (Hot smoke from mouth)

6. अम्लक - अम्लोद्गार - अन्नपान का अम्लविपाक (Acid regurgitation)
7. विदाह (Burning in palm and sole)
8. अन्तर्दाह (Burning in gastro intestinal track)
9. अंसदाह (Burning in shoulder)
10. उष्माधिक्य (Hyperpyrexia)
11. अतिस्वेद (Excessive perspiration)
12. अंगगंध (Odoratous body)
13. अंगावदरण (Deep furrow in lips, anus etc)
14. शोणितक्लेद (Hemodilution of blood)
15. मांसक्लेद (Wet necrosis)
16. त्वग्दाह (Burning in skin and muscular tissue)
17. त्वगवदरणम् (Cracking of skin)
18. चर्मदलनम (Painfull blisters in skin a type of kshudra kustha)
19. रक्तकोठ (Urticaria)
20. रक्तविस्फोट (Blood filled blisters)
21. रक्तपित्तं (Epistaxis, bleeding on anus etc)
22. रक्त मण्डलानि (Hemorrhagic round patches)
23. हरितत्व (Greenishness of skin)
24. हारिद्रत्व (Yellowishness of skin)
25. नीलिका (Cyanosed skin)
26. कक्षा (Herpes zoster)
27. कामला (Jaundice)
28. तिक्तास्यता (Bitter taste)
29. लोंहितगन्धास्यता (Fetor hepaticus)
30. पूतिमुखता मुख से दुर्गन्ध आना (Halitosis)
31. तृष्णाधिक्य (Excessive thirst)
32. अतृप्ति भोजन में तृप्त न होना (Unsatiety)
33. आस्यविपाक मुख में छाले होना (Stomatitis)
34. गलपाक (Pharyngitis)
35. अक्षिपाक (Conjuctivitis)
36. गुदपाक (Anal inflamation and ano rectal abcess)

37. मेढ्रपाक (Inflammation of penis)
38. जीवादानं (Fresh bleeding)
39. तमःप्रवेश (Black out)
40. हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं (Green and pale eyes, urine, stool)

कफ नानात्मज विकार

श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः तद्यथा - तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्त्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणम च, मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेपश्च, धमनीप्रतिचयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च, इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणाम् परिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति। (च. सू. 20/17)

1. तृप्ति-भोजन किये बिना भी कफसे आमपच्यमानाश्य का उपलेप होने से पुरुष तृप्त अनुभव करे। (Satiety)
2. तन्द्रा-ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का ग्रहण न होना तथा कर्मेन्द्रियां का अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होना। (Drowsiness)
3. निद्राधिक्य - **निद्रा श्लेष्मतमोभवा** (Excessive sleep)
4. स्तैमित्य -शरीर गीले कपड़े से ढका हुआ प्रतीत होना। (Feeling of dampness)
5. गुरुगात्रता - शरीरगौरव (Heaviness in body)
6. आलस्य (Lassitude)
7. मुख माधुर्य (Sweet taste in mouth)
8. मुखस्त्रावश्च (Excessive salivation)
9. श्लेष्मोद्गिरण (Expectoration of mucous)
10. मलाधिक्यं (Excessive accumulation of waste product)
11. बलासक - चक्रपाणि के अनुसार इसका अर्थ बलक्षय अथवा श्लेष्मा का उद्रेक होना भी बताया गया है। (Loss of strength or Wet cough)
12. अपक्ति - (Indigestion)
13. हृदयोपलेप (Chest heaviness)
14. कण्ठोपलेप (Excessive mucous on pharynx due to post nasal drip)
15. धमनीप्रतिचय (Atherosclerosis)
16. गलगण्ड (Goiter)
17. अतिस्थौल्य (Obesity)
18. शीताग्निता (Decreased basal metabolic rate)
19. उदर्द (Urticarial rashes)
20. श्वेतावभासता (Pale look)
21. श्वेतमूत्रनेत्रवर्च (White discolouration of eye, urine and stool)

निदानार्थकर व्याधि

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते।। तद्यथा ज्वरसंतापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते। रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।। प्लीहाभिवृद्धया जठरं जठराच्छोथ एव च। अर्शोभ्यो जठरं दु:खं गुल्मश्चाप्युपजायते।। प्रतिश्यायाद्भवेत् कास: कासात् संजायते क्षय:। क्षयो रोगभ्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपलभ्यते।। (च. नि.8/17)

रोगो रोगकर इति वाच्य तन्निदानार्थकर इत्यकरोत्। (मधुकोष टीका)

निदान सेवन से रोग उत्पन्न होते है। कभी-कभी रोग भी वही कार्य करता है अर्थात् एक रोग से अन्य रोग उत्पन्न होने से उसे निदानार्थकर रोग कहते है अत: एक रोग अन्य रोग की उत्पत्ति में कारण बन जाता है। जिन कारणों से रोग की उत्पत्ति हुयी है उन्ही निदानों का निरन्तर सेवन करने से अन्य रोग की उत्पत्ति होती है जैसे- उष्णादि द्रव्यों के अतिमात्रा में सेवन करने से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है व इन्ही कारणों का निरन्तर सेवन करने से ज्वर की उत्पत्ति होती है।

1. ज्वर के संताप से रक्तपित्त उत्पन्न होता है।
2. रक्तपित्त से ज्वर की उत्पत्ति होती है।
3. रक्त पित्त व ज्वर से राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है।
4. प्लीहा के बढ़ जाने से उदर रोग तथा उदर रोग से शोथ उत्पन्न होता है।
5. अर्श से उदर रोग और गुल्म की उत्पत्ति होती है।
6. प्रतिश्याय से कास तथा कास से क्षय होता है कास के निदानों के निरन्तर प्रयोग करने से कास स्वयं शान्त न होकर अपितु धातुक्षय को उत्पन्न करती है धातुक्षय से राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है।

ते पूर्वं केवला रोगा: पश्चाद्हेत्वर्थकारिण: । उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिण:। (च. नि. 8/20)

ज्वर पूर्व में स्वतन्त्र रोग होता है तब एकार्थकारी कहते है। ज्वर से रक्तपित्त उत्पन्न होने के कारण ज्वर को हेत्वर्थ कारी कहा जाता है। जब यह ज्वर स्वतन्त्र रोग रुप में भी रहता है तथा अन्य रोगो को भी उत्पन्न करता है तब इस ज्वर को उभयार्थकारी कहा जाता है।

एकार्थकारी - कोई रोग अन्य रोग को उत्पन्न कर स्वयं शान्त हो जाता है।

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति । न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च। (च. नि. 8/21)

उभयार्थकारी - कोई रोग अन्य रोग को उत्पन्न करने के साथ साथ स्वयं भी बना रहता है तो उसे उभयार्थकारी कहते है।

हेतु संकर

एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि । व्याधेरेकस्य चानेको बहूनाबहवोऽपि च। (च. नि. 8/24)

ज्वरभ्रमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रुक्षहेतुजा:। रुक्षेणैकेन चाप्येको ज्वर एवोपजायते ।। (च. नि. 8/25)

हेतुभिर्बहुभिश्चैको ज्वरो रुक्षादिभिर्भवेत्। रुक्षादिभिर्ज्वराद्याश्च व्याध्य: संभवन्ति हि।। (च. नि. 8/26)

अनेक व्याधियों की उत्पत्ति का एक हेतु होता है और एक व्याधि की उत्पत्ति का एक हेतु होता है। एक ही व्याधि के अनेक हेतु भी होते है। बहुत सी व्याधि के बहुत हेतु भी हुआ करते है इसी को हेतु संकर कहते हैं।

रोगों की चिकित्सा के सन्दर्भ में निदान परिवर्जन अर्थात् निदान सेवन का त्याग करना किसी भी रोग की संक्षिप्त चिकित्सा होती है। किसी व्याधि के अनेक निदान होने पर निदान परिवर्जन करना दुष्कर होता है। जबकि एक हेतु होने पर निदान परिवर्जन आसानी से किया जा सकता है जिससे व्याधि की संक्षिप्त चिकित्सा हो जाती है। जैसे मृत्तिका भक्षण जन्य पाण्डु रोग में मृत्तिका सेवन छोड़ने पर पाण्डु की संक्षिप्त चिकित्सा हो जाती है।

1. रुक्ष द्रव्य (एक मात्र निदान) के सेवन से ज्वर, भ्रम, प्रलाप आदि अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती है
2. रुक्ष एक हेतु से एक वातिक ज्वर भी होता है।
3. रुक्ष आदि बहुत से हेतुओं से ज्वर उत्पन्न होता है।
4. रुक्ष आदि बहुत से हेतुओं से ज्वरादि अनेक व्याधियाँ उत्पन्न होती है।

लिङ्ग संकर

लिङ्गं चैकमनेकस्य तथैवैकस्य लक्ष्यते। बहून्येकस्य च व्याधेर्बहूनांस्युर्बहूनि च।

विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः। ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते।।

विषमारारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते। लिङ्गैरेतैर्ज्वरश्वासहिक्काद्याः सन्ति चामयाः। (च. नि. 8/27-29)

अनेक व्याधियों का एक लक्षण होता है और एक व्याधि का भी एक लक्षण होता है। इसके विपरीत एक व्याधि के बहुत लक्षण होते है और बहुत व्याधि के बहुत लक्षण होते है इसे व्याधि संकर कहा जाता है।

1. विषमारम्भ के कारण जो रोग उत्पन्न होते है उनका एक लक्षण ज्वर होता है और एक व्याधि ज्वर का संताप ही लक्षण है।
2. इसके विपरीत विषमारम्भ आदि बहुत से लक्षण से ज्वर, श्वास, हिक्का आदि अनेक व्याधियाँ जानी जाती है।

इसलिये लिङ्ग संकर द्वारा व्याधि निदान में कठिनाई होती है।

व्याधि संकर

एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः। प्रयोगापरिशुद्धत्वात्तथा चान्योन्यसंभवात्। (च. नि. 8/22)

इस प्रकार जो रोग स्वयं शान्त नहीं होता, प्रत्युत अन्य रोगो की उत्पत्ति में निदानार्थकर क्रिया भी करता है रोग अन्य रोग को उत्पन्न करने के साथ-साथ स्वयं भी बने रहते हैं। इसे व्याधि संकर कहा जाता है। जैसे ज्वर स्वयं शान्त न हो अपितु रक्तपित्त व राजयक्ष्मा को उत्पन्न करे। अर्श स्वयं शान्त न हो अपितु उदर रोग अथवा गुल्म को उत्पन्न करे इस प्रकार एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होने पर यदि विशुद्ध चिकित्सा नही की जाये अर्थात् केवल एक रोग को ध्यान में रख कर चिकित्सा की जाये तो वह फलीभूत नहीं होती है। इस प्रकार से रोगो के संकर की चिकित्सा कृच्छ्रता से होती है।

व्याधि संकर के सन्दर्भ में ही आचार्य चरक ने विशुद्ध चिकित्सा का वर्णन किया ।

विशुद्ध चिकित्सा - जो एक रोग को शान्त करें परन्तु दूसरे रोग को कूपित ना करे।

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्। नासौ विशुद्धः, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्।

(च. नि. 8/23)

व्याधि अवस्था

रोग की प्रक्रिया (Phenomenon of disease) एक ऐसी वस्तु है जो कि निश्चित क्रम से विकास की विविध अवस्थाओं में होकर गुजरती है। इन अवस्थाओं की विस्तृत समीक्षा षडक्रियाकाल के अन्तर्गत की जायेगी। षडक्रियाकाल (Phenomenon of pathogenesis) दोषों की विभिन्न अवस्थाओं के फलस्वरूप व्याधि की अवस्था दिखाई देती है। यह सभी रोग चाहे निज (Constitutional and non communicable) हो अथवा आगन्तुज (Communicable disease) आपस में अर्न्तभावित हो जाते है। निजरोग ही प्रवृद्धावस्था में आगन्तुज रोग में परिवर्तित होते हैं आगन्तुज रोग भी प्रवृद्धावस्था में निज रोग में परिवर्तित हो जाते हैं।

सर्व एव निज विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते: यथा हि- शकुनि: सर्व दिवसमपि परिपतन् स्वां छायां नतिवर्तते। (च. सू. 19/5)

सभी प्रकार के निज रोग वात, पित्त और कफ को छोड़कर नहीं होते है अर्थात् निजरोग वात, पित्त और कफ के ही द्वारा उत्पन्न होते हैं।

जिस प्रकार शकुनि सारे दिन आकाश में चारों तरफ उडकर देश-देशान्तर (पक्षी) को लांघ ज़ाती है पर वह अपनी छाया को कभी भी नहीं लांघ सकती है। ठीक उसी प्रकार अपने धातु की विषमता से उत्पन्न होने वाले सभी शारीर दोषजन्य रोग भले ही अनेक भेद वाले होते हैं परन्तु वात पित्त कफ के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते है।

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकासङ्घा बहव: शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टा:।। (च. सू. 19/6)

शरीर में धातुओं की विषमता से होने वाले विकार सदैव वात, पित्त, कफ के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु आगन्तुज रोग अभिघातादि कारणों से उत्पन्न होते हैं। उनमें धातुसाम्य करने से लाभ नहीं होता है।

तत्र निजास्तु दोषोत्था:। तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते, ततो व्यथाऽभिनिर्वर्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तव:। तेषु व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोष वैषम्यम्। दोष वैषम्येणैव च बहुरुपा रुगनुबध्यते प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्ध:, केवलं पौर्वापर्ये विशेष:। (अ. सं. सू. 22/9)

दोषों द्वारा उत्पन्न निजरोगों में पहले वातादि दोष दूषित होते है तत्पश्चात् व्यथा उत्पन्न होती है और आगन्तुज रोग उत्पन्न होने के कुछ समय पश्चात् दोषों का प्रकोप हो जाता है।

आगन्तुजरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्ध:। (च. सू. 19/7)

आचार्य चरक आगन्तुज रोग होने के बाद वह निज विकारों से अनुबन्ध स्थापित करता है। और बढा हुआ निजविकार बाद में आगन्तुज रोगों में होने वाले लक्षणों का अनुसरण करता है। जब आगन्तुज विकार निज से और निज आगन्तुज से सम्बन्ध कर लेते हैं तो दोनों विकार एक ही तरह के हो जायेगें तब प्रधान रोग की चिकित्सा पहले की जाती है और अप्रधान की बाद में की जाती है। पर यदि अप्रधान के द्वारा अधिक कष्ट पहुँच रहा हो तो उसी को पहले शान्त करना चाहिये।

अत: निज व आगन्तुज कुछ समय बाद एक समान लक्षण उत्पन्न करते है व चिकित्सा करने से पहले प्रधान और अप्रधान का निश्चय करलेना चाहिये।

जैसे ज्वर या उन्माद में वातज, पित्तज या कफज भेदों में प्रारम्भ में दोषानुबन्धित लक्षण दिखाई देते हैं व इनमें उत्तरकाल में भूतावेश भी हो सकता है। यदि आगन्तुज उन्माद या अभिघातज ज्वर में दोषानुबन्धित लक्षण उत्तर काल में दिखाई देते हैं। जबकि प्रारम्भिक काल में आगन्तुज कारणों से सम्बन्धित लक्षण ही दिखाई देते हैं।

व्याधि प्रकट होने के बाद भी विभिन्न अवस्थाओं में लक्षण प्रकट करती है जैसे डॉ. जैक्सन का - जो अमेरिका के बालकों के आमरोग के विशेषज्ञ है तथा जिन्होंने सन् 1948 के दिसम्बर मास में अमेरिकन Pediatric academy (बालरोग विज्ञान विहार) की संभाषा में यह विचार प्रकट किया था कि आमरोग से पीडित रोगी अधोलिखित "आमवात की पाँच अवस्थाओं में से किसी एक अवस्था में देखे जा सकते है"-उद्धरण दिया है, यथा :-

1. उद्दीपक अभिकर्ता (Stimulating agent) के आक्रमण की अवस्था।
2. आक्रमण तथा रोग के लक्षण व चिह्नों के उत्पन्न होने के मध्य की अवस्था।
3. आमवात रोगी क्रियाशीलता की अवस्था
4. रोग की (सुप्ति की) निष्क्रियता की चिरकारी अवस्था। तथा
5. आमवात रोग की क्रियाशीलता की अवस्था।

प्रो. सिस्लेघी ने आमवात की विभिन्न अवस्थाओं का विभिन्न नामों सहित वर्णन किया है

1	2	3	4	5
आक्रमणकारी अवस्था	गुप्त अवस्था	स्पष्ट क्रियाशीलता की अवस्था	निष्क्रियता अवस्था	आमवात की क्रियाशीलता की अवस्था रोगमुक्तावस्था (1)
सविष अवस्था	(लक्षण) मुक्त अवस्था	उद्विस्फोट अवस्था	जीर्ण क्रिया शीलता की अवस्था	
पूयोत्पत्ति की अवस्था	दोषों की निर्मिती की अवस्था	तीव्र आमवात के आक्रमण की अवस्था	आमवात की क्रियाशीलता की दीर्घकालीन अवस्था	
संचय-अवस्था	आमवात की पूर्वरूपावस्था	अपूयमानावस्था		

इस प्रकार प्रत्येक व्याधि विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न लक्षण उत्पन्न करती है, इस अवस्था विशेष के अनुसार की गयी चिकित्सा फलदायी हो सकती है।

अष्ट महागद

परिभाषा - डल्हण के अनुसार

महागदा इति मारणात्मकत्वादसाध्यत्वाच्च महत्वमेषामिति। (डल्हण सु. सू. 33/4-3)

जो रोग मारक स्वभाव वाले होते हैं, व चिकित्सात्मक दृष्टि से भी असाध्य होते है उन्हें महारोग कहा जाता है।

कुर्याद् विरुद्धमशनं ज्वरमस्रपित्तमष्टौ गदाश्च महतो विषवच्च मृत्युम्। (अ. स. सू. 9/29)

विरुद्ध भोजन के सेवन से होने वाले ज्वर रक्तपित्त आदि अष्ट रोग विष के समान मृत्यु कारक होने के कारण महागद कहलाते हैं।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याध्यो यान्त्यवार्यताम्। रसायनाद्विना---।। (सु. सू. 33/3)

जो रोग उपद्रव से युक्त होने के कारण रसायन के बिना अवार्य अर्थात् अचिकित्स्य हो जाते है। इन्हें सम्मिलित रूप से महागद कहा जाता है।

अष्टमहागद में भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न व्याधियों को सम्मिलित किया है।

आचार्य चरक के अनुसार अष्टमहागद निम्न हैं:-

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी तथोदरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी चयो नरः।
अचिकित्स्या भवन्त्येते बल मांस क्षये गति। अन्येष्वपि विकारेषु तान् भिषक् परिवर्जयेत्।

(च. इ. 9/8-9)

चरकसंहिता में अष्टमहागद का वर्णन इन्द्रियस्थान के यस्यश्यावनिमित्तीयेन्द्रिय अध्याय में मिलता है। अष्ट महागद में निम्न आठ रोग सम्मिलित है।

1. वातव्याधि	2. अपस्मारी	3. कुष्ठी	4. शोफ
5. उदर	6. गुल्म	7. मधुमेह	8. राजयक्ष्मा

सुश्रुतानुसार

अष्टमहागद का वर्णन सूत्र स्थान में अवारणीय अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

वातव्याधिःप्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्। अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्।।
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकत्स्या महागदाः।। प्रमाणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमी ज्वरैः।
मूर्च्छाऽतिसार हिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः। वर्जनीय विशेषण भिषजासिद्धिमिच्छता।। (सु. सू. 33/4-6)

वातव्याधि, प्रमेह, कुष्ठ, अर्श, भगन्दर, अश्मरी, मूढगर्भ, उदर रोग आदि यह आठ महारोग है। यह रोग स्वभाव से दुश्चिकित्स्य होते है। जब यह रोग प्राणक्षय, मांस क्षय, श्वास, तृष्णा, रस रक्तादि धातुशोष, वमन, ज्वर, मूर्च्छा, अतिसार, हिक्का, इन उपद्रवों से युक्त हो तो चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

अष्टांग संग्रहकार के अनुसार

वातव्याध्याश्मरी कुष्ठमेहोदर भगन्दराः। अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टौ महारोगाः सुदुस्तराः।

(अ. स. सू. 9/20-21)

अष्टांग संग्रहकार के अनुसार अष्टमहागद
वातव्याधि, अश्मरी, कुष्ठ, प्रमेह, उदर रोग, भगन्दर, अर्श तथा ग्रहणी है।

क्र. सं.	चरक संहिता	सुश्रुत संहिता	अष्टांगसंग्रह
1.	वातव्याधि	वातव्याधि	वातव्याधि
2.	अपस्मार	प्रमेह	अश्मरी
3.	कुष्ठी	कुष्ठ	कुष्ठ
4.	शोथ	अर्श	प्रमेह
5.	उदर	भगन्दर	उदर
6.	गुल्म	अश्मरी	भगन्दर
7.	मधुमेह	मूढ़गर्भ	अर्श
8.	राजयक्ष्मा	उदर रोग	ग्रहणी

प्रत्येक महागद का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है।

वातव्याधि-

शूनं सुप्तत्व चं भग्नं कम्पाध्माननिपीड़ितम्। नरं रुजार्त्तमन्तश्च वातव्याधिर्विनाशयेत्।। (सु. सू. 33/7)

वातव्याधि से ग्रसित व्यक्ति शोथ से युक्त होने पर, त्वचा सुप्त होने पर, अस्थि में भग्न होने पर, कम्पन से युक्त होने पर, आध्मान से पीड़ित होने पर तथा वेदना व दु:ख से पीड़ित होने पर अचिकित्स्य होता है।

अर्थात् निम्न लक्षणों से युक्त वातव्याधि त्याज्य होती है।

वातव्याधि रोग का महात्म्य बताते हुये मधुकोशटीकाकार विजयरक्षित जी ने वर्णित किया कि-

एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधिकस्मान्नोक्तौ? उच्यते- वायुरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दु:साध्यत्वादाश्वेवात्ययकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं न तु कफपित्तव्याध्यभिधानम्। (मधुकोश टीका मा. नि. 22/1-4)

वातव्याधि के समान पित्तव्याधि तथा कफव्याधि का वर्णन नहीं किया गया हैं क्योंकि वायु अतिबलवान् व आशुकारी होती है। वातव्याधि दुश्चिकित्स्य होती है। वातव्याधि की आत्ययिक अवस्था शीघ्र उत्पन्न हो जाती है व यह व्याधि विशिष्ट चिकित्सा उपक्रमों द्वारा ही साध्य होती है। वात दोष का प्रबल दुष्टिकारक स्वभाव पित्त व कफ दोष में नहीं होता है। इसलिये कफ व्याधि व पित्त व्याधि का भिन्न वर्णन नहीं मिलता जबकि वातव्याधि का महागद होने के कारण मिलता है।

अपस्मार

बहुशोऽपस्मरन्तन्तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम्। नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणमपस्मारी विनाशयेत्।। (सु. सू. 33/26)

जो व्यक्ति अनेक बार अपस्मार के वेग से पीड़ित हो, जो क्षीण हो गया हो, जिसकी भौंहे चलायमान होते हों और नेत्रों में विकृति हो गयी हो ऐसे मनुष्य को अपस्मार विनष्ट कर देता है।

कुष्ठ

प्रभिन्नं प्रसुताङ्गञ्च रक्तनेत्रं हतस्वरम्। पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्ठिनम्।। (सु. सू. 33/9)

कुष्ठ रोगी के अंग शरीर से भिन्न हो जाये अथवा शरीर से अंग विशेष पृथक् हो जाये, अंग गलने लग जाये, नेत्र रक्त वर्ण के हो जाये तथा पञ्चकर्म गुणों से भी अतिक्रान्त हो जाये तो ऐसे कुष्ठ रोगी की मृत्यु निश्चित है।

पञ्चकर्म गुणातीन शब्द के निम्न अर्थ होते हैं।

1. पांचवी अस्थि धातु में स्थित हुये कुष्ठ के नासाभंङ्गादि गुण व इनसे भी अधिक गुण से अतीत अधिक प्रभावशाली गुण युक्त मनुष्य को कुष्ठ मार डालता है।

अस्थिगत कुष्ठ के लक्षण - **नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षते च कृमिसम्भवः। भवेत् स्वरोपघातश्च अस्थिमज्जसमाश्रिते। कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां सभेदः क्षतसर्पणम्।** (सु. नि. 5/25)

पांचवी अस्थि धातुगत् कुष्ठ में जो लक्षण पाये जाते हैं वही लक्षण यदि अधिक प्रवृद्ध अवस्था में परिवर्तित हो जाये तो कुष्ठ असाध्य होता है।

2. पांचवी अस्थि धातु में तथा उस से भी अधिक गम्भीर धातु मज्जा व शुक्रगत कुष्ठ रोगी को मारडालता है।

मेदोगतं भवेद्याप्यमसाध्यमत उत्तरम्। (सु. नि. 5/29)

मेदोधातुगत कुष्ठ याप्य होता है तथा इनसे उत्तर धातु (अस्थि, मज्जा, शुक्र) में गया कुष्ठ असाध्य होता है।

3. पञ्चमं नैव चोपक्रमेत्। (सु. चि. 9/6)

वमन, विरेचन, आस्थापन, शिरोविरेचन व शोणितावसेचन इन पञ्चकर्म से भी जो रोगी ठीक न हो उसे कुष्ठ मार डालता है। यदि कुष्ठ रोगी मर जाता है तब वह दूसरे जन्म में भी कुष्ठ रोग से ग्रस्त होता है इसलिये **'नातः कष्टतरो रोगो'** अर्थात् जैसा यह कुष्ठ भयावह रोग कहा गया है वैसा दूसरा कष्टदायी कोई रोग नहीं है।

शोफ

आचार्य चरक ने शोफ रोग की महागद के अन्तर्गत गणना की है। सुश्रुत व वाग्भट्ट ने शोफ महागद नहीं बताया।

महागदस्य श्वयथोर्यथावत्.....। (च. चि. 12/3)

आचार्य चरक ने शोथ रोग को अतिकष्टकारी होने के कारण महागद संज्ञा दी है।

उदर रोग

पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोफातीसारपीड़ितम्। विरिक्तं पूर्यमाणञ्च वर्जयेदुरार्दितम्।। (सु. सू. 33/14)

पार्श्वभंग, अन्न में द्वेष, शोफ अतिसार से पीड़ित तथा विरेचन औषधि देने से उदर के खाली होने पर पुनः दोषों से भर जाता हो तो ऐसे उदर रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

उदर रोगी के लिये आचार्य चरक ने अनाथवत् संज्ञा दी है।

उदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः। शुष्क वक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः।

प्रनष्टग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः। दीनाः प्रतिक्रिया भावाज्जहतोऽसूननाथवत्।

(च. चि. 13/5-6)

उदर रोग से पीड़ित मुनष्य दुःखी दिखाई देते है व उनके मुख सुखे हुये रहते हैं, शरीर कृश, उदर और कुक्षि में आध्मान, अग्नि का बल व आहार ग्रहण करने की शक्ति नष्ट हुयी होती है, सभी प्रकार की शारीरिक व मानसिक चेष्टाओं को करने में असमर्थ, ऐसे दीन मनुष्य चिकित्सा के अभाव के कारण अनाथ के समान अपने प्राणों को नष्ट कर देते हैं। चिकित्सा नहीं करने पर सभी उदररोग, जलोदर में परिवर्तित हो जाते हैं व अन्य उपद्रव उत्पन्न होने पर रोगी अपने प्राण शीघ्र त्याग देता है।

गुल्म

श्वासशूलपिपासाऽन्नविद्वेषग्रन्थिमूढताः। भवन्ति दुर्बलत्वञ्च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः।। (सु. सू. 33/21)

श्वास, शूल, पिपासा, अन्नविद्वेष, दुर्बलता आदि लक्षण मृत्यु प्राप्त करने वाले गुल्मरोगी के होते हैं।

गुपितनिलमूलत्वागूढमूलोदयादपि। गुल्मवद्वा विशालत्वाद्गुल्म इत्यभिधियते। (सु. उ. 42/5-6)

गुपितनिलमूलत्वाद् अर्थात् आकुलिकृत वायु गुल्म का मूल कारण होने से गूढ मूल की तरह उत्पन्न होने से अथवा गुढ (गुप्त) मूल वाली वायु से उत्पन्न होने से तथा मनुष्य में गुल्म के समान विस्तीर्ण होने से गुल्म कहा जाता है।

कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च। तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते।।

(मधुकोष टीका)

सभी गुल्मों में वायु को ही मूल माना है, तथा यह लता गुल्म के समान विशाल होने से इसे दोष गुल्म कहा जाता है।

मधुमेह

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव वा। पिडकापीड़ितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम्।। (सु. सू. 33/8)

अविपाक, अरुचि आदि उपद्रवों से पीड़ित, मूत्र आदि का अधिक स्राव करने वाले एवं शराविका, कृच्छपीका आदि पीड़िकाओं से अधिक पीड़ित मनुष्य को प्रमेह मार डालता है।

प्रमेह के कफ, पित्त, वात दोषों के अनुसार अनेक उपद्रव होते हैं।

जैसे- कफज प्रमेह में अविपाक, अरुचि, छर्दि, निद्रा, कास तथा पीनस, पित्तज प्रमेह में बस्ति और मेह प्रदेश में तोद, मुष्क अवदरण आदि तथा वातिक प्रमेह में उदावर्त, हृदयग्रह, लोलता आदि लक्षण उपस्थित होने पर प्रमेह मारक होता है।

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः। मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि। (सु. नि. 6/30)

सर्व प्रकार के प्रमेहों की प्रारम्भिक अवस्था में चिकित्सा नहीं की जाये तो वह मधुमेह का रूप धारण कर लेते हैं। तथा इस अवस्था में असाध्य हो जाते हैं।

तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति। यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते।। (च. सू. 17/80)

मेद, मांस तथा कफ, पित्त से आवृत वायु अधिक कुपित होकर ओज को मूत्राशय में लेकर आती हैं तब कष्टकारी मधुमेह की उत्पत्ति होती हैं। **जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।** (च. चि. 6/57)

सहज प्रमेह तथा मधुमेह साध्य नहीं होते हैं, क्योंकि यह प्रमेह बीज दोष के कारण होते हैं। बीज दूषित होने का तात्पर्य माता के शोणित व पिता के शुक्र में दोषों की उपस्थिति होने से उत्पन्न होने वाली संतान मधुमेह से ग्रसित होती हैं।

राज्यक्ष्मा

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीड़ितम्। कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम्।। (सु. सू. 33/20)

जिसके नेत्र सफेद हो गये हो, जो अन्न में द्वेष रखता हो, जो उर्ध्व श्वास से पीड़ित हो एवं अत्यन्त कृच्छ्रता से मूत्र त्याग करता हो, ऐसे मनुष्य को राज्यक्ष्मा मार डालता है।

------ **महागदम्। सम्प्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात् प्राणक्षय प्रदम्।।** (च. सू. 8/27)

आचार्य चरक ने राज्यक्ष्मा चिकित्सा में राज्यक्ष्मा को महागद् कहा क्योंकि यह जीवन को समाप्त करने वाला रोग है। यह रोग त्रिरुप षडरुप व एकादश रूपों से युक्त होता है। अतः रोगों के समूहों से युक्त राजयक्ष्मा में उपद्रव भी सम्मिलित हो जायेगें तो रोगी की मृत्यु निश्चित है।

अनेकारोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। दुर्विज्ञेयो दुर्निवारः शोषो व्याधिर्महाबलः।। (सू. उ. 41/3)

अनेक रोग जैसे शोथ, ज्वर, कास आदि उपद्रव रूप में जिस रोग का आश्रय करके उत्पन्न होते हो तथा जिस रोग की पूर्वरुपावस्था में भी अनेक रोग जैसे प्रतिश्याय, कास, श्वास आदि उत्पन्न हो। जिसका निदान कठिनता से हो और जिसकी चिकित्सा भी आसानी से नहीं की जा सके, ऐसे महाबलशाली रोग को शोष कहा जाता हैं।

आचार्य चरक द्वारा वर्णित अष्ट महागद (इन्द्रिय स्थान 9 अध्याय) का वर्णन किया जा चुका है। अन्य संहिताकरों के अनुसार वर्णित अन्य महागदों का वर्णन किया जा रहा है :-

रक्तपित्तं

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः। रक्तानाञ्च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति।। (सु. सू. 33/24)

जो मनुष्य बार-बार रक्त वमन करता हो, जिसके नेत्र रक्त वर्ण के हो, तथा जो सभी दिशाओं को रक्तवर्ण का देखता हो ऐसा रक्तपित्त रोगी को नष्ट कर देता हैं।

आचार्य चरक ने अष्टमहागद के अन्तर्गत रक्तपित्त की गणना नहीं की है परन्तु रक्तपित्त व्याधि चिकित्सा में महागद अर्थात् अत्यन्त कष्टकारी होना वर्णित किया है।

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारी च। रक्तपित्त एक ऐसा महारोग है जिसका वेग, अधिक तीव्र होता है और अग्नि जिस प्रकार तृण समुदाय को शीघ्र ही नष्ट कर देती है उसी प्रकार शीघ्र ही शरीर को नष्ट कर देता है।

अर्श

तृष्णारोचक शूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्। शोफातीसारसयुक्तमर्शो व्याधिर्विनाशयेत्।। (सु. सू. 33/10)

तृष्णा, अरूचि, और शूल से पीड़ित तथा जिसका रक्त अधिक निकल गया हो, और शोफ तथा अतीसार से युक्त मनुष्य को अर्श मार डालता है। अर्श को आचार्य सुश्रुत ने दुर्नाम संज्ञा भी दी है। जिस मनुष्य की तीनों वलियाँ अर्श से पीडित हो जाती है उसमें अधोप्रदेश में स्थित अपान वायु अर्श द्वारा दुष्ट होकर उपर की ओर व्यान वायु के साथ मिलकर पाचकाग्नि का नाश कर देती है। एक बार पाचकाग्नि का नाश होने के बाद शीघ्र मृत्यु तो निश्चित होती है।

अश्मरी

प्रशूननाभिवृषणं रुद्धमूत्रं रुगन्वितम्। अश्मरी क्षपयत्याशु सिकताशर्कराऽन्विता।। (सु. सू. 33/12)

जिस रोगी की नाभि व वृषण सूज गये हों, मूत्र रुक गया हो तथा शूल हो रहा हो तो ऐसे मनुष्य को अश्मरी शीघ्र ही मार डालती है।

अश्मरी दारुणे व्याधिरन्तकप्रतिमो मतः। (च. चि. 7/3)

अश्मरी भयंकर व्याधि है, इसे यम के समान मृत्यु तुल्य समझना चाहिए।

मूढ़ गर्भ

गर्भकोष परासङ्गो मक्कल्लो योनिसंवृत्तिः। हन्यात् स्त्रियं मूढ़गर्भे ययोक्ताञ्चाप्युपद्रवाः।।

(सु. सू. 33/13)

गर्भकोष अर्थात् गर्भाशय में स्थित गर्भ का संग होने पर, मक्कल शूल होने पर तथा योनिसंवरण आदि उपद्रव मूढ़ गर्भ में होने पर स्त्री को मार डालते हैं।

नातोऽन्यत् कष्टममस्ति यथा मूढ़गर्भशल्योद्धरणं।

मूढ़ गर्भ शल्य को निकालने के समान दूसरा कठिन शल्य कर्म नहीं है।

ज्वर

यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा। शीतार्दितोऽन्तरूष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः।।

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदिं संङ्गातशूलवान्। नित्यं वक्त्रेण चोच्छ्वस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम्।

हिक्का श्वासपिपासाऽऽर्तं मूढ़ं विभ्रान्तलोचनम्।। संततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः। आविलाक्षं प्रताम्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च। क्षीणशोणितमांसञ्च नरं नाशयति ज्वरः।। (सु. सू. 33/15-18)

जिस मनुष्य में ज्वर के साथ निम्न लक्षण मिलते हैं तो वह मनुष्य को शीघ्र मार देता है :-

- बार-बार मूर्च्छित होकर शयन करना।
- मनुष्य बाहर से शीत तथा भीतर से दाह से पीड़ित हो।
- जिसके शरीर के रौंगटे खडे होते हों तथा जिसकी आँखे लाल हों, जिसके हृदय प्रदेश में अत्यन्त शूल होता है तथा मुख से उच्छवास लेता हो।
- हिक्का, श्वास, पिपासा से पीड़ित हो तथा जिसका चित्त मूढ़ हो गया हो, नेत्र विभ्रान्त हो गये हों।
- जो निरन्तर श्वास लेता हो, एवं क्षीण हो गया हो।
- जिसके नेत्र अश्रु से भर गये हों, अत्यन्त मोह निद्रा से युक्त होता है।
- जिसका रक्त और मांस क्षीण हो गये हों।

अतिसार

श्वासशूलपिपासाऽऽक्षीणं ज्वरनिपीड़ितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्।। (सु. सू. 33/19)

श्वास, शूल, पिपासा से पीड़ित, क्षीण हुए ज्वर से पीड़ित, तथा विशेषकर वृद्ध मनुष्य को अतिसार नष्ट कर देता है।

विद्रधि

आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृडान्वितम्। रुजाश्वाससमाविष्टं विद्रधिर्नाशयेन्नरम्।। (सु. सू. 33/22)

आध्मान से युक्त, मूत्रः अवरोधि, वमन, हिक्का और तृषा से युक्त तथा पीड़ा और श्वास से युक्त रोगी को अन्तर्विद्रधि नष्ट कर देती है।

पाण्डु

पाण्डुदन्तनखो यश्च पाण्डुनेत्रश्च मानवः। पाण्डुसङ्गतदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति।। (सु. सू. 33/23)

जिस मनुष्य के दन्त और नख पाण्डु रंग के हो जायें तथा नेत्र भी पाण्डु हो जायें तथा जो सर्व पदार्थों को पाण्डु वर्ण का देखता है ऐसा पाण्डु रोगी नष्ट हो जाता है।

उन्माद

अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीणमांसबलो नरः। जागरिष्णुरसन्देहमुन्मादेन विनश्यति।। (सु. सू. 34/25)

जो अपना मुख नीचे को या ऊपर को रखता हो तथा जिसका मांस और बल क्षीण हो गया हो, तथा जो नींद नहीं आने से जागरण करता हों, वह निश्चय ही उन्माद से मर जाता हैं।

अपस्मार

बहुशोऽपस्मरन्तन्तु प्रक्षीणं चलितभ्रुवम्। नेत्राभ्याञ्च विकुर्वाणमपस्मारी विनाशयेत्।। (सु. सू. 33/26)

जो व्यक्ति अनेक बार अपस्मार के वेग से पीड़ित होता हो तथा जो क्षीण हो गया हो व जिसकी भौंहें चलायमान होती हों, और नेत्रों में विकृति हो गयी हों ऐसे मनुष्य को अपस्मार विनष्ट कर देता है।

इस प्रकार अष्टमहागद तथा अन्य व्याधियाँ जो कि महागद के समान कष्टकारी होती हैं, का भी वर्णन किया गया है। ऐसी व्याधियों की चिकित्सा वैद्य को नहीं करनी चाहिए क्योंकि रोगों की असाध्य अवस्था में चिकित्सा करने से अर्थ, विद्या, यश की हानि तथा उपक्रोश (रोगियों) का संग्रह नहीं कर पाता।

अष्टौनिन्दितीय व्याधियाँ

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति, तद्यथा-अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा च, अलोमा च, अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च, अतिकृशश्चेति।। (च. सू. 21/3)

एषां च निन्दितत्वे वैरुप्यमेव हेतुः। (शिवदास सेन टीका)

निन्दनीय पुरुष अर्थात् शरीर की बनावट के अनुसार निन्दित पुरुषों का वर्णन चरक संहिता सूत्रस्थान के अष्टौनिन्दितीय अध्याय में किया गया है। कुबड़ा, लँगड़ा आदि शरीर निन्दित है किन्तु उसमें शरीर का एक देश ही विकृत रहता है। अष्टौनिन्दितीय में सर्वांश में निन्दित शरीर का वर्णन किया गया है।

निन्दितत्वं न दृश्यत्वेन कुत्सितत्वम्, आकृतिसौष्ठवादतिदीर्घादीनामपि सौन्दर्यात्। किन्तु क्रिया-विशेषोऽसाधुत्वम्। (गंगाधर टीका)

अर्थात् निन्दित व्याधि का तात्पर्य कुत्सित अथवा कुरुपित दिखना नहीं होता वरन् निन्दित व्याधि चिकित्सकीय दृष्टि से असाध्य होती है।

1.	अतिदीर्घ	-	Gigantism
2.	अतिह्रस्व	-	Dwarfism
3.	अतिलोमा	-	Excess hair on body
4.	अलोमा	-	Hairless body
5.	अतिकृष्ण	-	Nigro body
6.	अतिगौर	-	Albinism
7.	अतिस्थूल	-	Obese
8.	अतिकृश	-	Emaciation

अष्टौनिन्दितीय अध्याय में आत्रेय पुनर्वसु ने अष्ट निन्दित पुरुषों में से प्रथम छः निन्दित व्याधियों का नामतः वर्णन किया है, जबकि अंतिम दो अतिस्थूल व अतिकृश व्याधियों के हेतु, उनके दोष तथा चिकित्सा का विस्तृत वर्णन किया गया है।

1. अतिदीर्घ - अतिदीर्घ निन्दित व्याधि को Gigantism कहा जाता है, Gigantism का मुख्य कारण Growth hormone का अधिक मात्रा में स्रावित होना।

आयुर्वेद मतानुसार अतिदीर्घ निन्दित व्याधि में कार्यकारी दोष वात है, इसलिए यह वात कर्म पुरुषों में आधिक्य से दिखाई देता है।

2. अतिह्रस्व - अतिह्रस्व अवस्था को Dwarfism कह सकते हैं। Dwarfism का मुख्य कारण Growth hormone की कमी हैं।

3. अतिलोम - अतिलोम निन्दित व्याधि को Hyper trichosis कह सकते हैं। Hypertrichosis सामान्यत: Congenital या जन्मजात होती हैं तथा कभी-कभी कुछ विशेष औषधियों जैसे Monoxidil [antihypertensive] के सेवन से उत्पन्न घातक प्रभाव (Side effect) के रूप में दिखाई देती हैं।

4. अलोम - अलोम निन्दित व्याधि को Atrichosis कह सकते हैं। Atrichosis भी सामान्यत: Congenital या जन्मजात ही होती है।

5. अतिकृष्ण - इस प्रकार के व्यक्तियों में Melanin pigment की अधिकता होती है।

6. अतिगौर - अतिगौर निन्दित व्याधि को Albinism कह सकते हैं। Albinism genetic disorder हैं। इसमें आंशिक रूप से अथवा पूर्ण रूप से Melanin pigment अनुपस्थित रहता हैं।

इस प्रकार के रोगियों को सूर्य के प्रकाश के प्रति अधिक संवदेना होती हैं, जिसे Photo Phobia कहते हैं।

7. अतिस्थूल [Obesity]

निदान

तदतिस्थौल्यमतिसंपूरणाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायदिवास्वप्नाद्धर्ष-नित्यत्वादचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते। (च. सू. 21/4)

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च। तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशन शीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवान्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामक्षतिस्नेहान्मेदो जनयति। (सु. सू. 15/37)

1. आहारज निदान-

(अ) अधिक मात्रा में भोजन करना। (ब) गुरु भोजन उपयोग।

(स) मधुर भोजन। (द) शीत भोजन।

(य) स्निग्ध भोजन।

2. विहारज निदान-

(अ) अव्यायाम अर्थात् व्यायाम नहीं करना। (ब) अव्यवाय अर्थात् मैथुन नहीं करना।

(स) दिवास्वप्न करने से।

3. मानसिक निदान

(अ) सर्वदा प्रसन्न चित्त रहना।

(ब) कभी भी चिन्ता शोक आदि मानसिक विषयों से ग्रस्त न होना।

4. बीज स्वाभाव से अर्थात् माता-पिता के बीज के अनुसार स्वभावत: शरीर स्थूल हो जाता है।

अतिस्थौल्य के निदानों के दो भेद किये जा सकते है- प्रथम गुर्वादि आहार-विहार के सेवन से उत्पन्न तथा द्वितीय बीज स्वभाव से उत्पन्न होता है।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार आहार रस के कारण ही स्थौल्यता उत्पन्न होती है।

अतिस्थूल के दोष-

अतिस्थूलस्य तावदायुषो हासो जवोपरोधः कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः। (च. सू. 21/4)

1. आयुषो हास- तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेरतरे धातवः, तस्मादस्यायुषो हासः। (च. सू. 21/4)

स्थूल होने पर शरीर में मेद धातु की वृद्धि होती है तथा मनुष्य मोटा होता है। मेद धातु की अधिक वृद्धि होने के कारण शरीर में अन्य धातुएँ अधिक मात्रा में नहीं बन पाती हैं। जब रसादि धातुओं का उचित मात्रा में निर्माण नहीं होगा तो आयु का क्षय होना स्वाभाविक हो जाता हैं।

2. जवोपरोधः- शैथिल्यात् सौकुमार्यादुरुत्वाच्च मेदसो जवोपरोधः। (च. सू. 21/4)

जब शरीर अधिक मोटा होता है तो शरीर में शिथिलता और सुकुमारता आ जाती हैं क्योंकि मेद स्वभाव से ही गुरु होता है अतः अधिक मोटे मनुष्यों में कार्य करने का उत्साह नहीं रहता हैं।

3. कृच्छ्रव्यवायता- शुक्राबहुत्वान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता। (च. सू. 21/4)

मेद के अधिक बढ़ जाने से अन्य धातुओं के स्त्रोत बन्द हो जाते हैं जिससे अधिक मात्रा में मेद धातु की ही वृद्धि होती रहती है। रसादि धातुएँ अल्प मात्रा में बनती है। फलस्वरूप शुक्र बहुत ही कम मात्रा में बनता हैं। शुक्र के कम बनने से मैथुन कर्म में कठिनाई होती हैं।

4. दौर्बल्यं - दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां। (च. सू. 21/4)

धातुओं के समान रूप से न बनने के कारण दुर्बलता अधिक रहती है।

5. दौर्गन्ध्यं- दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात् स्वेदनत्वाच्च। (च. सू. 21/5)

मेद धातु के विकृत होने से तथा मेद के स्वेदोत्पादन स्वभाव के कारण शरीर में दुर्गन्धता होती हैं।

6. स्वेदाबाधः-मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद्बहुत्वाद् गुरुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः। (च. सू. 21/4)

मेद के समान गुणधर्म वाला कफ भी विष्यन्दी होता हैं। मेद कफ के साथ मिलकर अधिक विष्यन्दता और गुरुता उत्पन्न करता हैं। जिसके कारण अतिस्थूल पुरुष व्यायाम करने में सर्वदा असमर्थ रहता है, तथा अधिक स्वेद प्रवृति होने के कारण अधिक कष्ट भी होता हैं।

7, 8. क्षुदतिमात्रं और पिपासातियोगश्चेति-

तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति। (च. सू. 21/4)

अतिस्थूल मनुष्य के कोष्ठ में वायु अधिक होने के कारण अग्नि तीव्र होती जाती हैं, जिससे अधिक बुभुक्षा होती हैं तथा अग्नि की तीव्रता के कारण ही पिपासा भी अधिक होती हैं।

अतिस्थौल्य की सम्प्राप्ति

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः। चरन् संधुक्षयत्याग्निमाहारं शोषयत्यपि।।

तस्मात् स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाङ्क्षति। विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात्।।

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ। एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा।।

मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः। विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम्।।

(च. सू. 21/5-8)

गुरुमधुरादि आहार का नित्य सेवन करने से कफवृद्धि होती है। कफ अपने गुणधर्मी धातुओं को अधिक मात्रा में बढा देता हैं। मेद धातु बढकर जब सारे स्त्रोतों के मार्गों को बन्द कर देती है तब कोष्ठ में वायु विशेष रूप से बढ़कर गमन करती हुयी, अग्नि को प्रदीप्त करती है। यह अग्नि आहार का शोषण भी कर लेती है, जिससे आहार का पाचन शीघ्र होने लगता है परिणामस्वरूप मनुष्य को बार-बार अधिक मात्रा में भूख लगती है।

यदि आहार काल का अतिक्रमण कर दिया जाय तो वह वह्नि वायु के संयोग से और अधिक बढकर वातपित्त जन्य विशेष उपद्रव करने वाली होती है तथा अग्नि दोष दोनों बढ़कर विशेष उपद्रव करने वाले होते हैं। यह बढी हुयी वायु व अग्नि पुरुष को उसी प्रकार नष्ट कर देती है जिस प्रकार बढी हुयी दावाग्नि वन को जलाकर नष्ट कर देती है।

स्थौल्य का सम्प्राप्ति चक्र

कफ प्रधान-आहार सेवन से

↓

कफ वृद्धि -

↓

मेद धातु की अधिक वृद्धि

↓

मेदवहस्त्रोतस के अतिरिक्त अन्य उत्तरोत्तर स्त्रोतसों के मार्ग अवरुद्ध
जिससे उत्तरोत्तर धातु का निर्माण नहीं होता है।

↓

वायु का मार्ग परिवर्तित

↓

स्त्रोतसों के बद्ध होने के कारण

↓

वायु की कोष्ठ में अधिक वृद्धि

↓

कोष्ठस्थ अग्नि को वायु अधिक प्रदीप्त करती है।

↓	↓
भोजन की बार-बार क्षुधा	कोष्ठस्थ अग्नि भोजन का शीघ्र पाक करेगी
↓	↓
अधिक भोजन करने से	भोजन काल अतिक्रमण कर दिया जायेगा तो
↓	↓
स्थौल्य	वायु व अग्नि दोनों की वृद्धि
	↓
	उपद्रव उत्पन्न (अल्पप्राण, मैथुन शक्तिहास)

स्थौल्य का स्वरूप

मेदमांसतिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः। अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते। (च. सू. 5/9)

1. मेद और मांस धातु की अधिक वृद्धि [Fatty tissues & mucsular tissues increased]

2. स्फिंग, उदर, स्तन प्रदेश मोटे होने के कारण लटक जाते है, क्योंकि अबद्ध मेद अधिक मात्रा में बढ़ने लगता है। [Waist, Hip, Breast circumferance increased]

3. अयथाउपचय अर्थात् सभी धातुओं की समान रूप से वृद्धि नहीं होगी। [Disproportionate physical growth]

4. अयथा उत्साह कार्य में करने में उत्साह उचित रूप से नहीं होता है। [Lethargy]

आचार्य सुश्रुत ने अतिस्थूल के निम्न लक्षण बताये।

तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्र दौर्गन्ध्य क्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेववाविशन्ति, सौकुमार्यन्मेदसः, सर्वक्रियास्वसमर्थः, कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवोनाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोल्पप्राणोभवति, प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवाताविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति। (सु. सू. 15/37)

सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वाच्च स्त्रोतसाम्।

1. क्षुद्रश्वास (Dyspnoea)
2. पिपासा (Excessive thirst)
3. क्षुत् (Excessive Hunger)
4. स्वप्न (Excessive sleep)
5. स्वेद (Excessive Perspiration)
6. गात्रदौर्गन्ध्य (Bad odour in sweat)
7. क्रथन- सहसाश्वास रुकना (Restricted Breathing)
8. अंगों में पीडा (Bodyache)
9. गद्गद् शब्द प्रवृत्ति (अव्यक्त वचन) (Undear Voice)
10. सर्व क्रियाओं में असमर्थ (Letharginess or giddiness)
11. मैथुन शक्ति में हास (Los of libido)
12. अल्पप्राण (Lack of sensation) - जीवन शक्ति के अल्प होने से तथा सभी धातुओं के सम्यक् रूप से न बनने से ओज नष्ट होता है। अतिस्थूल व्यक्ति को प्रमेहपीडिका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि, वातविकार होने पर उसकी शीघ्र मृत्यु हो जायेगी।

8. अतिकार्श्य [Over Emaciation]

सेवा रक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम्। क्रियातियोगः शोकाश्च वेगनिद्राविनिग्रहः।
रुक्षस्योद्वर्तनंस्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा। विकारानुशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम्।।

(स. सू. 21/10-12)

निदान

1. रुक्ष अन्नपान का सेवन।
2. अत्यधिक् लंघन।

3. प्रमिताशन अल्पाहारा सेवन।
4. क्रियातियोग - वमन विरेचन आदि पञ्चकर्मों का अतियोग होने से।
5. शोक
6. वेग निग्रह - प्रवृत्त हुये मल-मूत्र, वात आदि के वेगों को धारण करने से।
7. निद्रा विनिग्रह- रात्रि जागरण करने से।
8. रुक्षस्य उद्वर्तन - रुक्ष द्रव्यों का उद्वर्तन करने से शरीर में कफ व मेद का अधिक क्षय होता है।
9. स्नान अभ्यास - अधिक स्नान करने से।
10. जरावस्था के कारण।
11. विकार अनुशय- दीर्घकाल तक किसी व्याधि विशेष से पीड़ित रहने पर।
12. क्रोध।

अतिकृश का स्वरूप

शुष्कस्फिगुदरग्रीवा धमनीजालसन्ततः। त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वो नरोमतः। (च. सू. 21/15)

1. शुष्क स्फिग्, उदर, ग्रीवा (Severe wasting of buttocks abdomen & neck)
2. धमनीजाल का दिखाई देना (Prominent arteries & veins)- मांस व मेद का क्षय होने पर धमनी जाल स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।
3. त्वक् अस्थि शेष - त्वचा व अस्थि का ही शेष रहना क्योंकि मांस व मेद का क्षय हो जाता है।
4. स्थूल पर्व - पर्व अर्थात् संधियाँ अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है क्योंकि मांस क्षय होने से केवल अस्थि कंकाल मय शरीर दिखाई देता है। सामान्य अस्थि के सापेक्ष पर्व भाग स्थूल दिखाई देता है।

व्यक्ति के अधिक कृश होने के कारण निम्न लक्षण भी दिखाई देते है।

व्यायामतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामसौषधम्। कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्णमैथुनम्।। (च. सू. 21/13)

अतिकृश व्यक्ति व्यायाम, अतिमात्रा में किया भोजन, अतिपिपासा, व्याधि, तीक्ष्णऔषध सेवन, अतिशीतता, अतिउष्णता तथा मैथुन को सहन करने में अक्षम होता है।

अतिकृश व्यक्ति निम्न रोगों से ग्रस्त रहते हैं।

प्लीहा कासः क्षयः श्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणि च।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः।। (च. सू. 21/13)

प्लीहा (Splenomegalior other spleenic disease)	कास (Cough)
श्वास (Dyspnoea)	गुल्म (Abdominal growth)
अर्श (Piles)	उदर (Digestive system disease)
ग्रहणी (Irritable bowel diseases)	

इस प्रकार अष्ट निन्दित व्याधियों का ज्ञान होना परमावश्यक है क्योंकि इन व्याधियों की अवस्था विशेष के द्वारा ही चिकित्सा का निर्धारण किया जा सकता है। चिकित्सा की दृष्टि से अन्तिम दो निन्दित व्याधियों (अतिस्थूल व अतिकृश) की महत्त्वता है। आचार्य चरक ने चिकित्सा हेतु महत्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया है।

गुरु चापतर्पणं चेष्टं स्थूलानां कर्शनं प्रति। कृशानां बृंहणार्थं च लघु संतर्पणम् च यत्।। (च. सू. 21/20)

स्थूल को कृश बनाने के लिये गुरु आहार देना चाहिये और उसे अपतर्पण कराना इष्ट है। जो व्यक्ति अत्यन्त कृश है उन्हें स्थूल करने के लिये लघु संतर्पण आहार देना चाहिये।

व्याधिक्षमत्व

शरीर के रोग-प्रति रोधक क्षमता को व्याधिक्षमत्व कहा जाता है। व्याधिक्षमत्व को आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में Immunity कहते है।

व्याधिक्षमत्व शब्द का नामत: वर्णन चरक संहिता सूत्रस्थान 28वें अध्याय ''विविधाशितपीतीय' के अन्तर्गत मिलता है।

न हि सर्वाण्यापथ्यानि तुल्यदोषाणि न च सर्वे दोषा: तुल्य बला: न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति। (च. सू. 28/07)

अहितकर आहार का सेवन करने वाले पुरुषों में दोष सदैव रोग उत्पन्न करने में सक्षम नहीं होते है क्योंकि सभी अपथ्य आहार तुल्य दोषों वाले नहीं होते है। सभी दोष भी समान बल वाले नहीं है। तथा सभी शरीर भी समान रूप से व्याधिक्षमत्व में समर्थ नहीं है।

व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं व्याध्युत्पाद प्रतिबन्धकत्वमिति यावत्। (च. सू. 28/7)

आचार्य चक्रपाणि ने व्याधिक्षमत्व की उपरोक्त परिभाषा दी इसी परिभाषा के आधार पर व्याक्षिक्षमत्व के दो भेद दिये हैं।

1. **व्याधिबलविरोधी (Aquired Immunity or Artificial Immunity)-** इस प्रकार के व्याधिक्षमत्व को युक्तिकृत बल भी कहा जा सकता है। यह व्याधिक्षमता पौष्टिक आहार, व्यायामादि चेष्टाओं द्वारा उत्पन्न की जा सकती है साथ ही रोग प्रतिरोधक क्षमता उत्पन्न करने वाली औषधियों के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

2. **व्याधिउत्पाद प्रतिबन्धक (Natural or Congenital Immunity) -** यह व्याधि को उत्पन्न नहीं होने देती है, इसे सहज बल कहते है। यह स्वाभाविक रूप से या जन्मजात मिलती है।

व्याधिक्षमत्व को प्रभावित करने वाले कारक -

तदेव अपथ्यं देशकालसंयोगवीर्यप्रमाणाति योगाद्भूयस्तरमपथ्यं संपद्यते स एव दोष: संसृष्टयोनि-र्विरूद्धोपक्रमो गम्भीरानुगतश्चिरस्थित: प्राणायतन समुत्थो मर्मोपघाती कष्टतम: क्षिप्रकारि तमश्च संपद्यते। शरीराणि चातिस्थूलान्यतिकृशान्यविनिष्टमांसशोणितास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपाचितान्यल्पाहाराण्य-ल्पसत्वानि च भवन्त्यव्याधिसहानि विपरीतानि पुनर्व्याधिसहानि। एभ्यश्चैवापथ्याहारदोष शरीरविशेषेभ्यो व्याधयो मृदवो दारुण: क्षिप्र समुत्थाश्चिरकारिणश्च भवन्ति। त एव वात्तपित्तश्लेष्माण: स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधिविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्याग्निवेश।

(च. सू. 28/07)

अहितकर आहार का सेवन करने से दोष दूषित होकर कभी-कभी अनेक व्याधियाँ उत्पन्न करते है तथा कभी-कभी किसी प्रकार की व्याधि उत्पन्न नहीं करते है। इस प्रकार व्याधि का उत्पन्न होना व उत्पन्न न होना शरीर के रोगप्रतिरोधक क्षमता पर निर्भर करता है। इसी क्रम में आचार्य चरक ने बताया कि अहितकर आहार विहार की दोषकारकता निम्न घटकों पर निर्भर करती है।

1. देश 2. काल 3. संयोग 4. वीर्य 5. प्रमाण

1. देशानुसार अहितकर आहार का प्रभाव- आचार्य चक्रपाणि ने विषय को अधिक स्पष्ट किया, उदाहरणस्वरूप ब्रीहिधान्य पित्तवर्धक व गुरु आहार है परन्तु आनूप देश में सेवन करने से हानिकर होता है जबकि यदि ब्रीहि धान्य का सेवन जाङ्गल या धन्व देश में किया जायेगा तो अल्प अहितकर होगा।

2. कालानुसार अहितकर आहार का प्रभाव- ब्रीहि धान्य का प्रयोग यदि शरदऋतु में किया जायगा तो अधिक अहितकारक होगा जबकि हेमन्त ऋतु में सेवन करने से अल्प अहितकर होता है।

3. संयोग के अनुसार अहितकर आहार का प्रभाव- यदि ब्रीहि का प्रयोग दधि व फणित के साथ किया जायेगा तो वह अधिक अहितकारी है जबकि ब्रीहि का प्रयोग मधु के साथ किया जायेगा तो अल्प अहितकारी होता है।

4. वीर्य अनुसार अहितकर आहार का प्रभाव- उष्णवीर्य द्रव्यों के साथ ब्रीहि धान्य का प्रयोग करने पर वह अधिक अहितकारी होगा जबकि शीतवीर्य वाले द्रव्यों के साथ सेवन करने से अल्प अहितकारी प्रभाव दिखाई देंगे।

5. प्रमाण के अनुसार अहितकर आहार का प्रभाव- अधिक प्रमाण में ब्रीहि धान्य का प्रयोग किया जायेगा तो वह अधिक अहितकर होगा जबकि कम मात्रा में प्रयोग करने पर अल्प अहितकर होगा।

रोगी द्वारा व्याधि को सहन करने की क्षमता भी कुछ घटकों पर निर्भर करती है। जिनका वर्णन किया जा रहा है।

1. दोषों के आधार पर - संसृष्टायोनिरिति - दो या अधिक दोषों के संयोग से उत्पन्न व्याधि से रोगी को अधिक कष्ट होगा।

2. विरुद्धोपक्रम - पित्तप्रमेह मेद के साथ दुष्ट होने के कारण विरुद्धोपक्रमी होता है, अत: पित्तज प्रमेह के कारण रोगी में कष्ट उत्पन्न होंगें।

3. गम्भीरनुगत-त्वग्ग्यासाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम। अर्थात् गम्भीरानुगत इति गम्भीरमज्जादिधातुगत:।

त्वचा, (रस), रक्त, मांस को आश्रय कर उत्पन्न व्याधियाँ उत्तान होती है जबकि मेद मज्जागत व्याधियाँ गम्भीर होती है इन व्याधियों के कारण शरीर में व्याधिसहत्व नहीं उत्पन्न होता है अर्थात् गम्भीर धातुगत व्याधि के कारण व्याधि अवस्था कष्टकर होगी।

4. चिरस्थित - दीर्घकाल तक रहने वाली व्याधि के लिये प्रतिरोधक क्षमता शरीर में नहीं होगी।

5. प्राणायतन - दशप्राणायतन जैसे- शखौमर्मत्रयं कण्ठौ रक्तशुक्र ओजसी गुद। (च. सू. 29/3) में अधिष्ठित व्याधि रोगी के लिये अधिक कष्टकारी होगी।

6. मर्मोपघाती- मर्मोपघातीति प्राणायतनव्यतिरिक्तक्षिप्रतलहृदयादिमर्मोपघातकरी।

प्राणायतन के अतिरिक्त अन्यमर्मों पर आघात से उत्पन्न व्याधि रोगी में अधिक कष्ट उत्पन्न करेगी।

7. कष्टतम - बहुदुःखकर्तृत्वेनासाध्यत्वेन च।

वह व्याधि जिससे अधिक कष्ट उत्पन्न हो रहा हो तथा असाध्य रोग से पीड़ित रोगी में व्याधि सहन क्षमता नहीं होती है।

8. क्षिप्रकारी - क्षिप्रकारितम इति आशुविकारकारितमः।

क्षिप्रकारी अर्थात् जो विकार निदानों के सेवन से शीघ्र उत्पन्न होता है। इस प्रकार के शीघ्रतम व्याधियों के लिये रोगी में रोगप्रतिरोधक क्षमता नहीं होती है।

रोगी विशेष जो व्याधि सहन करने में अक्षम होते हैं।

1. अतिस्थूल पुरुष
2. अतिकृश व्यक्ति
3. मांस शोणित अस्थि नष्ट हो गये हो।
4. व्यक्ति दुर्बल हो।
5. असात्म्य आहार का सेवन करता हो।
6. अल्प आहार का सेवन करता हो।
7. जिस रोगी का सत्व अल्प हो।

इस प्रकार के सभी रोगी व्याधि सहन करने की क्षमता नहीं रखते है जबकि इन सभी के विपरित रोगी व्याधि सहन क्षमता रखते है।

व्याधिसहानीति व्याध्युत्पादकप्रतिबन्धकानि (च. सू. 28/7 चक्रपाणि)

व्याधि की उत्पत्ति में बाधक कारणों के द्वारा ही व्याधि सह क्षमता उत्पन्न होती है।

शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता की तुलना ओज से भी की जाती हैं अतः व्याधिक्षमत्व को जानने के लिये ओज को जानना भी परमावश्यक है।

ओज

ओजः सर्वधातुसारो बलाधिष्ठानमिति। (सु. सू. 13/14 चक्रपाणि)

ओज शरीर की सातों धातुओं का सारभूत होता है ओज में ही बल का अधिष्ठान होता है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते। (च. सू. 17/75)

शरीर में उपस्थित प्राकृत श्लेष्मा ही शरीर का बल व ओज कहलाता हैं अतः व्याधिक्षमत्व को जानने के लिए बलरूपी ओज का जानना आवश्यक है।

ओज़ की उत्पत्ति-

प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम्।

सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते।। (च. सू. 17/75)

मनुष्य के शरीर में ओज की उत्पत्ति गर्भ में ही हो जाती है, तथा ओज की उत्पत्ति होने के पश्चात् ही रसादि शुक्रान्त धातुओं की उत्पत्ति होती है।

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते। (सु. सू. 15/25)

रस आदि से लेकर शुक्र पर्यन्त धातुओं के उत्कृष्टतम सार भाग को ओज कहते है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार वही बल कहा जाता है।

ओज के गुण

गुरु शीतः मृदु श्लक्ष्ण बहलं मधुरं स्थिरम्।

प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्।। (च. चि. 24/31)

स चैवोजः स्मृतः कार्ये स च पाप्मोपदिश्यते।। (च. सू. 17/117)

ओज में निम्न दस गुण विद्यमान रहते हैं।

1. गुरु	2. शीत	3. मृदु	4. श्लक्ष्ण	5. बहल
6. मधुर	7. स्थिर	8. प्रसन्न	9. पिच्छिल	10. स्निग्ध।

इन गुणों से युक्त आहार-विहार का सेवन करने से ओज की वृद्धि होगी, जिससे व्याधिक्षमत्व शक्ति बढ़ेगी। ओज घृत के समान वर्ण वाला, मधु के समान रस वाला तथा लाजा के समान गन्ध वाला होता हैं ओज को सभी धातुओं का सार भी कहते है।

ओज का प्रमाण :- आचार्य चक्रपाणि ने ओजों के भेदों का उल्लेख करते हुए उनका प्रमाण बताया।

''परापर भेदेन द्विविधं, तत्रयत् परमष्टबिन्दुकं तद्हृदि तिष्ठति, यत्तु ततो बहु तत्परं शरीरं प्रीणयति।''

(सु. सू. 15/27 चक्रपाणि टीका)

ओज के पर एवं अपर दो भेद होते हैं।

पर ओज का प्रमाण अष्ट बिन्दु माना गया है। यह हृदय में स्थित रहता है। इससे भिन्न जो ओज होता है उसे अपर ओज कहते हैं। यह सारे शरीर में व्याप्त रहता है।

''अर्धाञ्जलि श्लेष्मणश्चौजस'' (च. शा. 7/15)

चरक ने श्लेष्मिक ओज का प्रमाण अर्धांजलि बताया। यही अपर ओज होता है।

ओज के कर्म

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्व प्रतिघातः स्वरवर्ण प्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति। (सु. सू. 15/25)

1. ओज के रूप में विद्यमान बल से मांस धातु स्थिर और पुष्ट होती हैं।
2. ओज के द्वारा ही सभी कार्यों को करने की सामर्थ्यता आती हैं।
3. स्वर एवं वर्ण निर्मल होते है।
4. बाह्य एवं आभ्यानतर इन्द्रियाँ अपने कार्य करने में उत्तम रूप से प्रवृत्त होती है।
5. **''यद्दते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते।''** (च. सू. 30/9)

ओज के बिना कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता है। इसका नाश होते ही शरीर नष्ट हो जाता है।

6. **''यत् सारमादौ शर्मस्य यत्तद् गर्भरसाद्रसः।**

संवर्त्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा।।'' (च. सू. 30/10)

ओज सार रूप में गर्भावस्था में बालक के हृदय में रहता है तथा शरीर का धारण-पोषण करता है।

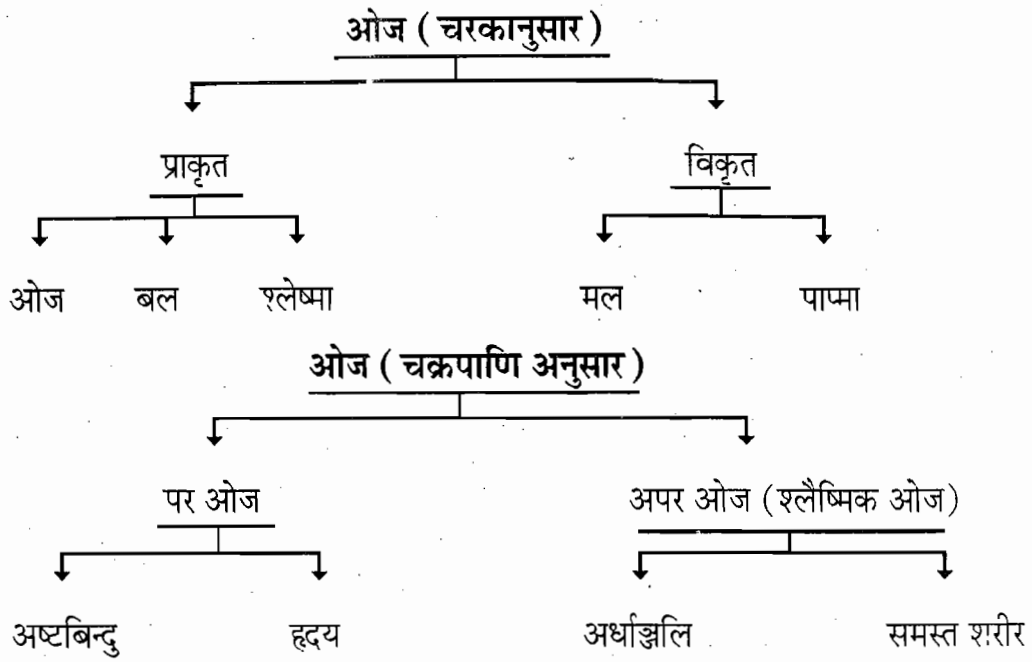

ओज क्षय के निदान

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद्ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः। ओजः सङ्क्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिः सृतम्। तेजः समीरितं तस्माद्विस्त्रंसयति देहिनः।। (सु. सू. 15/28)

1. अभिघात
2. धातुक्षय
3. क्रोध करने से
4. शोक
5. ध्यान (चिन्तन करने से)
6. परिश्रम करने से
7. भूख के कारण

ओज की विकृतियाँ - ओज की तीन प्रकार की विकृतियाँ है-

1. विस्त्रस
2. व्यापत्
3. क्षय

ओजोविस्त्रंस के लक्षण

सन्धि विश्लेषों गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियाऽसन्निरोधश्च विस्त्रंसे। (सु. सू. 15/29)

विश्लेषसादौ गात्राणां दोष विस्त्रंसनं श्रमः। अप्राचुर्यं क्रियाणां च बलविस्त्रंसलक्षणम्।

(सु. सू. 15/30)

1. सन्धि विश्लेष (Looseness of the Joints)
2. गात्र साद (Giddness)
3. दोषच्यवन (Dislocation of the Doshas)
4. क्रिया सन्निरोध (Impairement in activities)

ओजो व्यापद के लक्षण

स्तब्धगुरुगात्रता वात शोफो वर्ण भेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने। (सु. सू. 15/29)

गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्। तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।

(सु. सू. 15/31)

पाठ
धातु
मोजं

1. स्तब्धगुरुगात्रता (Rigidity in whole body)
2. गुरुगात्रता (Heavyness in whole body)
3. वात शोफ (Swelling due to vata)
4. वर्ण भेद (Loss of Complexion)
5. ग्लानि (Depression)
6. तन्द्रा (Stupar)
7. निद्रा (Excess sleep)

ओज क्षय के लक्षण

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये। (सु. सू. 15/29)

मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च। पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये।

(सु. सू. 15/32)

1. मूर्च्छा (Fainting)
2. मांसक्षय (Muscle wasting)
3. मोह (Confusion)
4. प्रलाप (Delirium)
5. मरण (Death)

डल्हणमतानुसार :- क्षय स्वप्रमाणात्

अर्थात् ओज का स्व प्रमाणं से घटना ओज क्षय कहलाता है।

विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।

दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये।। (च. सू. 17/73)

1. विभेति (Fear complex develops)
2. दुर्बलऽभीक्ष्णं (General weekness)
4. व्यथितेन्द्रियः (Discomfort in sense organ)
5. दुश्छाया (Loss of complexion)
6. दुर्मना (Unstable mind)
7. रूक्ष (Roughness)
8. क्षय (Emaciation)

ओज वृद्धि लक्षण

ओजो वृद्धौ हि देहस्य तुष्टिपुष्टि बलोदयः। (अ. सं. सू. 19/34)

ओज की वृद्धि होने से शरीर की वृद्धि, बल वृद्धि होती है।

ओज और व्याधिक्षमत्व का सम्बन्ध

आचार्य चक्रपाणि द्वारा विदित व्याधिक्षमत्व के भेदों को ओज तथा बल के समरूप माना जा सकता है।

व्याधिबलविरोधी को ओज कह सकते है।

व्याधिउत्पादप्रतिबन्धक को बल कह सकते है।

आचार्य डल्हण ने ओज शब्द से अनेक अर्थों को ग्रहण किया जो कि निम्न है-

किं वा धातुग्रहणस्त्रोतः स्थानतया धातु ग्रहणं हृदयं, ततो निसृतं धमनीभिरेव। किं वा निष्ठितं इति पाठः, तदा ओजोवाहिस्त्रोतःसु हृदिस्थितमित्यर्थः धातुग्रहणमिति धातवो गृह्यन्ते यैस्तानीति धातुग्रहणानि धातुवहानिस्त्रोतांसि।

ओजः शब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्तं रसश्चौजः संख्यातः इति तथापि इह सर्वधातुसार-मोजोऽभिधियते। (सु. सू. 15/27 चक्रपाणि टीका)

1. प्राकृत श्लेष्मा- प्राकृस्तु बलम् श्लेष्मा---- स च एव ओज समृता: ।।

प्राकृत श्लेष्मा को बल तथा ओज कहते है जैसा कि चरक सूत्रस्थान 11 में बल के तीन भेद बताए गए हैं।

2. रस- अन्न रस से सभी धातुओं तथा ओज की उत्पत्ति होती है। यद्यपि रस के थोड़े ही अंश से ओज बन पाता है। तथापि ओज को रस संज्ञा दी गई। यह रस शरीर के सभी आवश्यक सूक्ष्म व स्थूल घटकों का वहन करता है, तथा यह व्याधिक्षमत्व प्रदान करता है।

3. जीवशोणित - रक्तस्राव होने से शरीर का बल क्षीण हो जाता हैं, जिससे अन्तत: मृत्यु होती है। यह ओज क्षय के परिणाम स्वरूप उत्पन्न लक्षण ही है।

4. सर्वधातुसार - ओज को सर्वधातु सार कहते है। अत: शरीर की सम्पूर्ण धातुओं का सार भाग आपस में मिलकर शरीर की वृद्धि और पुष्टि करता है। यह तभी सम्भव है जब शरीर व्याधि ग्रसित नहीं होगा। अत: यह धातुसार व्याधि से लडने की शक्ति प्रदान करता है।

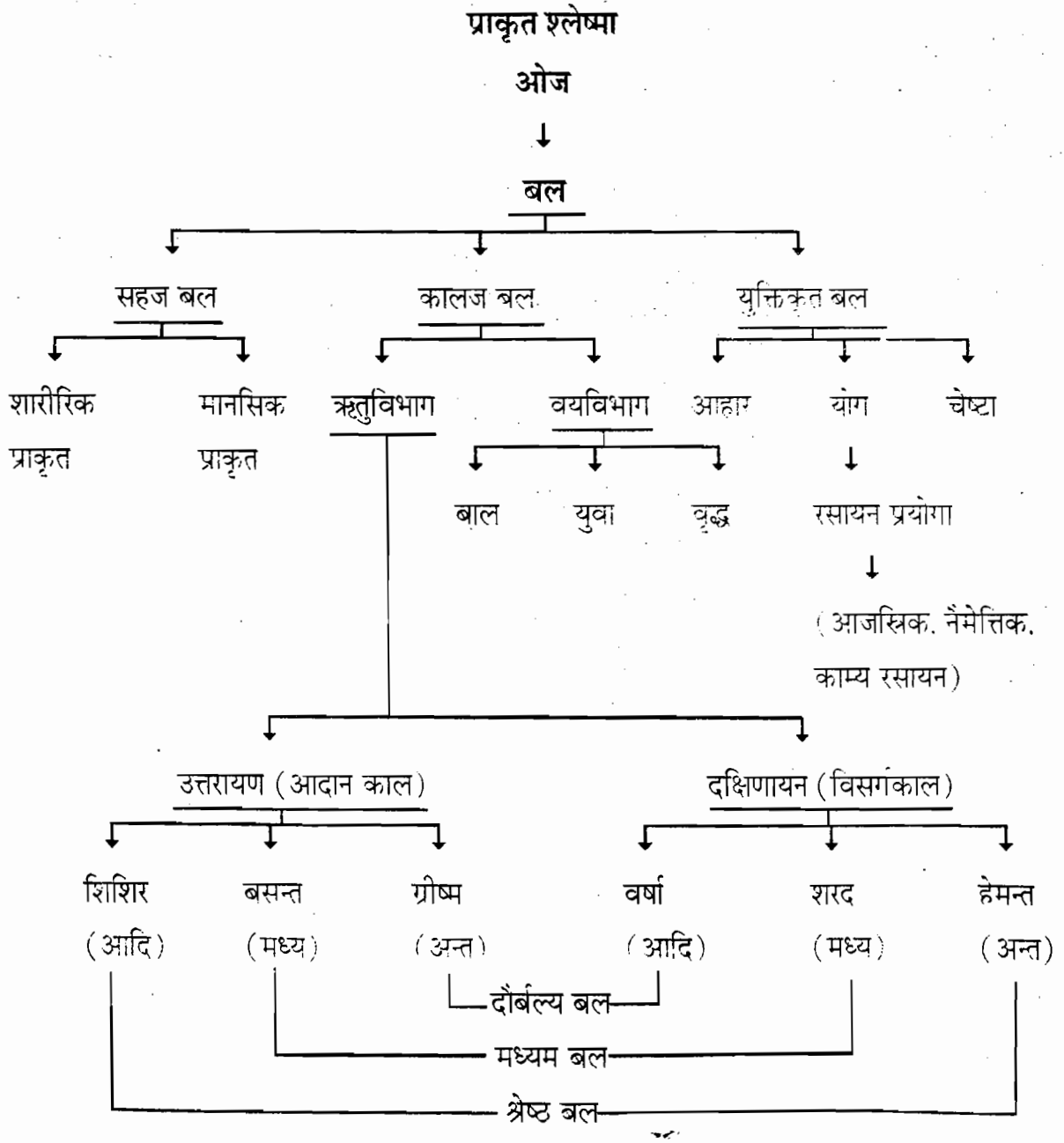

सहज बल (Congenital Immunity)

सहजं यच्छशरीरसत्त्वयोः प्राकृतं। (च. सू. 11/36)

प्राकृतमिति जन्मादिप्रवृत्तं प्राकृतधातुवृद्धया हेत्वन्तरनिरपेक्षं वृद्धं, दृश्यन्ते हि केचित् स्वभावादेवं बलिनो दुर्बलाश्च केचित्। (च. सू. 11/36 चक्रपाणि टीका)

सहज बल उसे कहते हैं जो शरीर तथा मन के अनुसार स्वभाविक रूप से होता है।

यह प्राकृत शब्द का अर्थ **'जन्म से उत्पन्न'** प्राकृत धातुओं की वृद्धि किसी हेतु विशेष की अपेक्षा नहीं रखती है। इस कारण स्वाभाविक रूप से ही या तो व्यक्ति बलवान होता है या दुर्बल होता है।

इस प्राकृत (Natural) बल के कारण शरीर और मन बलवान अथवा दुर्बल होता है। यदि रोगी बलवान होगा तो जन्म से ही रोगप्रतिरोधक क्षमता बलवान होगी तथा यदि रोगी दुर्बल होगा तो जन्म से ही रोगप्रतिरोधक क्षमता दुर्बल होगी।

2. कालज बल (Acquired Immunity)

कालकृतमृतुविभागजं वयः कृतं च (च. सू. 11/36)

ऋतुविभागजम् ''आदावन्ते च दौर्बल्यं'' इत्याद्युक्तम्। (च. सू. 11/36 चक्रपाणि टीका)

यह बल कालानुसार स्वयं उत्पन्न होता है इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

ऋतुओं के अनुसार- आदावन्ते च दौर्बल्यं विसर्गादानयोर्नृणाम्। मध्ये मध्यबलं त्वन्ते श्रेष्ठमग्रे च निर्दिशेत।। (च. सू. 6/8)

विसर्ग काल के आरम्भ तथा आदान काल के अन्त में मनुष्यों में दुर्बलता, विसर्ग तथा आदान काल के मध्य में मध्य बल तथा विसर्ग काल के अन्त तथा आदान काल के प्रारम्भ में उत्तम बल होता है। यह बल ऋतुओं के अनुसार स्वाभाविक रूप से प्राप्त होगा तथा ऋतु अनुसार आहार-विहार से बल की अधिक वृद्धि होगी। इस प्रकार व्याधिक्षमत्व को उपार्जित किया जा सकता है। अतः इस प्रकार प्राप्त व्याधिक्षमत्व को Acquired Immunity कह सकते है।

वयानुसार :-

त्रिविधं - बालं मध्यं जीर्णमिति।

तीन प्रकार की- बाल, मध्य, जीर्ण।

(अ) बाल - सुकुमारमक्लेशसहमसम्पूर्णबलं। (च. वि. 8/122)

बाल्यावस्था में मनुष्य सुकुमार होता है व क्लेश सहन करने में अक्षम होता जिससे शरीर सम्पूर्ण बल युक्त नही होता है। अतः बाल्यावस्था में अधिक व्याधियाँ उत्पन्न होती है व क्लिष्टता से साध्य होती है।

(ब) मध्यं - समत्वागतबल।

मध्यमावस्था तक कम मनुष्य का बल अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाता है। व्याधिक्षमत्व क्षमता भी चरमसीमा पर होती है जिससे मनुष्य व्याधियों से पीड़ित नहीं होते है।

(स) जीर्ण-हीयमानधात्वन्द्रियबल।

जीर्णावस्था में मनुष्य की धातुओं व इन्द्रिय का बल क्षीण होता जाता है।

अतः वय के अनुसार भी मनुष्य में बल क्रमशः बढ़ता व घटता रहता है। यह बल भी रोगों के प्रति रोधक क्षमता के लिये उत्तरदायी होता है।

3. युक्तिकृत बल (Artificial Immunity) - **पुनस्तद्यदाहारचेष्टायोगजम्।** (च. सू. 11/36)

आहारस्य मांससर्पिरादे:, चेष्टाया उचितविश्राम व्यायामादेर्योग आहारचेष्टायोग:, अन्ये तु योगशब्देन रसायन प्रयोगं ग्राह्यन्ति। (चक्रपाणि टीका)

(अ) आहार - घृत, मांसरस आदि पदार्थों को ग्रहण करने से बल की वृद्धि होती है।

B. सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्। (च. सू. 25/40)

सभी रसों का अभ्यास बल प्रदान करने वाला होता है।

मात्रावद्भ्यशन----बलवर्णसुखायुषा। (च. सू. 5/8)

मात्रावत भोजन करने से शरीर में बल की वृद्धि होती हैं, जिससे स्वस्थता प्राप्त होती है।

हिताहारोपयोग एक एव पुरुष वृद्धि करो भवति। (च. सू. 25/31)

हितआहार उपयोग करने से मात्र से ही शरीर की वृद्धि हो जाती हैं।

कुक्कुटो बल्यानां

बलवर्धक आहार द्रव्यों में कुक्कुट मांस सर्वश्रेष्ठ होता हैं।

(ब) चेष्टा - व्यायाम आदि कर्मों को सम्यक् रूप से ही करना चाहिए तथा व्यायाम के बीच में विश्राम भी करना चाहिए। व्यायाम करने से शरीर क्लेशसह और बलवान् बनता है।

(स) योग - ऐसे प्रयोग जो व्याधि क्षमत्व में वृद्धि करते हैं। जैसे- रसायन, वाजीकरण

वाजीकरणयोगेभ्यश्च जातं बलं युक्तिकृतमिति। (च. सू. 11/36 गंगाधरे टीका)

वाजीकरण द्रव्यों के सेवन से शरीर में बल की वृद्धि होती है, इस प्रकार आहार, चेष्टा तथा योग के सम्यक् होने पर व्यक्ति में युक्तिकृत बल की वृद्धि होती है।

अत: ओज स्वयं बल हैं तथा शरीर के बल का मूलभूत कारण हैं। ओजवर्धक आहार-विहार का सेवन करने से शरीर के बल की वृद्धि होती हैं जो कि शरीर में व्याधि क्षमत्व की शक्ति प्रदान करती है।

व्याधिक्षमत्व को बढाने वाले घटक

व्याधिक्षमत्व का बल बढाने हेतु बलवृद्धिकर भावों का सेवन करना चाहिये।

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा काले च, भवन्ति तद्यथा-बल वत्पुरुषे देश जन्म बलवत्पुरुषे सुखश्च कालयोग: बीजक्षेत्र-गुणसंपच्च, आहारसंपद्य, शरीरसंपद्य, सात्म्यसंपद्य, सत्वसंपद्य, स्वभावसंसिद्धश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति (च. शा. 6/12)

1. बलवत्पुरुषेदेशे -बलवान् पुरुषों के देश जैसे-सिन्ध अथवा पंजाब में जन्म लेने वाले पुरुषों में रोग प्रतिरोधकक्षमता अधिक होगी।

2. बलवान् पुरुषों के कुल में जन्म लेने से शरीर सौष्ठवता बीज से ही प्राप्त हो जाती हैं। जिससे व्यक्ति में रोग प्रतिरोधकक्षमता अधिक होगी।

3. बलवत्पुरुषे काले- बलवान काल में जन्म होने से भी बल अधिक अर्जित होगा।

4. सुखकारक काल योग - सदैव व्यक्ति सुखकारक वातावरण में ही जीवन यापन करेगा तो निश्चित रूप से उसे आरोग्य की प्राप्ति के साथ-साथ रोगप्रतिरोधक क्षमता भी प्रबल होगी।

5. बीज क्षेत्रगुण संपद्य- बीजों के अर्थात् माता के शोणित व पिता के शुक्र के सम्पद् होने से निश्चित रूप से उत्पन्न होने वाली सन्तान बलवान होगी।

6. आहार संपच्च- सदैव हितकर आहार का सेवन करने से शरीर की वृद्धि होगी, यह वृद्धि किसी भी व्याधि के लिये प्रतिरोधक क्षमता बढाने में लाभप्रद होगी।

7. शरीर संपच्च- शरीर उत्तम संगठित होगा तो किसी निज अथवा आगन्तुज विकार का आक्रमण शरीर में नहीं हो पायेगा।

8. सात्म्य संपच्च - सर्वरससात्म्य व्यक्ति के लिये किसी भी व्याधि को सहन करने में कोई कठिनाई नहीं आती है। अत: सर्वरससात्म्य व्याधिक्षमत्व में वृद्धि करने में उपयोगी है।

9. सत्वंसपच्च - मन का उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण शारीरिक व्याधियाँ शीघ्रता से उत्पन्न नहीं होगी।

10. स्वभावसंसिद्धि - स्वभाविक रूप से भी अनेक व्याधियों के प्रति रोगप्रतिरोधक क्षमता हमारे शरीर में विद्यमान रहती है।

11. युवावस्था-युवावस्था में बल सर्वाधिक होने से रोगप्रतिरोधक क्षमता अधिक होना स्वभाविक होता है।

12. कर्म - व्यायामादि कर्मों के द्वारा शरीर को निरन्तर बल की प्राप्ति होती रहती है।

13. संहर्ष - मन सदा प्रसन्न रहे तथा शोकाग्रस्त न हो तो व्याधियाँ कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है।

श्रेष्ठ व्याधिक्षमत्व शरीर के लक्षण

आयुर्वेद का प्रथम प्रयोजन स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। जो कि केवल व्याधि के प्रतिरोधक क्षमता पर ही निर्भर करती है। स्वस्थ पुरुष के स्वास्थ्य का रक्षण करते रहने पर उसका बल निश्चित रूप से बढता है।

सममांस प्रमाणस्तु सम संहननो नर:। दृढेन्द्रियो विकाराणां च बलेनाभिभूयते।
क्षुत्पिपासातप सह: शीतव्यायामसंसह। समपक्ता समजर: सममांस चयोमत:।। (च. सू. 21/18-19)

1. व्यक्ति जिसके शरीर में सम् प्रमाण में मांस रहने पर।
2. शरीर का संगठन समस्थित में हो। शरीर न कृश हो न स्थूल हो।
3. **दृढेन्द्रिय**- जिसकी एकादश इन्द्रिया अपने अर्थ को सम्यक् रूप से ग्रहण करें।
4. **विकाराणां च बलेनाभिभूयते**- प्रशस्त गुणों से युक्त शरीर रोगों के बल से पराजित नहीं होता।
5. **क्षुत सह**- क्षुधा के वेग को सरलता से सहन करें।
6. **पिपासा सह**-जो पिपासा के वेग को सरलता से सहे।
7. **शीत व्यायाम संसह**- शीतकाल व अति व्यायाम को सहन कर सकता है।
8. **समपक्ता**- जाठराग्नि सम अवस्था में ही समजरण करती है। अर्थात् जो भी भोजन किया जाय उसका पाचन नियत समय पर उचित रूप से होना चाहिये।

सात्म्य असात्मय

सात्म्य - यह **आत्मना भवतीति सात्म्यम्** जो आत्मा के लिये अनुकूल या सुखकारी हो।

परिभाषा-

1. **सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थ:।** (च. सू. 11/38)
अर्थात् सात्म्य का जो अर्थ होता है वही उपशय का अर्थ हैं

2. **सात्म्यं नामतद्यदात्मन्युपशेते।** (च. वि. 1/20)
जो अपनी आत्मा (शरीर) के लिए सुखकारी हो उसे सात्म्य कहा जाता है।

3. सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातम्येनोपसेव्यमानमुपशेते। (च. वि. 8/18)

सात्म्य उसका नाम है जो निरन्तर सेवन करने पर अपनी प्रकृति के अनुकूल हो जाये।

सात्म्य तथा उपशय दोनों को एक-दूसरे के पर्याय रूप में ग्रहण किया जाता है। जिस औषध आहार अथवा विहार के सेवन से पुरुष को अनुबन्ध में सुख की प्राप्ति हो उसे उसके लिए सात्म्य या उपशय कहाजाता है इसके विपरीत जिसके सेवन से अनुबन्ध में दु:ख का अनुभव हो वह उस पुरुष के लिए असात्म्य या अनुपशय होता है।

4. यो रस: कल्पते यस्य सुखायव निषेवित:। व्यायामजातमन्यद्धा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत्।।

(सु. सू. 36/47)

जो सेवन किया हुआ मधुर लवण आदि रस, व्यायाम अथवा अम्ल पदार्थ जिसके लिए सुखकारी होता है उसे सात्म्य कहते हैं।

5. सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यमित्यर्थ:। (चक्रपाणि)

आचार्य चक्रपाणि ने सात्म्य को ओक सात्म्य कहा है।

ओक का अर्थ अभ्यास है।

जो द्रव्य पुरुष के लिए सुखकर या अनुकूल होते है उनका सेवन यथावत् करने से स्वास्थ्य और बल की स्थिरता रहती है परन्तु कई द्रव्य ऐसे होते है, जिनका सेवन करने से हानि होने की निश्चिति होती है फिर भी उन द्रव्यों का लगातार सेवन किया जाये तो वह पुरुष को कोई बाधा नहीं पहुँचाते। अत: यह द्रव्य अभ्यास व सतत सेवन से मनुष्य को सात्म्य हो जाते है। सात्म्य के इस प्रकार को ओक सात्म्य कहा जाता है।

सात्म्याज भाव-

सात्म्य वस्तुओं का सेवन करने वाले स्त्री-पुरुषों के शुक्र, आर्तव व गर्भाशय में कोई विकृति नहीं होती है। उत्पन्न होने वाले गर्भ में सात्म्य वस्तुओं के सेवन से जो भाव उत्पन्न होते है वह निम्न है।

आरोग्यमनालस्यमलोलुपात्वमिन्द्रियप्रसाद: स्वरवर्णबीजसंग्रहर्ष भूयस्त्वं चेति। (च. शा. 3/11)

1. आरोग्य
2. आलस्य रहित रहना
3. अलोलुप (लालची नहीं होना।)
4. इन्द्रियों की प्रसन्नता
5. स्वर, वर्ण का सौष्ठव होना
6. बीज-शुक्र अथवा शोणित शुद्ध तथा गुणयुक्त हो।
7. संप्रहर्ष- प्रत्येक कार्य में आनन्द की अनुभूति होना।
8. सात्म्य आहार-विहार के सेवन से केवल आरोग्य ही नहीं वरन् उपरोक्त सभी भाव गुण सम्पन्न हो जाते हैं।

सात्म्य के भेद

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकादि वास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति। (सु. सू. 35/46)

आचार्य सुश्रुत ने सात्म्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है, वह निम्न हैं-

1. देश
2. काल
3. जाति
4. ऋतु
5. रोग
6. व्यायाम
7. जल
8. दिवास्वप्न

आदि का सात्म्य होने पर रोगी की प्रकृति के विरुद्ध होने पर भी बाधा पहुँचाने वाले नहीं होते।

1. देशसात्म्य- देश से दो प्रकार के देशों का ग्रहण किया जाता है।

(अ) भूमिदेश - जाङ्गल देश में जो आहार-विहार प्रचलित होते है वह आनूप देश में सात्म्य नहीं होते हैं। जो आहार आनूप देश में प्रचलित होते है वे जाङ्गम देश में सात्म्य नहीं होते हैं।

जैसे कि-प्राच्य देशवासी एवं चीन देश वाले मनुष्यों के लिए क्षार सात्म्य होता हैं।

सौराष्ट्र व बाह्लीक देशवासियों को दूध के साथ लवण का प्रयोग सात्म्य होता हैं।

(ब) आतुर देश - आतुर देश को भी सात्म्य के आधार पर दो प्रकार से बाँटा जा सकता है-

सर्वाङ्ग सात्म्य- जैसे मधुर रस सर्व धातुओं को सात्म्य होता है।

एकाङ्ग सात्म्य - जैसे चक्षुष्य, वर्ण्य, कर्ण्य आदि द्रव्य किसी इन्द्रिय विशेष के लिए ही सात्म्य होते हैं, सम्पूर्ण शरीर के लिए नहीं होते हैं।

2. काल सात्म्य - भोजन के जरण काल के दौरान पुन: भोजन करने पर भी अग्नि की दुष्टि नहीं होना काल सात्म्य का उदाहरण हैं।

3. जाति सात्म्य - सलिलघृतदुग्धोदनप्रभृतीनि।

मनुष्य के लिये घृत, दुग्ध, पानी एवं चावल आदि सदैव सात्म्य होते हैं। जबकि विरुद्ध धान्य सात्म्य नहीं होते हैं।

4. ऋतु सात्म्य-

यस्यर्तुसात्म्यं विदितं चेष्टाहारव्यपाश्रयम्। (च. सू. 6/3)

ऋतुओं के अनुसार विहार और आहार करने से बल, वर्ण की वृद्धि होती है। इसे ही ऋतु सात्म्य कहा जाता है।

5. रोग सात्म्य

जिस रोग में जो वस्तु हितकारी होती हैं उस वस्तु का प्रयोग किसी पीड़ित रोगी द्वारा किया जाये तो वह उस रोग को शांत करती है। इसे रोग सात्म्य कहते हैं।

जैसे- अतिसार में हरितकी का प्रयोग।

उपशयो हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिश्चौषधाहाराविहारैः सुखानुबन्धः। स हि व्याधिसात्म्यसंज्ञः। (अं. सं.)

हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत और हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी औषध, आहार और विहार का सुखावह उपयोग रोग सात्म्य का उदाहरण हैं।

6. व्यायाम सात्म्य -

व्यायाम सात्म्यम् - शरीरमनः सुखकरचेष्टाः।

शरीर, मन को सुख पहुँचाने वाली चेष्टाएँ (व्यायाम) व्यायाम सात्म्य होता हैं। अर्थात् व्यक्ति को व्यायाम आदि चेष्टाएँ उतनी ही करनी चाहिए जिससे शरीर और मन का सुख से अनुबन्ध रहें।

7. आहार सात्म्य -

अपथ्य आहार का सेवन लगातार करने पर कालान्तर में वह पुरुष को सात्म्य हो जाता हैं।

जैसे - दधि महा अभिष्यन्दि होने के बावजुद भी नित्य सेवन करने के कारण पुरुषों को सात्म्य हो जाती हैं।

8. निद्रा सात्म्य -

निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा। न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रताञ्चोपजायते।।

रात्रि जागरण करने पर भी वात का प्रकोप नहीं होना और दिवा-स्वप्न करने पर भी कफ, पित्त का प्रकोप नहीं होना निद्रा सात्म्य का उदाहरण हैं।

9. ओक सात्म्य -

उपशेते यदौचित्यादोकः सात्म्यं तदुच्यते। (च. सू. 6/49)

अहित आहार-विहार भी यदि निरन्तर अभ्यास करने से शरीर के लिये हितकारी हो जाता हैं तो उसे ओकसात्म्य कहते हैं।

अहित सेवन त्याग विधि

बुद्धिमान मनुष्यों के लिये वह उचित हैं कि यदि अभ्यास से अहितकर वस्तु सात्म्य हो गयी हो तो भी उससे क्रमशः विरक्त हो जाना चाहिए, अर्थात् अहित वस्तु का सेवन क्रमशः छोड़ना चाहिए व इसी क्रम में हितकर वस्तुओं का सेवन करना चाहिए।

हितकर वस्तुओं का शरीर में प्रक्षेप (सेवन) करने में, तथा अहितकर सात्म्य वस्तुओं के अपचय (त्याग) करने में पदांशिक क्रम का सहारा लिया जाता हैं और पदांशिक क्रम के सेवन और त्याग में एक दिन, बाद में दो दिन और पुनः तीन दिन का अन्तर देकर सेवन और त्याग किया जाता हैं।

उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः। हितं क्रमेण सेवेत क्रमश्चात्रोपदिश्यते।।

प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्। एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा।।

(च. सू. 7/36, 37)

1. दिन	एकान्तर	3 दिन	द्वयन्तर	6 दिन	त्र्यन्तर	10 दिन
	2 दिन		4-5 दिन		7-8-9 दिन	
1 भाग पथ्य	सभी अपथ्य	2 भाग पथ्य	सभी अपथ्य	1 भाग पथ्य	सभी अपथ्य	सभी पथ्य
3 भाग अपथ्य		2 भाग अपथ्य		3 भाग पथ्य		

योगिन्द्रनाथ सेन ने चरकोपस्कार टीका के अनुसार

प्रथम दिन अपथ्य का 3 भाग व पथ्य का 1 भाग देना चाहिये।

द्वितीय दिन सभी अपथ्य का सेवन करें।

तीसरे दिन 2 भाग पथ्य व 2 भाग अपथ्य का सेवन करें।

चौथे व पाचवें दिन सभी अपथ्य का सेवन करें।

छठे दिन 3 भाग पथ्य, 1 भाग अपथ्य

सातवें, आठवें नवें दिन सभी अपथ्य दशवें दिन से सभी पथ्य का सेवन करना चाहिये।

चरकानुसार सात्म्य के भेद-

आचार्य चरक ने सात्म्य के अनेक भेदों का वर्णन किया हैं। चरक विमान स्थान में सात्म्य के निम्न 3 भेद बताये गये हैं-

1. प्रवर सात्म्य 2. अवर सात्म्य 3. मध्यम सात्म्य

1 प्रवर सात्म्य - तत्र सर्वरसं प्रवरम्। (च. वि. 1/20)

सभी रसों का प्रयोग करना प्रवरसात्म्य कहलाता है।

तत्र ये धृतक्षीरतैलमांसरससात्म्या सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाचिरजीविनश्च भवन्ति।

(च. वि. 8/112)

जो मनुष्य घृत, तैल, मांसरस का सात्म्य कर चुके हैं या सभी रसों का सात्म्य कर चुके है वे पुरुष बलवान व क्लेश को सहने वाले व बहुत दिनों तक जीने वाले होते हैं।

2. अवर सात्म्य - अवरमेकरसं। (च. वि. 1/20)

एक रस का प्रयोग करना अवरसात्म्य कहलाता है।

रुक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबला अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति।। (च. वि. 8/118)

जो लोग रुक्ष वस्तुओं का सात्म्य कर चुके हैं या केवल एक ही रस का सात्म्य किये है, वह प्राय अल्प बल वाले, थोडे क्लेश को सहने वाले, अल्प आयु वाले और अल्प साधन से युक्त होते है।

3. मध्यम सात्मय- मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम्। (च. वि. 1/20)

व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति। (च. वि. 8/118)

प्रवर व अवर के बीच के सात्म्य को मध्यम सात्म्य कहते हैं। (जो लोग मिले हुये रस का सात्म्य किये हुये है अर्थात् 2-3 रसों का सात्म्य है वे मध्य बल वाले होते हैं।)

वैरोधिक आहार

वैरोधिक आहार विरुद्ध+ आहार से निर्मित होता है।

1. विरुद्ध - शरीर धातु विरोधं कुर्वन्तीति वैराधिकाः। (चक्रपाणि टीका)

2. आहार- आहियते इति आहारः। (आयुर्वेदीय महाकोश)

अर्थ - जो आहार शरीर की धातुओं के विरोधी होते हैं उन्हें वैरोधिक आहार कहते हैं।

परिभाषा

1. **आचार्य चरकानुसार**

यत् किञ्चिद्दोषमास्त्राव्य न निर्हरति कायतः। आहारजातं तत् सर्वमाहतायोपपद्यते।। (च. सू. 26/85)

अर्थात् जो कोई आहार द्रव्य या औषधि दोषों को अपने स्थान से उभार दे पर उसे शरीर से बाहर न निकाले, वे सभी आहार-द्रव्य अहितकर होते हैं।

2. **आचार्य सुश्रुतानुसार**

यत् किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य भुक्तं कायान्न निर्हरेत्। रसादिष्वयथार्थं वा तद्विकाराय कल्पते।।

(सु. सू. 20/20)

अर्थात् जो कुछ भी खाया हुआ विरुद्ध अन्नादि पदार्थ वातादि दोषों को प्रकुपित कर देता है। किंतु उन दोषों को वमन या विरेचन द्वारा बाहर नहीं निकालता है, वह शरीर में विकार करते है, अथवा रस-रक्तादि धातुओं में दुष्टि कर रोग उत्पन्न करता हैं।

3. अष्टांग संग्रहकारानुसार

उत्क्लेश्यदोषान्न हरेद्द्रव्यं यत्तत्समासतः। विरुद्धं तद्धि धातूनां प्रत्यनीकतया स्थितम्।।

(अ. स. सू. 1/25)

अर्थात् जो द्रव्य दोषों को बाहर निकलने की ओर प्रसृत्त तो करते हैं परन्तु शरीर से बाहर नहीं निकलने देते हैं। वह द्रव्य धातुओं के विरुद्ध रूप में स्थित होने से विरुद्ध होते हैं।

4. अष्टांगहृदयानुसार

यत्किञ्चिद्दोषमुत्क्लेश्य न हरेत्तत्समासतः।। (अ. हृ. सू. 7/45)

अर्थात् जो कोई आहार-पदार्थ वात आदि दोषों को उभाड़कर उन्हें निकालता नहीं है, वह आहार संयोगविरुद्ध कहा जाता है।

1. न मत्स्यान् पयसा सहाभ्यवहरेत्। (च. सू. 26/82)

अर्थात् दूध के साथ मछलियों का सेवन नहीं करना चाहिए। क्योंकि दोनों का वीर्य अलग-अलग है।

दूध	मत्स्यः
रस :- मधुर	रस :- मधुर
विपाक :- मधुर	विपाक :- मधुर
वीर्य :- शीत	वीर्य :- ऊष्ण
प्रभाव :- महाभिष्यन्दी	प्रभाव :- महाभिष्यन्दी

अतः उपरोक्त वर्णनानुसार स्पष्ट है कि दोनों ही वीर्य-विरुद्ध होने से रक्त को दूषित करते हैं तथा महा अभिष्यन्दी होने से दोष, धातु तथा मल के स्त्रोतों के मार्ग को अवरोधित करते हैं।

विरुद्ध आहार की कामुर्कता

देहधातु प्रत्यनीक भूतानि द्रव्याणि देहधातुभिर्विरोधमापद्यन्ते परस्पर गुणविरुद्धानि कानिचित्, कानिचित् संयोगात्, संस्कारादपराणि, देशकालमात्रादिभिश्चापराणि, तथा स्वभावादपराणि।। (च. सू. 26/81)

देह की धातुओं के विपरीत गुण वाले द्रव्य शरीर की धातुओं के विरुद्ध हो कर विभिन्न दुष्टि कारक प्रभाव उत्पन्न करते है। इन द्रव्यों में कुछ द्रव्य परस्पर गुण विरुद्ध, कुछ द्रव्य संयोगविरुद्ध, कुछ द्रव्य संस्कार विरुद्ध, कुछ द्रव्य देश, काल, मात्रा आदि से विरुद्ध और कुछ द्रव्य स्वभाव से विरुद्ध होते हैं।

1. दोषानुसार वैरोधिक द्रव्यों के उदाहरण

1. वातप्रकोपकवैराधिक आहार- समान परिमाण में मधु व घृत तथा वर्षा के जल के साथ देना विरोधि हैं। मधु पुष्कर बीज के साथ विरोधी है। पद्मोत्तरिकाशाक, शार्करासव, मैरेय और मधु साथ में लेने पर सब परस्पर विरोधी हैं। ये वायु को अतिशय कुपित करते हैं।

2. पितप्रकोपक वैरोधिक आहार- सरसों के तेल में भूना हारिद्रक (छात्राकार शाक, अथवा पक्षी) विरोधि है। यह पित्त को अतिशय कुपित करता है।

3. कफप्रकोपक वैरोधिक आहार- खीर खाकर पानी में घोले सत्तु का मन्थपीना विरोधि है। कफ को अतिशय कुपित करता है। तिल के कल्क में सिद्ध की हुई उपोदिका अतिसार का कारण है।

वैरोधिक आहार के अन्य उदाहरण

- सब प्रकार के अम्ल द्रव या अद्रव-जो भी हों वे अकेले दूध के साथ विरोधि हैं। अन्य रस वाले फल भी दूध के साथ विरोधि हैं।
- मूली- लहसुन आदि हरित शाक खाकर दूध नहीं पीना चाहिए इससे कुष्ठ रोग होने का भय रहता है।
- सरसों के तेल में भूने कबूतर के मांस को भी मधु और दूध के साथ नहीं खाना चाहिए।
- ग्राम्यमांस, आनूपमांस और जलीय मांस को मधु, तिल, गुड़, दूध, उड़द, मूली, कमलडंडी और अंकुरित धान्यों के साथ न खायें।
- सरसों के तैल में भुने हुए पौष्कर (कमल का मूल या पोहकरमूल) और रोहिणी एवं कपोत-मांस को मधु और दुग्ध के साथ नहीं खाना चाहिए।

वैरोधिक आहार के घटक

यच्चापि देशकालाग्नि मात्रासात्म्यानिलादिभिः। संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्थाक्रमैरपि।।

परिहारोपचाराभ्यां पाकात् संयोगतोऽपि च। विरुद्धं तच्च न हितं हृत्संपद्विधिभिश्च यत्।।

(च. सू. 26/86-87)

कोई भी आहार निम्न 18 प्रकार से विरोधि आहार में परिवर्तित हो सकता है।

(1) देश	(2) काल	(3) अग्नि	(4) मात्रा	(5) सात्म्य
(6) वायु आदि दोष	(7) संस्कार	(8) वीर्य	(9) कोष्ठ	(10) अवस्था
(11) क्रम	(12) परिहार	(13) उपचार	(14) पाक	(15) संयोग-विरुद्ध
(16) हृदय-विरुद्ध	(17) संपद् विरुद्ध	(18) विधि विरुद्ध।		

1. देश विरुद्ध -

विरुद्धं देशतस्तावद्रूक्षतीक्ष्णादि धन्वनि। आनूपे स्निग्धशीतादि भेषजं यन्निषेव्यते।। (च. सू. 26/88)

देश विरुद्ध - जंगली देश या मरुभूमि में रुक्ष और तीक्ष्ण आदि द्रव्यों का सेवन करना, आनूप देश में स्निग्ध और शीतल गुणयुक्त औषधों का सेवन देश के विरुद्ध बतलाया जाता है।

2. काल विरुद्ध

कालतोऽपि विरुद्धं यच्छीतरुक्षादिसेवनम्। शीते काले, तथोष्णे च कटुकोष्णादिसेवनम्।।

(च. सू. 26/89)

काल विरुद्ध :- जाडे के दिनों में शीतल, रुक्ष, आदि आहार एवं औषध द्रव्यों का सेवन करना गर्मी के दिनों में कटु और ऊष्ण आदि आहार एवं औषध द्रव्यों का सेवन करना काल के विरुद्ध हैं।

3. अग्निविरुद्ध

विरुद्धमनले तद्वदन्नपानं चतुर्विधे। (च. सू. 26/90)

चार प्रकार की जठराग्नि के रहते हुए उसके अनुसार आहार न मिले तो उसे अगिन विरुद्ध कहते हैं।

4. मात्रा विरुद्ध -

मधुसर्पि: समधृतं मात्रया तद्विरुध्यते। (च. सू. 26/90)

मधु और घी समभाग में मिलाकर खाया जाये तो वह मात्रा विरुद्ध होता है।

5. सात्म्य विरुद्ध -

कटुकोष्णादिसात्म्यस्य स्वादुशीतादिसेवनम् यतत् सात्म्यविरुद्धं तु।

जिस पुरुष को कटुरस और ऊष्णवीर्य आहार प्रकृति के अनुकूल हो गया है ऐसे व्यक्ति के लिए मधुर रस और शीतवीर्य आहार सात्म्यविरुद्ध होता है।

6. दोष विरुद्ध -

विरुद्ध त्वनिलादिभि: या समानगुणाभ्यासविरुद्धान्नौषधक्रिया। (च. सू. 26/91)

वात्त, पित्त, कफ इन दोषों के समान गुण वाले और अभ्यास-नहीं करने योग्य आहार-औषध और कर्म का सदैव अभ्यास करना वातादि दोषों के विरुद्ध कहा जाता है।

7. संस्कार विरुद्ध -

संस्कारतो विरुद्धं तद्यद्भोज्यं विषवद्भवेत्। एरण्डसीसकासक्तं शिखिमांस यथैव हि।। (च. सू. 26/92)

जैसे रोड की लकड़ी में छेद कर भुना हुआ मोर का मांस विष समान हो जाता है, वैसे ही जो आहार-विहार संस्कार से विष के समान हो जाते है वे आहार द्रव्य सस्कार विरुद्ध होते हैं।

8. वीर्य विरुद्ध -

विरुद्धं वीर्यतो ज्ञेयं वीर्यत: शीतलात्मकम्। तत् संयोज्योष्णवीर्येण द्रव्येण सह सेव्यते।। (च. सू. 26/93)

वीर्य में शीतल द्रव्यों को उष्ण वीर्य वाले द्रव्यों के साथ मिलाकर लेना वीर्यविरुद्ध होता है।

9. कोष्ठविरुद्ध -

क्रूरकोष्ठस्य चात्यल्पं मन्दवीर्यमभेदनम्।

मृदुकोष्ठस्य गुरुच भेदनीयं तथा बहु एतत् कोष्ठविरुद्धं तु। (च. सू. 26/94)

जिस पुरुष का कोष्ठ क्रूर होता है, उसके लिए मात्रा में बहुत कम, मन्दवीर्य और मल को नहीं लाने वाला, अन्न कोष्ठ विरुद्ध होता है। जिसका मृदुकोष्ठ है ऐसे व्यक्ति को मात्रा गुरु या द्रव्य गुरु और जो मल लाने वाला है। ऐसे अन्न को अधिक मात्रा में देना कोष्ठविरुद्ध कहा जाता है।

10. अवस्था विरुद्ध -

विरुद्धं स्यादवस्थया। श्रमव्यवायव्यायामसक्तस्यानिलकोपनम्।

निद्रालसस्यालसस्य भोजनं श्लेष्मकोपनम्।। (च. सू. 26/95)

परिश्रम, मैथुन, व्यायाम इन कार्यों में लगे हुए व्यक्तियों द्वारा वातवर्धक आहार का सेवन करना या जो व्यक्ति अधिक सोते है या आलसी है ऐसे व्यक्ति को कफवर्धक आहार देना अवस्थाविरुद्ध कहा जाता है।

11. क्रमविरुद्ध :-

यश्चानुत्सृज्य विण्मूत्रं भुङ्क्ते यश्चाबुभुक्षितः। तच्च क्रमविरुद्धं स्याधश्चातिक्षुद्वशानुगः।।

(च. सू. 26/97)

जो व्यक्ति मल-मूत्र का बिना त्याग किए हुए या बिना भूख लगे अथवा अधिक भूख मालूम होने पर भोजन करता है उसे क्रम-विरुद्ध कहते है।

12. परिहारविरुद्ध :-

परिहारविरुद्धं तु वराहादीन्निषेत्य यत्। सेवेतोष्णं। (च. सू. 26/98)

जो व्यक्ति सूअर आदि के मांस को खाकर उष्ण वस्तुओं का सेवन करता है, उसे परिहार विरुद्ध कहा जाता है।

13. उपचार विरुद्ध -

घृतादीश्च पीत्वा शीतं निषेवते। (च. सू. 26/98)

जो व्यक्ति घृत आदि स्नेहों को पीकर शीतल आहार-औषध सेवन करता है, उपचार विरुद्ध कहा जाता है।

14. पाकविरुद्ध -

विरुद्धं पाकतश्चापि दुष्टदुर्दारूसाधितम्।

अपक्वण्डुलाप्यर्थपक्वदग्धं च यद्भवेत्। (च. सू. 26/99)

दूषित एवं अनुचित लकडी से आहार को पकाना या चावलों को बिना पूर्ण पकाएँ या अधिक पका हुआ या जला हुआ अन्न का सेवन-पाक विरुद्ध होता है।

15. संयोगविरुद्ध -

संयोगतो विरुद्धं तद्यथाऽम्लं पयसा सह। (च. सू. 26/99)

जो अम्ल रस को दूध के साथ सेवन करते है। उसे संयोग विरुद्ध कहते है।

16. हृदयविरुद्ध -

अमनोरुचितं यच्च हृद्विरूद्ध तदुच्यते। (च. सू. 26/99)

जो आहार अपने मनोनुकूल न हो उसका सेवन करते है। उसे हृदयविरुद्ध कहते है।

17. संपद्विरुद्ध -

संपद्विरूद्धं तद्विधादसंजातरसं तु यत्।

अतिक्रान्तरसं वाऽपि विपन्नरसमेव वा। (च. सू. 26/100)

जिस आहार या औषधि द्रव्य में उचित रूप से रस उत्पन्न न हुआ हो, अथवा अतिक्रान्त रस हो, अथवा जिसका रस प्रारम्भिक अवस्था में ही विकृत हो गया हो, उसका सेवन संपद् विरुद्ध माना जाता है।

18. विधिविरुद्ध -

ज्ञेयं विधिविरुद्धं तु भुज्यते निभृते न यत्। तदेवंविधमन्नं स्याद्विरुद्धमुपयोजितम्।। (च. सू. 26/101)

एकान्त में जो भोजन नहीं किया जाता है उसे विधिविरुद्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार इन उपर्युक्त 18 प्रकार के नियमों के अनुसार खाया गया अन्न अन्नविरुद्ध कहा जाता है। और इनका सेवन शरीर के लिए अहितकर होता है।

विरुद्ध आहार सेवन से उत्पन्न होने वाले रोग :-

षाण्ढ्यान्ध्यवीसर्पदकोदराणां विस्फोटकोन्मादभगन्दराणाम्।

मूर्च्छामदाध्मानगलग्रहाणां पाण्ड्वामयस्यामविषस्य चैव।।

किलासकुष्ठ ग्रहणीगदानां शोथाम्लपित्तज्वर पीनसानाम्।

संतानदोषस्य तथैव मृत्योविरुद्धमन्नं प्रवदन्ति हेतुम्।। (च. सू. 26/103)

1. षाण्ढ्य (Infertility)
2. आन्ध्य (Blindness)
3. विसर्प (Erysipulus)
4. जलोदर (Ascites)
5. विस्फोट (Bulae)
6. पागलपन (Mania)
7. भगन्दर (Fistula)
8. मूर्च्छा (Fainting)
9. मद (Delirium)
10. अध्मान (पेट का फूलना) (Distended abdomen)
11. गलग्रह (Torticolis)
12. पाण्डु (Anaemia)
13. आमविष (विसूचिका, अलसक, विलंबिका) (Disease due to Indigestion)
14. किलास (श्वेतकुष्ठ) (Leukoderma)
15. कुष्ठरोग (Skin diseases)
16. ग्रहणी रोग (Irritable bowel disease)
17. शोथ- (Odema)
18. अम्लपित्त (Gastritis)
19. ज्वर (Fever)
20. पीनस (Rhinitis)
21. सन्तनो मे द्वेष (Genetic disorder by epigentics)

विरुद्ध आहार की चिकित्सा -

एषां खल्वपरेषां च वैरोधिकानिमित्तानां व्याधीनामिमे भावाः। प्रतिकारा भवन्ति। तद्यथा-

वमनं, विरेचनं च तद्विरोधिनां च द्रव्याणां सशंमनार्थमुपयोगः, तथाविधैश्च द्रव्यः पूर्वमभिसंस्कारः शरीरस्येति।। (च. सू. 26/104)

चिकित्सा-

1. वमन
2. विरेचन
3. विरोधी अन्न सेवन करने पर उत्पन्न उपद्रवों की शान्ति के लिए विरुद्ध आहार के विपरित द्रव्यों का सेवन लाभकारी होता है।
4. प्रथम ही विरुद्ध आहार के समान द्रव्यों से शरीर का संस्कार करना हितकारी होता है।

अध्याय-3

Basic Pathology

Pathology is the Study (logos) of Suffering (pathos)

Defnition - It is a bridge between clinical practice and basic science, and it involves the investigation of the causes (etiology) of disease as well as the underlying mechanisms (pathogenesis) that result in the presenting signs and symptoms of the patient.

Pathologists use a variety of molecular, microbiologic, and immunologic techniques to understand the biochemical, structural and functional changes that occur in cells, tissues, and organs.

Pathology मूलभूत विज्ञान तथा व्यवहारिक विज्ञान के बीच की योजक कड़ी हैं। Pathology द्वारा रोगों के कारणों का तथा रोग उत्पत्ति के विशिष्ट क्रम को जाना जाता है।

कोशिकाओं, उत्तकों व अंगों में होने वाली जैवरसायनिक, रचनात्मक, क्रियात्मक परिवर्तनों को आण्विक सूक्ष्मविज्ञानीय व प्रतिरक्षात्मक परीक्षणों के द्वारा जाना जाता है।

Pathology को अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जाता है।

Traditionally- the discipline is divided into two part

1. सामान्य विकृति विज्ञान (General Pathology) - आधारभूत कोशिकीय (Fundamental cellular) व उत्तकीय परिवर्तन (Tissue responses to pathologic stimuli) का अध्ययन।

2. संस्थानिक विकृति विज्ञान (Systemic Pathology)- रोगावस्था में विशेष अंगों (Specialized organs) में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन।

Cell Adaptation & Cell Injury

Cells are active participants in their environment, constantly adjusting their structure and function to accommodate according to changing demands. They maintain normal homeostasis. As cells encounter physiologic stresses or pathologic stimuli, they can undergo adaptation, and achieving a new steady state and preserving viability and function. The principal adaptive responses are.

कोशिकायें बाह्य परिवर्तनों की आवश्यकता के अनुसार स्वयं को समायोजित कर लेती है, तथा स्वयं को सामान्य रूप में संस्थापित कर लेती है। कोशिकाओं को क्रियात्मक तनाव तथा वैकारिक उद्दीपन के अनुसार अनुकूलन स्थापित करती है।

1. Hypertrophy
2. Hyperplasia
3. Atrophy
4. Metaplasia.

If the adaptive capability is exceeded or if the external stress is harmful, so cell injury develops. Within certain limits injury is reversible, and cells return to a stable baseline; however, severe or persistent stress results in irreversible injury and death of the affected cells that's called as cell death.

Cell death is one of the most crucial events in the evolution of disease in any tissue or organ. It results from diverse causes, including ischemia (lack of blood flow), infections, toxins, and immune reactions.

Cell Adaptations कोशिका अनुकूलन

Adaptations are reversible changes in the number, size, phenotype, metabolic activity or functions of cells in response to changes in their environment.

1. Physiologic adaptations usually represent responses of cells to normal stimulation by hormones or endogenous chemical mediators (e.g., the hormone-induced enlargement of the breast and uterus during pregnancy).

2. Pathologic adaptations are responses to stress that allow cells to modulate their structure and function and thus escape injury.

Such adaptations can take several distinct forms, Like

1. Hypertrophy- Hypertrophy is an increase in the size of cells resulting in increase in the size of the organ.

कोशिका के आकार में वृद्धि होती है।

2. Hyperplasia - Hyperplasia is an increase in the number of parenchyma cells resulting in enlargement of the organ.

कोशिकाओं की संख्या में वृद्धि होना।

The physiologic enlargement of the uterus during pregnancy occurs as a consequence of estrogen-stimulated smooth muscle hypertrophy and smooth muscle hyperplasia.

3. Atrophy- Shrinkage in the size of the cell by the loss of cell substance is known as atrophy. When a sufficient number of cells is involved, the entire tissue or organ diminishes in size, becoming atrophic. It should be emphasized that although atrophic cells may have diminished function, they are not dead. There is shrinkage in cell size due to reduction in cell organelles chiefly mitochondria, endoplasmic reticulum etc.

कोशिकीय अंगों के नष्ट होने से कोशिका के आकार में क्षय होता है।

4. Metaplasia- [**Meta**-transformation, **Plasia**-growth]. Metaplasia is a reversible change in which one adult cell type (epithelial or mesenchymal) is replaced by another adult cell type. In this type of cellular adaptation, cells sensitive to a particular stress are replaced by other cell types better able to withstand the adverse environment.

एक परिपक्व कोशिका किसी अन्य प्रकार की परिपक्व कोशिका में परिवर्तित हो जाती है।

Metaplasia is Broadly Divided into 2 Type

1. Epithelium Metaplasia - In chronic smoker pseudostratified columnar epithelium of bronchi replaced by squamous epithelium.

2. Mesenchymal Metapsia - In myositis ossificans soft tissue convert in bony tissue.

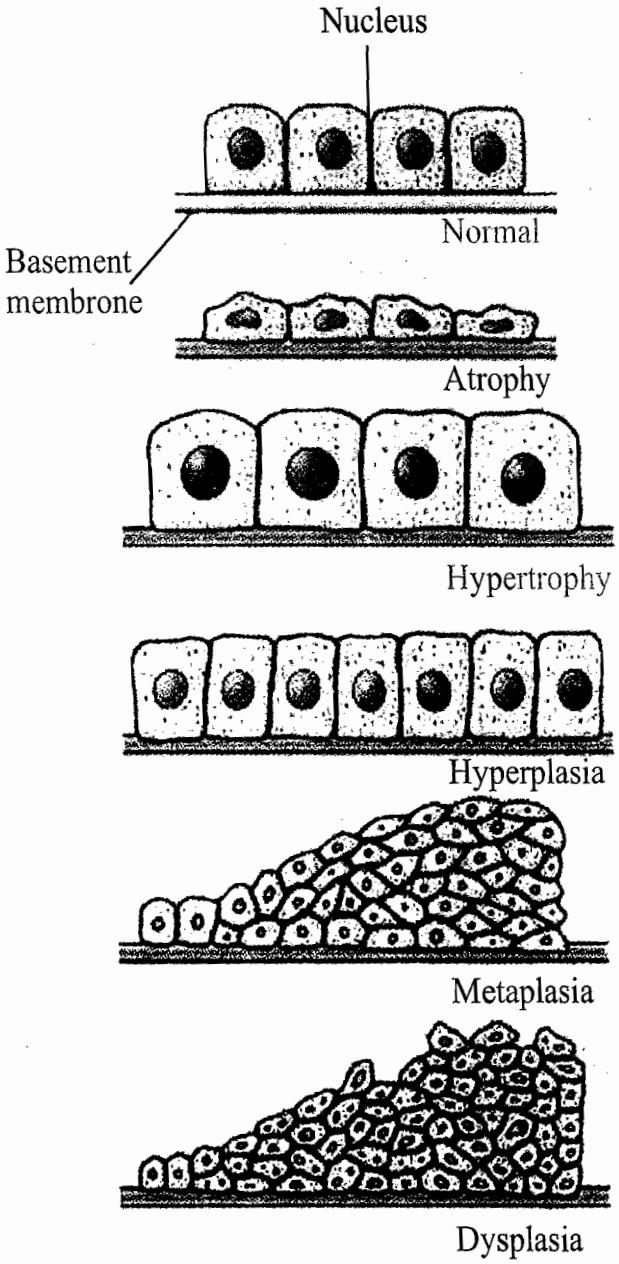

चित्र - 6 Cell Adaptations

Cell Injury कोशिका क्षति

When cells are exposed to severely damaging agent that no longer to adopt the cell may get injured. The cell injury are two type

कोशिकायें बाह्य आघात के कारण कुछ समय तक तो अनुकूलन स्थापित करती है परन्तु लम्बे समय तक निरन्तर विषमस्थिति रहने पर वह कोशिका नष्ट हो जाती है।

काशेका क्षति के दो भेद-

(1) प्रतिवर्ती कोशिकीय क्षति (Reversible cell injury)

(2) अप्रतिवर्ति कोशिकीय क्षति (Irreversible cell injury)

Causes of Cell Injury-

Most injurious stimuli can be grouped into the following categories.

कोशिकीय क्षति के कारण

1. Oxygen Deprivation - आक्सीजन की कमी (Hypoxia or oxygen deficiency).

It is common cause of cell injury and cell death.

2. Genetic Defects - अनुवांशिक विकार होने पर प्रोटीन निर्माण की प्रक्रिया प्रभावित होती है। (Genetic defects may cause cell injury because of deficiency of functional proteins).

3. Nutritional Imbalances - पोषकतत्वों की कमी होने पर कोशिका क्षति होती है। (Nutritional deficiencies is a major cause of cell injury. excesses of nutrition are also important causes of morbidity and mortality).

Example-Obesity markedly increases the risk for type 2 diabetes mellitus. Atherosclerosis, Hypertention, Heart diseases.

4. Physical Agents-आघात से, तापक्रम अधिक होना, विद्युत आघात से, वातावरण दाब में परिवर्तन होने से कोशिका क्षति अधिक होती हैं। (Trauma, extremes of temperatures, radiation, electric shock, and sudden changes in atmospheric pressure all have wide-ranging effects on cells).

Mechanism of Cell Injury

The cellular derangements of reversible injury can be repaired and, if the injurious stimulus is mild type, the cell will return to normalcy. Persistent or excessive injury, causes cells to pass the "Point of no return" into irreversible injury and cell death.

कोशिकीय क्षति यदि अल्प है, तो शीघ्र ही कोशिका अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त कर लेती है, यदि यह क्षति लगातार बनी रहे अथवा कोशिका क्षति अधिक हो तो कोशिका पुन: अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाती है।

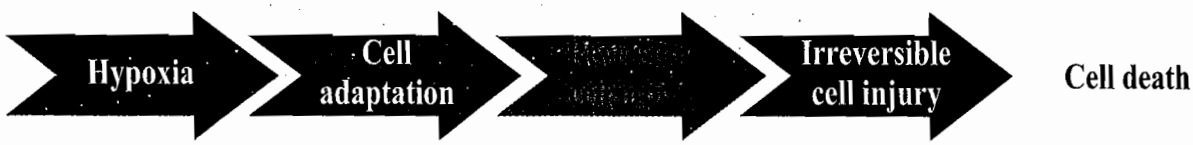

Several general principles are relevant to most forms of cell injury:-The cellular response to injurious stimuli depends on some factors :-

a. Type of injury, (आघात के प्रकार)

b. Its duration, (आघात कालमर्यादा)

c. Its severity (आघात की तीव्रता)

Thus, low doses of toxins or a brief duration of ischemia may lead to reversible cell injury, whereas larger toxin doses or longer ischemic intervals may result in irreversible injury and cell death.

Cell injury results from functional and biochemical abnormalities in one or more of several essential cellular components. कोशिका क्षति द्वारा निम्न परिवर्तन होती है।

(1) Mitochondria, the sites of ATP generation

(2) Cell membranes, on which the ionic and osmotic homeostasis of the cell and its organelles depends

(3) Protein synthesis

(4) The cytoskeleton

(5) The genetic apparatus of the cell.

Pathogenesis of Cell Injury-

कोशिका क्षति में होने वाले क्रियात्मक परिवर्तनों निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत वर्णित किया है।

1. Decreased Cellular ATP–ATP is essential required for various cellular functions.

क्रियात्मक परिवर्तनों के अन्तर्गत सबसे पहला परिवर्तन कोशिकीय ए. टी. पी में आता है। एटीपी निर्माण कम होने के कारण जीवद्रव्य झिल्ली पर स्थित सोडियम पोटेशियम पंप कम क्रियाशील हो जाता है।

ATP derived from 2 sources

(i) Aerobic respiration, oxidative phosphorylation

(ii) Anaerobic phosphorylation

Ischemia and hypoxia, causing decrease ATP generation. The major causes of decrease ATP are reduced supply of oxygen and nutrients, mitochondrial damage, and the actions of some toxins (e.g., cyanide). ATP depletion can effect plasma membrane. The activity of the plasma membrane energy-dependent sodium potassium pump is reduced.

(a) Sodium Potassium Pump Activity Reduced- the energy dependent sodium potassium pump operating at the plasma membrane allows active transaport of sodium out of the cell and diffusion of potassium into the cell. Lowered ATP lead to increase intracellular accumulation of sodium and efflux of potassium. The accumulation of sodium in the cell leads to increase intracellular water to maintain isoosmotic condition, causing cell swelling and dilation of the ER.

सोडियम पोटेशियम पंप कम क्रियाशील होने के कारण सोडियम कोशिका में ही संचित होता रहता है व पोटेशियम कोशिका के बाहर अधिक मात्रा में जाने लगता है, परिणामस्वरूप सोडियम के कारण कोशिका में अधिक मात्रा में जल एकत्रित होने लगता है व कोशिकाओं में शोय उत्पन्न होता है।

(b) Reduced Intra Cellular pH - Due to low oxygen to the cell, aerobic respiration fails so there is a compensatory increase in anaerobic glycolysis in an attempt to maintain the cell's energy sources. As a consequence, intracellular glycogen stores are rapidly depleted, and lactic acid accumulates, leading to decreased intracellular pH and decreased activity of many cellular enzymes.

ऑक्सीजन की कमी के कारण अनाक्सीय ग्लाइकोलइसिस होता है। अनाक्सीय ग्लाइकोलाइसिस के अंत में अम्लीय द्रव्यों का निर्माण होता है अम्लीयता में वृद्धि होने से कोशिकीय pH कम हो जाती है।

2. Failure of the Ca2+ Pump - leads to influx of Ca2+, with damaging effects on numerous cellular components, prolonged or worsening depletion of ATP causes structural disruption of the protein synthetic apparatus, manifested as detachment of ribosomes from the rough endoplastic reticulum (RER) and dissociation of polysomes into monosomes, with a consequent reduction in protein synthesis. Ultimately, there is irreversible damage to mitochondrial and lysosomal membranes, and the cell undergoes necrosis.

ATP की कमी के कारण Ca^{+2} कोशिका से बाहर नहीं जा पाता है व कोशिका में ही संचित होने लगता है।

यह संचित Ca^{+2} कोशिकीय घटकों को नष्ट करने वाले एंजाइम को क्रियाशील कर देता है। जिससे प्रोटीन निर्माण करने वाले विभिन्न कोशिकीय घटक (राइबोसोम, पोलीसोम) क्रियाहीन होते जाते हैं। अन्ततः माइटोकोन्ड्रीया व लाइसोसोमल झिल्ली नष्ट हो जाती है वह कोशिका नष्ट हो जाती है।

Increased cytosolic Ca2+ activates a number of enzymes, with potentially deleterious cellular effects . These enzymes include

Phospholipases → Cause membrane damage.

Proteases → Break down both membrane and cytoskeletal proteins.

Endonucleases → are responsible for DNA and chromatin fragmentation.

3. Reduction in Protein Synthesis - Prolonged depletion of ATP cause structural disruption of protein synthesis apparatus, so that detachment of ribosome occured from endoplasmic reticulum this will cause reduction in protein synthesis. Ultimately there is irreversible damage to mitochondrial and lysosomal membrane and the cell undergo necrosis.

प्रोटीन निर्माण की प्रक्रिया रुक जाती है व कोशिका नष्ट हो जाती है।

Mitochondrial Damage - It can be damaged by increased cytosolic calcium or by oxidative stress or by phospholypase in early stage mitochondria damage can associated with leakage of cytochrome c into the cytosol it can trigger apoptotic death pathway.

4. Accumulation of Oxygen Derived free Radicles- Cell generate energy by reducing molecular oxygen to water reduce reactive oxygen is unavoidable by product of mitochondrial respiration which is called as free radicles. These free radical can damage lipid, protein and nucleic acids. Free radicals are chemical species that have a single unpaired electron in an outer orbit. The other free radicals are OH^-, H^+, O_2^-, ferric(Fe3+).Cells have defense system to prevent injury caused by free radicals. An imbalance between free radical generating and radical scavenging system results in oxidative stress.

सामान्यतया उपापचय क्रियाओं के दौरान कोशिका की परमाण्वीय आक्सीजन को जल में बदल दिया जाता है इस प्रकार क्रियाशील ऑक्सीजन बनने से रोक दिया जाता है। यह क्रियाशील आक्सीजन कोशिका के लिपिड प्रोटीन व न्युक्लिक अम्ल को नष्ट कर देती है।

यह क्रियाशील ऑक्सीजन व अन्य इसी प्रकार के तत्व जिन पर एकल अयुस्मित इलेक्ट्रान बाहरी स्तर पर पाया जाता है उन्हें फ्री रेडिकल कहा जाता है। यह क्रियाशील तत्व कोशिका की क्षति को और अधिक बडा देते हैं।

5. Defects in Membrane Permeability - Early loss of selective membrane permeability leading to convert membrane damage which is a consistent feature of most forms of

cell injury. Increased cytosolic calcium activate the phospholipase which may cause damage to element of cytoskeleton. Injury to lysosomal membrane results in leakage of lysosome contain enzyme like- RNases, DNases, proteases etc.

जीवद्रव्य झिल्ली की पारगम्यता बढ़ने लगती है व लइसोसोमल एन्जाइम कोशिका में निस्सरित होते हैं व सम्पूर्ण कोशिका को नष्ट कर देते हैं।

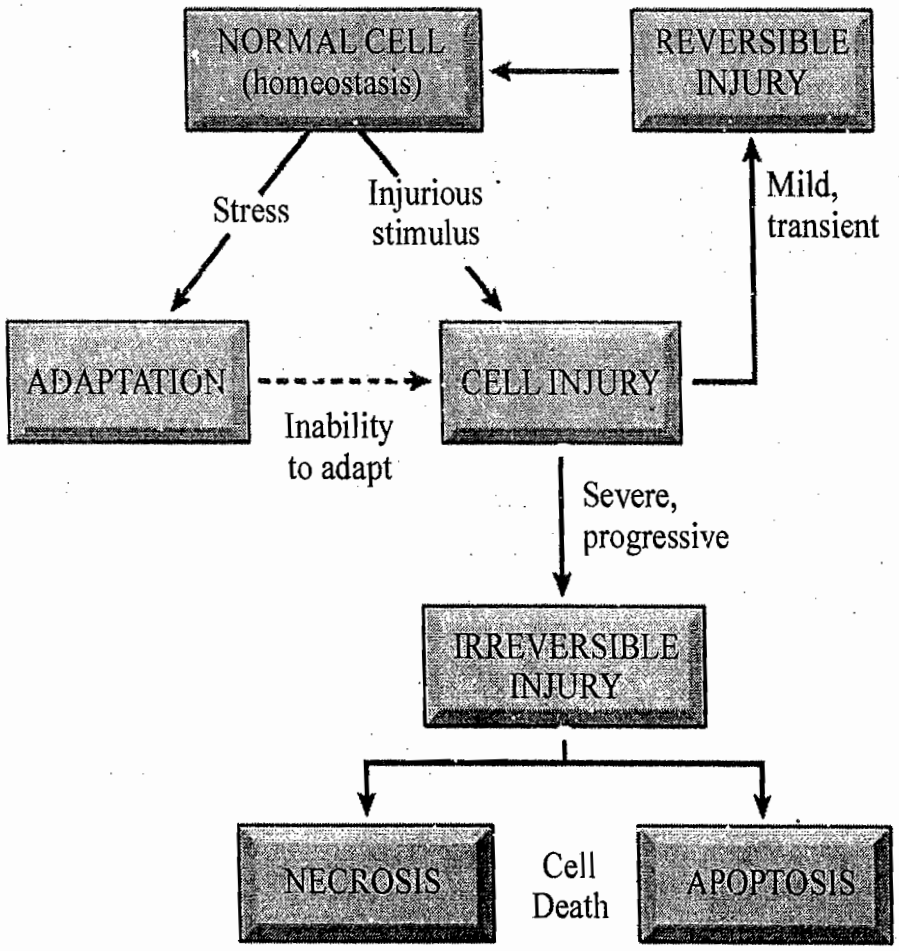

Morphology of Cell Injury-

कोशिका क्षति के कारण कोशिका के रचनात्मक स्वरूप में परिवर्तन भी दो प्रकार के होते हैं।

1. Reversible Injury-

प्रतिवर्ति क्षति के कारण कोशिकायें फूल जाती है। उनमें लिपिड की रिक्तिकायें बन जाती है। यह लिपिड रिक्तिकायें यकृत कोशिकाओं व हृदय कोशिकाओं में लिपिड का उपापचय करने लगती है।

Two pattern of reversible cell injury can be recognized under light microscope–

a). Cellular Swelling- Cellular swelling is the first manifestation of all form of injury to cell.

b). Fatty Change- It is manifested by appearance of small and large lipid vacuoles in the cytoplasm. It is associated with the cells which are involved in fat metabolism such as hepatocyte and myocardial cell.

[As we know that persistent injury can convert the reversible injury into irreversible injury, leading to cell death, principally necrosis.]

Necrosis (Death of Cells)

The morphological appearance of necrosis is a result of two concurrent process-

अप्रतिवर्ति क्षति के दौरान कोशिका की मृत्यु हो सकती है जिसे नेक्रोसिस कहा जाता है।

1. Enzymatic Digestion of the Cell- Enzyme used in the process are derived from two sources-

a). From the lysosome of the dead cells, these lysosome digest the dead cell, this process called as Autolysis.

नेक्रोसिस के बाद लाइसोसोमल एंजाइम द्वारा मृत कोशिका को नष्ट कर दिया जाता है इसे आटोलाइसिस कहते है।

b). From the lysosome of immigrant leucocytes which arrived near dead cell. Leucocytic lysosome can also digest the dead cell, this process called as heterolysis.

श्वेत रक्त कोशिकायें अन्य स्थान से स्थानान्तरित होकर मृत कोशिका के पास पहुँचती है व मृत कोशिका का पाचन कर लेती है इसे हेटरोलाइसिस कहा जाता है।

2. Denaturation of Intracellular Protein- This process require hours to develop denaturation, so immediately after cell death there are no detectable necrotic change.

The earliest histological evidence of myocardial necrosis manifest atleast after 4 to 12 hours.

3. Morphological Changes-

a). Membrane damage

b). Large flocculent amorphous densities in mitochondria.

c). All cytoplasmic organelles are digested by enzymes so the cytoplasm become vacuolated, Finally calcination of dead cells may occur. Dead cell may be ultimately replaced by large phospholipid masses called myelin figures.

नेक्रोसिस द्वारा कोशिका झिल्ली पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। माइट्रोकोण्ड्रीया में बड़ी-बड़ी रिक्तिकायें बन जाती है। सभी कोशिकीय घटकों का पाचन कर दिया जाता है वह अन्ततः कोशिका के स्थान पर माइलिन फिगर शेष रहता है, यह फास्फोलिपिड के रूप में कोशिका का अंश मात्र है।

d). Increased eosinophilia and decreased basophilia

4. Nuclear Changes - मृत कोशिका का केन्द्रक शुष्क हो जाता है गुणसूत्र लुप्त हो जाता है।

Karyolysis- Basophilia of chromatin may fade.

Pyknosis- Nuclear shrinkage

Karyorrhexis- Fragmentation of pyknotic nucleus.

Necrotic cells may have different morphologic patterns depending on the process that predominate.

If denaturation of protein is a primary pattern→coagulative necrosis develop

If enzymatic digestion is a primary pattern→liquification necrosis develop

1. Coagulative Necrosis – this is most common type of necrosis this type of necrosis is most frequently caused by sudden cessation of blood flow (ischemia) in organs such as heart (Myocardial infarction [MI], kidney, spleen).

मृतकोशिका की प्रोटीन की विकृति होने के कारण रक्त प्रवाह रुक जाता है इसे कोएगुलेटिंग नेक्रोसिस कहते है इस प्रकार का नेक्रोसिस हृदय, वृक्क व प्लीहा में होता है।

2. Liquefication Necrosis – It is necrotic degradation of tissue that rapidly under go softening and liquefication because of the action of hydrolytic enzymes.

मृतकोशिका का विलयन कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया जल अपघटन एन्जाइम द्वारा पूर्ण की जाती है। इसे लिक्वीफिकेशन नेक्रोसिस कहते है।

It occurs after infection of suppurative inflammation and in ischemic necrosis in brain.

3. Caseous Necrosis – It is variants of coagulating necrosis. It is most commonly encountered when cell death is attributed to certain organism like mycobacterium tuberculosis [TB] it called as caseous because of there cheesy white appearance of the area of necrosis.

जब प्रोटीन की विकृति भी होती है वह साथ ही मृत कोशिका के कुछ भाग का विलिनीकरण भी होता है इस प्रकार संयुक्त प्रभाव को केजीयस नेक्रोसिस कहा जाता है।

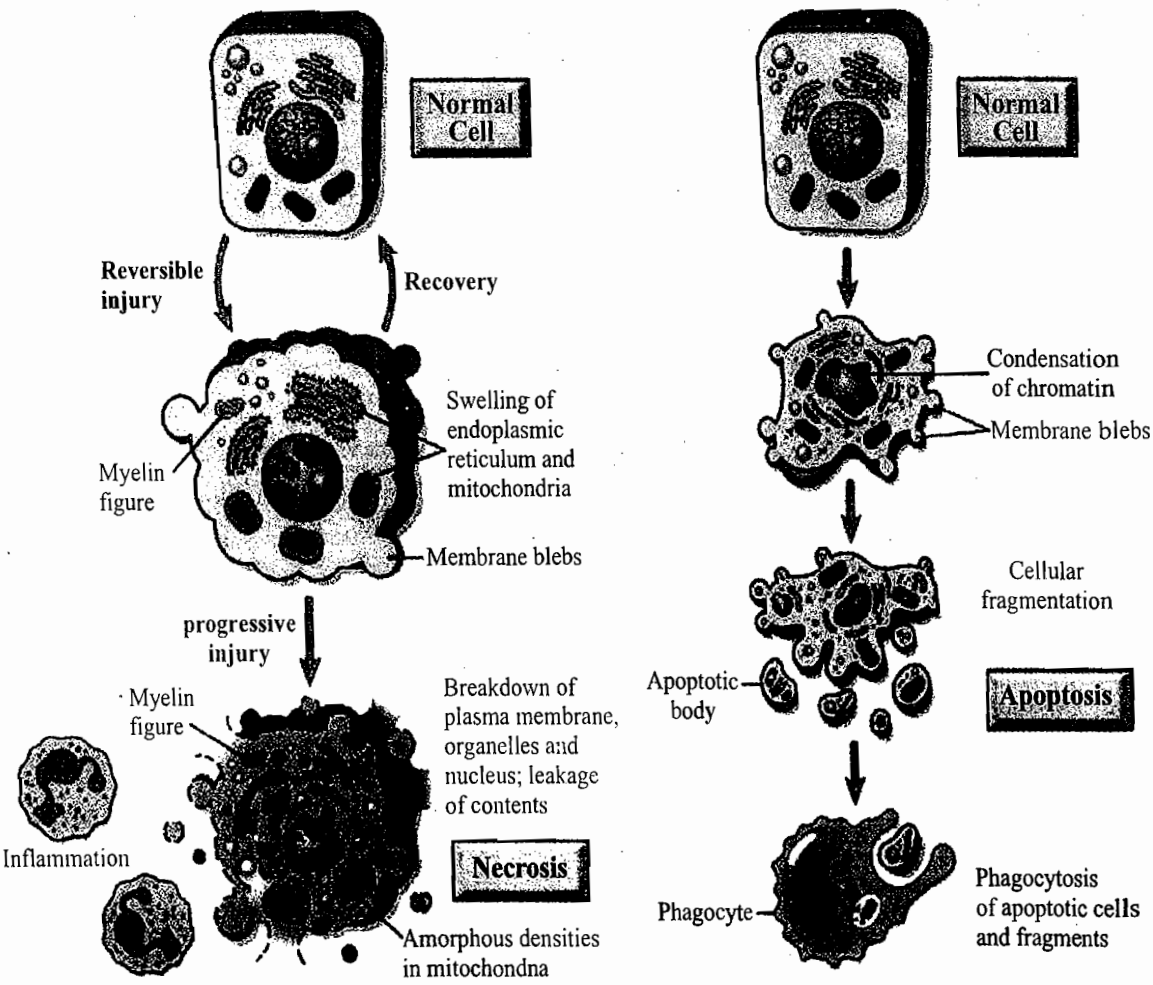

चित्र – 7 Cell injury

Apoptosis

(apoptosis, "falling off" like leaves from a tree). it is a important process in health and disease by which abnormal and unwanted cells are eliminated.

असामान्य व अवांछित कोशिकाओं को नष्ट किया जाता है तथा स्वस्थ कोशिका को योजनामय तरीके से नष्ट किया जाता है।

Apoptosis in Health

The programmed destruction of cells during embryogenesis, including implantation, organogenesis, developmental involution, and metamorphosis. The term "programmed cell death" was originally coined to denote death of specific cell types at defined times during the development of an organism

Apoptosis in Disease

In tumor- apoptosis and proliferative rates together control the rate of tumors growth.

कैंसर रुग्ण कोशिका में एपोपटोसिस व कैन्सर की वृद्धि दोनों के बीच सामंजस्य रहने से ट्यूमर का आकार बड़ नहीं पाता है।

Inflammation

Inflammation

Definition – Inflammation is a series of molecular and cellular responses to eliminate foreign agents or damaged (necrotic) cells and to promote repair of damaged tissues.

रोग उत्पन्न करने वाले बाह्य कारकों के सम्पर्क में आने पर शरीर की प्रतिक्रियात्मक स्वरूप में होने वाले आण्विक व कोशिकीय श्रृंखलाबद्ध परिवर्तनों को शोथ कहा जाता है।

शोथ किसी भी संक्रमण की प्रतिक्रिया है। यदि शोथ नहीं होगा तो संक्रमण द्वारा शरीर को लगातार हानि होती रहेगी व क्षतिपूर्ति भी नहीं होती है।

Inflammation is fundamentally a protective response, the purpose of which is to destroy the damaging agent, initiate repair proceses and return the damaged tissue to useful function.

In the absence of inflammation, wounds and infection will never heal and progressive destruction of tissues would compromise the survival of organism.

Type of Inflammation (1) Acute (2) Chronic

1. Acute Inflammation – It is a rapid response to an injurious agent and it is relatively of short duration.

संक्रामक कारकों के प्रति तुरन्त होने वाली प्रक्रिया है।

Stimuli for Acute Inflammation-

1. संक्रमण (Infection) (Bacterial, viral, parasitic)

2. आघात (Trauma)

3. शारीरिक व रासायनिक तत्व (Physical and chemical agent)

4. मृत कोशिका (Tissue necrosis)

5. बाह्य कारक (Foreign body)

6. रोग प्रतिरक्षा क्रिया (Immune reaction)

Cardinal Signs of Inflammation

Celsus's four Cardinal Sign of Inflammation

1. Rubor (Redness)- Due to vasodilation of small blood vessel

2. Tumor (Swelling)- Due to exudation of fluid

3. Calor (Heat)-Due to increased blood flow which is caused by vasodilation

4. Dolor (Pain)- Due to stretching of tissue from odema

A Fifth Clinical Sign Added Later by Virchow-

5. Functio laesa- Loss of function

Patho Physiology of Acute Inflammation-

These Inflammatory Change Involve two Main Component-

1. Vascular Reaction- Changes in blood vessels

2. Cellular Reaction- Changes in leukocytes

रक्त संवहनी नाडियों में तीन मुख्य परिवर्तन होते हैं।

(1) Vasodilation (2) Change in vascular parmeablity (3) Change in vascular flow

a). Vasodilation- Vasodilation is the one of the earliest manifestation of acute inflammation. Sometime it follows transient constriction of arteriole. This vasoconstriction lasting for a few seconds.

Vasodilation first involve arteriole and then results in opening of new capillary beds in the area.

b). Change in Vascular Permeability- increased vascular permeability is the hallmark of acute inflammation.

Due to vascular permeability escape of protein rich fluid [exudate] and leukocyte into extra vascular space.

Intravascular osmotic pressure reduces due to exudation of protein and osmotic pressure of interstitial fluid is increased.

Together with increased hydrostatic pressure and decreased intravascular osmotic pressure leads to further outflow of fluid and accumulate in the interstitial fluid.

c). Change in Vascular Flow – The loss of fluid results in concentration of red cells and increased viscosity of blood. which slow the blood flow called as stasis.

किसी भी बाह्य कारक के प्रवेश करने पर प्रतिक्रिया स्वरूप में प्रभावित उत्तकों से हिस्टामिन स्त्रावित होता है। जिससे सबसे पहले Vasodilation होता है।

Histamin

↓

smoth muscles को Relax करता है, जिससे vasodilation होता है।

↓

Rubor (red), color (heat) Arterioles व Cappilaries में रक्त का प्रवाह बढ जाता है।

↓

Hydrostatic pressure बढने के कारण Transudate बाहर आता है।

↓

(बाह्य कारकों की प्रतिक्रिया स्वरूप) तथा Cappilary permeability बढने के कारण

↓

Arteriole or cappilaries से प्रोटीन बाहर interstitial space में आने लगता है।

↓

कोशिकाओं से Exudate (प्रोटीन आधिक्य स्राव बाहर आता है।)

↓

Tumour - Interstitial space में Exudate व Transudate का संचय होता है।

↓

केशिकाओं में रक्त प्रवाह कम होने पर

↓

रक्त कोशिकाओं में परिवर्तन प्रारम्भ होते है।

2. Cellular Changes – A critical function is to deliver leukocyte to the site of injury and to activate the leukocyte to perform their normal function in host defence

The sequence of events in the journey of leukocyte from the vessel lumen to interstitial tissue is called extravasation. Extravasation involved following steps.

1. In the Vessel Leumen- As stasis develops, leukocyte principally neutrophil accumulate along the vascular endothelium. This is called **migration.**

The rows of leukocyte move slowly along the endothelium a process called **rolling.** Finally coming at rest, leukocyte adhere firmly to endothelium this mechanism called **adhesion** The endothelium can be lined by white cells , process called- **pavementing**

2. Diapedesis – It is the process of transmigration of leucocyte across the endothelium.

After firm adhesion, leukocyte migrate through inter endothelial junction and assume a position between endothelium cells and the basement membrane.

Eventually they pierce the basement membrane by secreting collagenase and escape into the extravascular space.

Leukocyte diapedesis predominantly occur in venule. (except in lungs, where it occurs in capillaries).

3. Chemotaxis- After extra vasation, leukocyte emigrate into tissue towards the site of injury, along a chemical gradient a process known as chemotaxis.

The substance that act as a chemo attractant may be exogenous [bacterial products] or endogenous [Interleukins- 8]

4. Leukocyte Activation – at the site of inflammation, cytokines induce defensive function of leukocyte and are referred as leukocyte activation.

5. Phagocytosis – Phagocytosis and release of enzyme by neutrophils and macrophages are responsible for eliminating the injurious agents

In phagocytosis, engulfment and killing and degradation of injurious agent take place.

रक्त कोशिकाओं में परिवर्तन के दौरान श्वेत रक्त कोशिकायें संक्रमण स्थान पर जाकर विभिन्न चरणों से होते हुये अन्त में संक्रमणकारकों का भक्षण कर लेती है।

श्वेत रक्त कोशिकायें रक्त का वेग कम होने पर नाडियों की दिवार की ओर जाने लगती है जिसे Migration कहते हैं। श्वेत रक्त कोशिकायें उन्हीं दिवारों पर घूमने लगती है, जिसे Rolling कहते है एक स्थान विशेष पर चिपक जाती है जिसे adhesion कहते है। तत्पश्चात् कोशिकायें रक्तकोशिकाओं की दिवारों से बाहर निकलकर Interstial space में आ जाती है वहाँ जीवाणु आदि के द्वारा स्रावित विष (toxin) के प्रभाव से रक्त कोशिकायें जीवाणुओं की तरफ गतिमान होती है व उन्हें Phagocyts द्वारा भक्षण कर लेती है।

Acute inflammation may have one of three outcome

1. Complete Resolution -Neutralizing and eliminating the injurious stimulus.

2. Healing by connective tissue replacement [Fibrosis]- Formation of fibrinous exudate in tissue. Connective tissue grows into the area of exudates converting it into a mass of fibrinous tissue- a process called **organization.**

3. Progression of tissue Response to chronic inflammation - when the stressing agent persistently stimulate the tissue and it can not be resolved then acute transits to chronic inflammation.

2. Chronic Inflammation

Chronic inflammation is of prolonged duration in which active inflammation tissue destruction and attempts of repair are proceeding simultaneously

1. Begin insidiously without acute inflammation

or

2. Follows acute inflammation when the injurious stimulus is persistent

Chronic Inflammation is Charectorized by:-

1. Mononeuclear Cell Infiltration- The macrophages are the major cell involved in chronic inflammation. Macrophages are derived from monocytes, when these cells circulate in the blood, they are known as monocytes and when they come out from the circulation and become part of tissue they are called as macrophages.

Macrophages are accumulated by following mechanism

(i) Recruitment of monocyte from the circulation [most common]

(ii) Local proliferation of the macrophages

(iii) Immobilization of macrophages at the site of inflammation

Plasma cell, lymphocyte, eosinophil and mast cell also involved in this mechanism

2. Tissue Destruction- (i) Activated macrophages secret a products which eliminate injurious agent such as microbes and to initiate the process of repair.

(ii) These mediators also cause tissue injury because some of these are toxic to host. tissue destruction is one of the hallmark of chronic inflammation.

(iii) Healing and fibrosis

Attempt at healing by connective tissue replacement of damaged tissue is accompanied by proliferation of new small vessels [angiogenesis] and fibrosis.

Granulomatous inflammation is a distinctive pattern of chronic inflammatory reaction characterized by focal accumulation of activated macrophages. That are transformed in epithelium like cells (epithelioid cells) surround by collar of mononuclear leukocytes, principally lymphocytes and occasionally plasma cell.

कोशिका को प्रभावित करने वाले कारक लम्बे समय तक बने रहते हैं तो acute inflammation, chronic inflammation में बदल जाता है। परन्तु कभी-कभी chronic phase बिना acute phase के भी प्रारम्भ हो सकता है।

मेक्रोफेज Chronic inflammation के लिये उत्तरदायी कोशिका होती है।

Chronic inflammation में macrophage द्वारा या तो संक्रामक कारकों को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया जाता है अथवा कुछ ऐसे तत्व स्रावित किये जाते है जिसे प्रभावित कोशिका पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। इसे tissue destruction कहते हैं।

Polymorphonuclear leukocytes or neutrophils acute inflammation के लिये उत्तरदायी कोशिका है।

Granuloma formation is seen during chronic inflammatory response.

The cells predominating during chronic inflammatory response are lymphocyte, plasma cel, monocyte etc.

Healing

Healing is the body response to injury in an attempt to restore normal structure an function.

किसी भी प्रकार के आघात लगने पर घाव बनता है जो कुछ समय पश्चात् भरता है वह सामान्य कोशिका उसघाव का स्थान ले लेती है।

The process of healing involve two distinct process

1. Regenration

2. Repair

1. Regenration- Replacement of lost parenchyma cells by division adjacent surviving parenchymal cells. Usually results in complete restoration of original tissue.

इस प्रक्रिया में घाव बनने से पूर्व स्थित सामान्य कोशिकाओं का ही पुनरुत्पादन हो जाता है।

2. Repair - Repair is the replacement injured tissue by fibrous tissue.

इस प्रक्रिया में घाव के भरने पर पुन: सामान्य कोशिकाओं का पुनरुत्पादन नहीं वरन् Fibrous tissues उत्पन्न होते है।

Two process are involved in repair

1. Granulation tissue formation

2. Contraction of wound and scar formation

1. Granulation Tissue Formation – It is characterized by

- Formation of new blood vessels [angiogenesis] (नयी केशिकाओं का निर्माण होना।)
- Proliferation of fibroblast (तन्तुमय स्तर का परिवर्धन)

These new vessels are leaky, allowing the passage of protein and red cells into extra vascular space. So the new granulation tissue is often edematous.

नवीन केशिकाओं का निर्माण हो जाता है व उनसे प्रोटीनयुक्त स्राव व रक्त कोशिकायें भी बाहर निकलती रहती हैं जिससे बनने वाला तन्तुमय स्तर शोथ युक्त होता है।

2. Contraction of the Wound and Scar Formation- Growth factor and cytokines released at the site of injury induce fibroblast proliferation and migration into the granulation tissue frame work of new blood vessels and loose ECM that initially forms at the repair site.

Extracellular Matrix

Three process participate in the formation of scar

1. Emigration and Proliferation of the Fibroblast in the Site of Injury-New fibroblast originate from fibroblast.

2. Deposition of Extracellular Matrix Protein [ECM] – As repair continue, the number of proliferating endothelial cells require for formation and maintenance of bloodvessels, this process regulate by ECM protein.

3. Tissue Remodelling – There is deposition of collagen that provide tensile strength. Ultimately granulation tissue converted into a scar, which is composed of fibroblast, dense collagen,

Injury

↓

Cellular & Vascular Response

Stimulus removed		Persistent tissue damage
↓	↓	↓
Regenration	Repair	Tissu scar
↓	↓	Fibrosis
Parenchymal cell death superficial wounds	parenchymal cell death deepwounds	
↓	↓	
Normal structure Restitution	Scar fomation	

प्रभावित उत्तकों से Cytokine स्त्रावित

↓

Fibroblast के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ

↓

यह Fibroblast नवीन bloodvessels के Framework में जाकर एकत्रित व Loose ECM

↓

इस Fibroblast Bloodvessele व ECM Frame work मिलकर

Granulation tissue formation

Skin Wounds Healing

Skin wounds are classically healed by primary and secondry intention

(a) Primary Intention – It occurs in wounds with opposed edges, eg. Surgical incision.

The Healing process follows Series of Several Step :-

1. Immediate After Incision – Incisional space filled with blood containing fibrin and blood vessels. Dehydration of the surface clot forms scab that covers the wound.

2. Within 24 hours – Neutrophils appear at the margin of wound

3. In 24- 48 hours – Epithelial cells move from the wound edge along the cut margin of dermis, depositing basement membrane component.

4. By Day 3 – Neutrophils are largely replaced by macrophages. Granulation tissue progressively invade the incision space. Collagen fibers now present in the margin but do not bridge the incision.

5. By Day 5 – Incisional space is largely filled granulation tissue.Neovascularization is maximum. Collagen fibrils become more abundant and begin to bridge the incision. The epidermis recover its normal thickness

6. During Second Week – Leukocyte and oedema have disappeared. There is continued accumulation of collegen and proliferation of fibroblast.

7. By the End of First Month – Scar is made up of cellular connective tissue devoid of inflammatory cells.

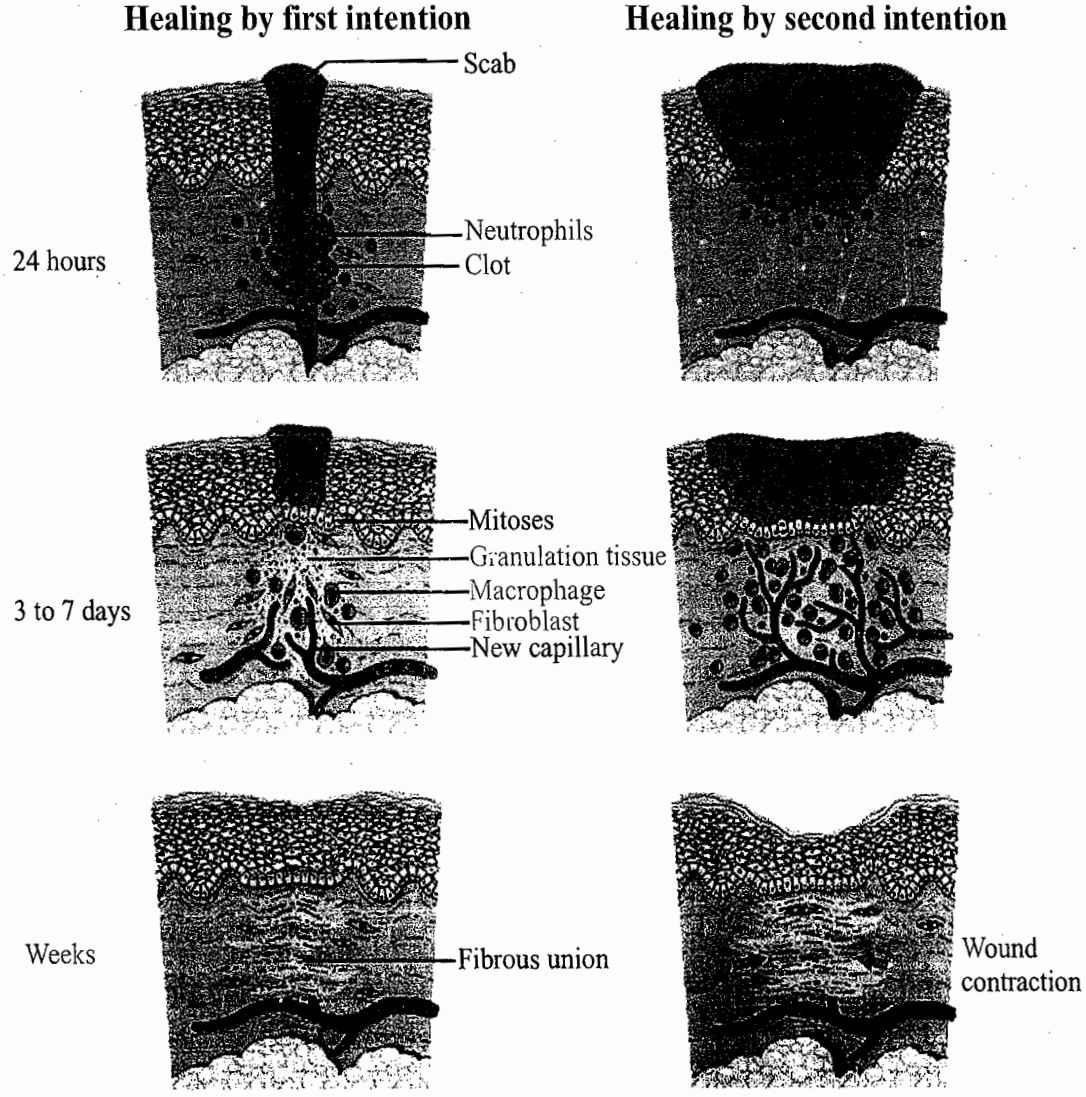

चित्र – 8 Wound healing

(b) Secondary Intention –

It occurs in wounds with separated edges in which there is loss of cells and tissue.

Regeneration of parenchymal cells cannot completely restore the original architecture, hence abundant granulation tissue grows.

Wound contraction occur, this feature most clearly differentiate primary from secondry healing.

Edema

Edema-oedema is defined as abnormal and excessive accumulation of fluid in the interstitial tissue space.

Fluid collection in different body cavities are variously designated hydrothorax, hydropericardium, ascities.

Anasarca is a severe and generalized oedema with profound subcutaneous tissue swelling.

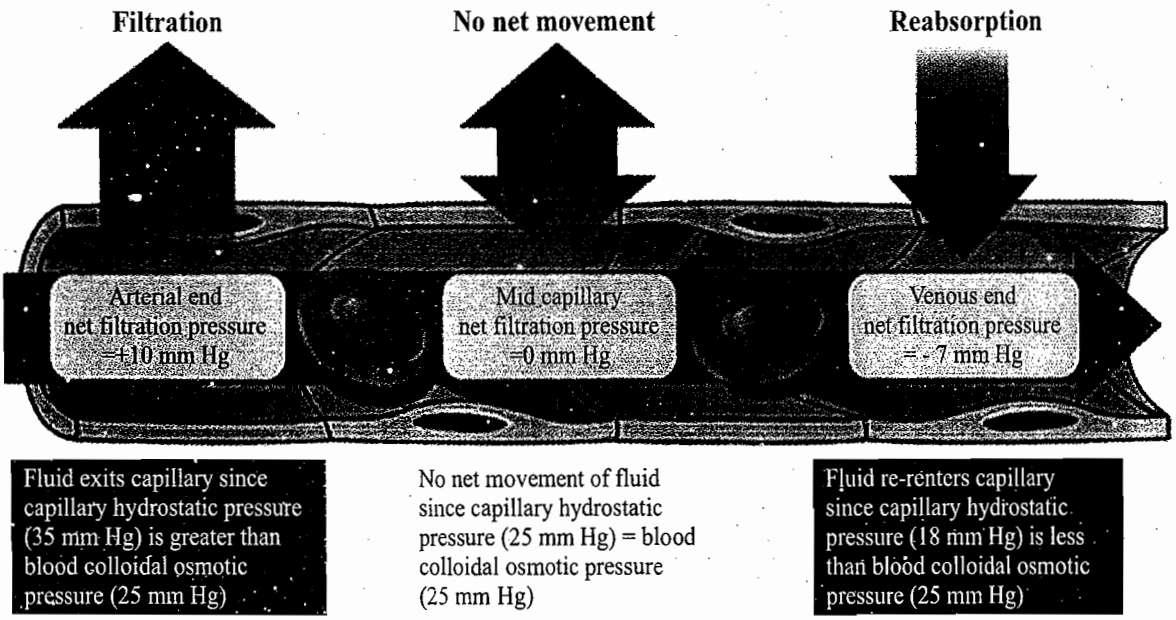

चित्र – 9 Edema

Normal Fluid Exchange

असामान्य व अत्यधिक मात्रा में तरल पदार्थ का संचय अंतरालीय उत्तकीय स्थानों पर होने लगता है यह तरल द्रव विभिन्न शारीरिक गुहाओं में भी संचित होता है, जैसे जलोदर, जलपूर्णवक्ष प्रदेश।

Cappillary osmotic Pressure = 25 mm of Hg Hydrostatic pressure = 35 mm of Hg out ward driving force 32-25=7 mm of Hg	Cappillary osmotic Pressure = 25 mm of Hg Venous end = 18 m of Hg Inward driving force 25-18 = 7 mm of Hg

Fluid exchange mainly dependent on capillary hydrostatic pressure and osmotic pressure.

At the arterial end of the capillary the hydrostatic pressure is 35 mm of Hg and a venous end it is 18 mm of Hg.

Capillary osmotic pressure is 25 mm of Hg.

At the arterial end there is an outward driving force, hydrostatic pressure more than osmotic pressure and fluid comes out from capillary into interstitial space.

Outward driving force at arterial end of capillary is 35-25 mm of Hg=10 mm of Hg.

At the venous end of capillary, osmotic pressure [inward pressure] is more than hydrostatic pressure and fluid comes back in the capillary from interstitial space.

In ward driving force at the venous end of capillary = 25-18= 7 mm of Hg

Any excessive interstitial fluid is removed by lymphatics and ultimately return to the blood stream via thoracic duct.

So normally there is no oedema because at the arterial end fluid comes out from the capillary, but returns back to the capillary at the venous end.

Pathogenesis of edema

1. Increased outward Hydrostatic Force of Capillary- It may be due to impaired venous return **eg :** Deep vein thrombosis.

2. Decreased Inward Force or Osmotic Pressure of Capillary – It is due to hypo-proteinemia **eg.** In nephrotic syndrome, liver cirrhosis.

3. Defective Removal of Interstitial Fluid by Lymphatics- due to lymphatic obstruction

4. Increased Vascular Permeability -without alteration in fluid pressure.

5. Sodium and Water Retention- Excessive sodium and water retention cause expansion of plasma volume, increase in the hydrostatic pressure and dilution of the plasma decrease the osmotic pressure.

Shock

Shock is a clinical syndrome that result from poor tissue perfusion. In this condition the affected tissue don't receive enough oxygen and nutrients to allow the tissue for function. This ultimately leads to cellular death and may progress to organ failure and finally to whole body failure.

Stages of Shock-

Shock tends to involve three general phases-

(a) Non-Progressive (Initial or Compensated Reversible) Shock:-In the early stage of shock there is activation of compensatory mechanism, which maintain adequate blood flow in heart and brain and to maintain cardiac output and blood pressure. These compensatory mechanism are-

Due to decrease perfusion from heart and brain, baro receptors are stimulated that leads to increased sympathetic discharge and catecholamines release with reduced vagal activity. This will cause vaso constriction and due to constriction extremities become cool and clammy and tachycardia.

(b) Progressive (Decompensated reversible) Shock:-Due to continued tissue hypoxia, aerobic respiration replaced by anaerobic glycolysis that leads to formation of lactic acid- which decrease the ph of blood. Acidosis (pH↓) obstruct the venoconstrictor effect

of catecholamine→venodilatation→pooling of blood in peripheral veins, As there is arteriolar constriction (↑peripheral resistance) and venodilatation (↓venous return)→cardiac output is decreased.

(c) Irreversible Shock-Unless there is intervention in previous stage, the process enters in an irreversible stage in which there is multiple organ damage.

ऊत्तकों में रक्त परिवहन पर्याप्त रूप से नहीं होने के कारण वहाँ ऑक्सीजन व पोषण का अभाव होने लगता है। जिससे कुछ समय पश्चात् वह ऊत्तक व उससे निर्मित अंग नष्ट हो जाते हैं।

Shock की प्रारम्भिक अवस्था में होने वाली क्षति को पूर्ण रूप से ठीक किया जाता है। अत: कोशिकायें Shock के बाद भी अपनी सामान्य अवस्था को प्राप्त कर लेती है यह अवस्था Non progressive या Intialshock या Irreversible shock कहा जाता है।

Common Type of Shock-

(1) Hypovolemic Shock-It is a most common type of shock due to decreased blood volume from any cause like loss of blood or plasma.

Grading of Hypovolemic Shock-

Mild Hypovolemia-When volume loss is less than 20% There is generally mild tachycardia but relatively few external signs.

Moderate Hypovolemia-When volume loss is less than 20% Normal blood pressure is maintained in supine position, but there is postural hypotension and tachycardia in erect posture.

Severe Hypovolemia-When volume loss > 40% The classical signs of shock appear i.e., marked tachycardia, hypotension, disorientation.

(2) Cardiogenic Shock-Due to inadequate pumping action of the heart. Cardiac shock occur when 40% or more of the left ventricle is destroyed.

Characteristics of Cardiogenic Shock-

(a) Evidence of organ hypoperfusion with cold, clammy skin especially on the feet and hands that may be associated with peripheral cyanosis of nail beds.

(b) Oliguria, urine output < 300 ml/24hr.

(c) Left ventricular end-diastolic pressure or more commonly pulmonary capillary wedge pressure>18 mm of Hg.

(d) Evidence of primary cardiac abnormality.

(e) Cardiac index not >1.8L/min per square meter of body surface.

(3) Septic Shock-It is caused by infection. Septic shock is most frequently triggered by gram-positive bacterial infections, followed by gram negative bacteria and fungi.

(4) Neurogenic Shock-It is caused by damage to nervous system that leads to interruption of sympathetic vasomotor input. Neurogenic shock occurs when there is neurological injury as occur in head trauma or high cervical cord injury. Interruption of sympathetic vasomotor input that causes vasodilatation, decreased heart rate and cardiac output and shock.

(5) Anaphylactic Shock-Described in type 1 hypersensitivity.

Haemorrhage

Hemorrhage is the extra vasation of blood due to vessel rupture.

Haemorrhagic Diathesis- An increased tendency to haemorrhage from insignificant injury is seen in wide variety of clinical disorders. Rupture of the large artery or vein is almost always due to vascular injury including trauma, atherosclerosis, inflammation, neoplastic region of vessel wall.

रक्त नाडियों से रक्त का बाहर की ओर स्राव होना सामान्यतया बड़ी धमनियों व सिराओं के आघात लगने पर फट जाने के कारण होता है। यह रक्त स्राव भिन्न-भिन्न आकार में संचित होकर त्वचा पर चिह्न बनाते हैं।

Different Pattern of Haemorrhage-

1. Hematoma- Accumulation of blood within tissue.

2. Petchiae- 1 – 2mm haemorrhages into skin, mucous membrane.

3. Purpura- > 3mm haemorrhages are called purpura

4. Ecchymosis-Larger (>1-2cm) subcutaneous hematoma, these are seen after trauma.

Thrombosis (घनास्त्रता)

Thrombosis is the process of formation of solid mass in circulation from the constituents of flowing blood , the mass itself is called a **thrombus.**

घनास्त्रता रक्त के बहाव में ही स्थित घटकों द्वारा ठोस मांस के गठन की प्रक्रिया घनास्त्रता कहलाती है।

↓

रक्त धमनियों के बाहर रक्त के थक्के का संचय।

रक्त का थक्का बनाने की प्रक्रिया के अन्तर्गत फाइब्रिनोजन को ठोस फाइब्रिन में बदल दिया जाता है। इसे Coagulation cascade कहते हैं। रक्त थक्का निर्माण की प्रक्रिया के दौरान आद्य एन्जाइम को सक्रिया एन्जाइम में बदल दिया जाता है जिससे रक्त के थक्के का निर्माण होता है।

यह दो विभिन्न पथ प्रक्रियाओं के संयोग से ही बनती है।

1. रक्तगुल्म (Haematoma)- It is the extra vascular accumulation of blood clot eg. Into the tissue.

2. Haemostatic Plugs - These are the blood clots formed in healthy individuals at the site of bleeding.

Haemostasis

(रक्त के बहाव को रोकने की सामान्य प्रक्रिया)

Haemostasis is a physiological process commonly referred to as stoppage of bleeding. Thus protecting the integrity of the vascular system after tissue injury. It has several functions.

1. Maintain blood in fluid state (रक्त को तरल रूप में बनाये रखना)

2. Arrest bleeding at the site of injury by formation of haemostatic plug. (रक्त के बहाव को रोकना)

3. Ensure the removal of haemostatic plug when healing complete. (चोट के भर जाने पर रक्त बहाव सामान्य बनाना।)

Difference Between Hemostasis and Thrombosis-

Haemostais	Thrombosis
1. Self limiting Process	1. It is not self limited
2. There is spontaneous resolution of hemostatic plug with subsequent repair of the injury.	2. Thrombotic clot does not under go resolution spontaneously rather it causes obstruction to blood flow.
3. It is formed only after injury	3. It may cause injury

Pathogenesis of Thrombosis-

Formation of blood clot in blood vessel obstruction in blood flow.

Virchow triad factors thrombosis is abnormalities in one or more of abnormalities of following factor

1. Vascular Injury [Endothelial Injury]- More clotting form thrombus. एक या अधिक घटकों में विषमता होने पर थक्का बनाता है, लगातार कोशिकाओं में टूट फूट होने से घनास्त्र का निर्माण होता रहता है।

2. Abnormal Blood Flow- [Stasis] major factor in the development of venous thrombus. More common in edema, ulcer, wound healing etc.

सिरा घनास का मुख्य कारण रक्त का बहाव धीमा होना ही है।

3. Hyper Coagulability of Blood- रक्त में थक्का बनाने की प्रवृत्ति अधिक होना।

Role of different factors in formation of thrombus

1. Role of blood vessels [endothelium]
2. Role of platelets
3. Role of coagulation system
4. Hypercoagulablity of blood
5. Alteration of blood flow

रक्त का थक्का बनाने हेतु रक्तवाहिनिकाओं, प्लेटलेट, रक्त बहाव आदि का योगदान होता है। रक्त केशिकाओं की दिवार रक्त के बहाव को नियन्त्रित रखती है। रक्तकेशिकाओं को आघात लगने पर केशिकाओं का आन्तरिक स्तर क्रियाशील होकर थक्का बनाने में विशेष योगदान देता है। केशिकाओं में आघात लगने से रक्त केशिकायें सिकुड जाती है जिससे रक्त प्रवाह रुक जाता है।

1. Role of Blood Vessels-The integrity of blood vessel wall is important for maintaining normal blood flow. Vascular injury exposes the sub endothelial connective tissue which are thrombogenic and play important role in thrombosis .Injury to vessel wall cause vasoconstriction which help to reduce blood loss.

Endothelial injury is of major significance in the formation of arterial thrombi.

2. Role of Plateletes- In endothelial cell injury platelets play a important role in thrombosis. The sequence of events-

a. Platelet अनावरित sub endothelial collagen से चिपक जाती है।

b. Platelet release reaction- सक्रिय platelet के द्वारा platelet granule का स्राव होता है। यह प्रक्रिया release reaction कहलाती है। It plays important role in the intrinsic pathway of coagulation.

c. Platelet aggregation- प्लेटलेट का एक स्थान पर एकत्रित होना।

3. Role of Coagulation System- Coagulation mechanism is the conversion of plasma fibrinogen into solid mass of fibrin. It is also known as **coagulation cascade.** Coagulation cascade is a series of enzymatic conversion, turning inactive proenzyme into activated enzymes and culminating the formation of thrombin. Thrombin then converts the soluble protein fibrinogen into insoluble fibrous protein fibrin. Coagulation pathway are divided into extrinsic pathway and intrinsic pathway.

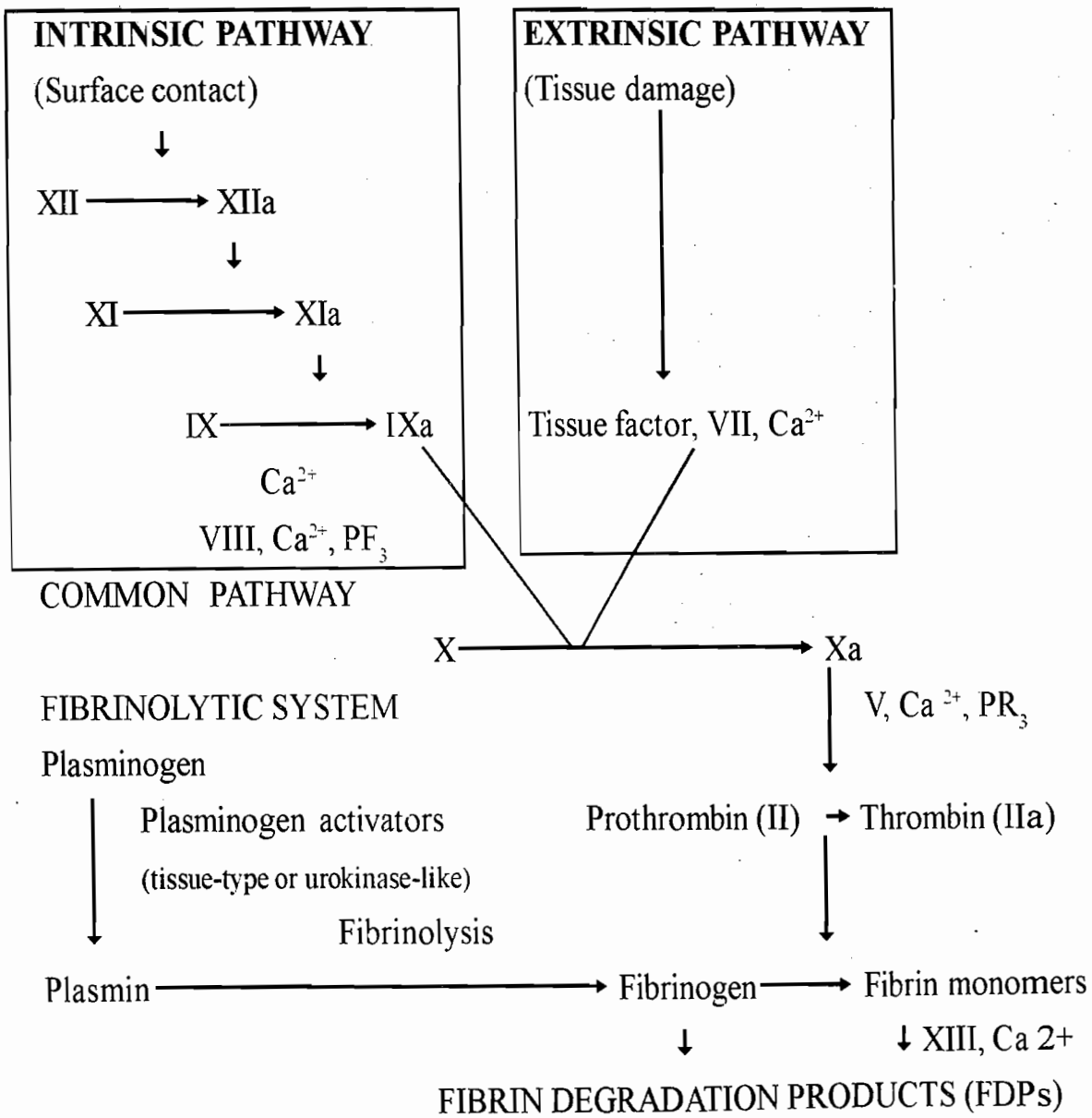

1. Intrinsic Pathway – Activated by factor XII. Other factor which involves are XI, IX, VIII and X.

2. Extrinsic Pathway- Activated by tissue factor. Factor X a occur at the site where the intrinsic and extrinsic pathway coverage oclurs and lead to common pathway of blood coagulation.

List of the Coagulation Factor-

Factor	Synonym		
I	Fibrinogen	II	Prothrombin
III	Tissue thromboplastin	IV	Calcium ions
V	Labile factor [Proaccelerin]	VI	Does not exist, combined with factor V
VII	Stable factor [proconvertin]	VIII	Antihemophilic factor 'A' [AHF]
IX	Plasma thromboplastin component [PTC] or Anti hemophilic factor B or Christmas factor		
X	Stuart factor	XI	Plasma, thromboplastin antecedent
XII	Hageman factor	XIII	Fibrin stabilizing factor

Embolism

An embolism is defined as movement of a detached intravascular solid, liquid or gaseous mass by the blood to a site distant from its origin. More than 95% of emboli are thrombo emboli. The potential consequence of thrombo embolic events is the ischemic necrosis which is known as infarction.

Thrombo Embolism – When the thrombous is completely or partially detached from their site and this part of dislodged thrombous are carried out to various part of vascular tree by blood flow.

किसी अंग विशेष से अन्त: परिसरणीय स्तर से पृथक् किया हुआ ठोस, द्रव, गैसीय द्रव्य अपने उद्भव से चलित होकर किसी अन्य स्थान पर पहुँचकर वहाँ के रक्त परिसंचरण को अवरोधित कर देता है जिससे प्रभावित स्थान पर रक्त अवरोध हो जाता है।

Pulmonary Thrombo Emboli – Most pulmonary emboli (60%- 80%) are clinically silent but sometime they cause sudden death, right heart failure or cardiovascular collapse occurs when 60% or more of the pulmonary circulation is obstructed with emboli.

हृदय में अवरोध होने पर हृदयाघात व फुफ्फुस में अवरोध होने पर मृत्यु भी हो सकती है।

Venous Emboli – Emboli originated from venous thrombi. Venous embolism is usually lodged in pulmonary circulation. Most commonly venous embolism arises from deep vein thrombosis (DVT) of lower limb.

सिरा रक्त में भी एम्बोलाई द्वारा अवरोध उत्पन्न होकर Deep Vein thromboli की स्थिति उत्पन्न होती है।

Systemic Thromboembolism – Most systemic emboli arises from cardiac mural thrombi due to myocardial infraction of left ventricle. Systemic emboli are lodged mostly in arteries of lower limbs (75%) and Brain (10%).

Other less common type of embolism are fat embolism and air embolism.

Ischemia

Ischemia is defined as deficient blood supply to part of a tissue. The cessation of blood supply may be complete (complete ischemia) or partial (Partial ischemia). The harmful effects of ischemia may result from three ways-

1. Hypoxia due to deprivation of oxygen to tissues
2. Inadequate supply of nutrients to the tissue such as glucose and amino acids
3. Inadequate clearance of metabolites resulting in accumulation of metabolic waste products in the affected tissue.

उत्तक विशेष में रक्त संवहन सम्यक् रूप से नहीं होना इश्चेमिया कहलाता है। किसी ऊत्तक में रक्त परिवहन का पूर्ण अवरोध अथवा आंशिक अवरोध हो सकता है। इस रक्त अवरोध के अनेक कारण हो सकते है। जैसे- हृदयाघात, धमनी अवरोध, सिरा अवरोध, मलेरिया रक्त कोशिकाओं का अधिक टूटना आदि कारणों के कारण अंगों में ऑक्सीजन पर्याप्त रूप से नहीं पहुँच पाती है अथवा ऊत्तकों में पर्याप्त पोषण नहीं पहुँच पाता है अथवा उपापचय क्रिया के दौरान बनने वाले हानिकारक पदार्थ ऊत्तकों में ही संचित हो जाते हैं।

Etiology -

1. Causes in the Heart – Due to ischemia few disease are developed like heart block and ventricular arrest.

2. Causes in the Artery – The commonest and most important causes of ischemia are due to obstruction in arterial blood supply

3.Causes in Veins – Blockage of venous drainage may lead to engorgement and obstruction to arterial blood supply resulting in ischemia e.g. Thrombosis of mesenteric veins.

4.Causes in the Microcirculation – Ischemia may result from occlusion of arterioles capillaries and venules. The causes are as under : Sickle cell anaemia, red cells parasitized by malaria, acquired hemolytic anaemia.

The effect of ischemia are variable and range from no change to sudden death. Sometime Ischemia doesnot effect on tissue because the collateral channels develop adequately. Sometime there is functional disturbance develop due to the collateral channel are not adequately supply the blood like in Angina pectoris, Intermittent claudication, Sometime Ischemia completely block the circulation , that cause sudden death eg. Myocardial infarction, and cerebral infarction

Infarction

Mostly it is caused by interrupted blood supply. Nearly 99% of all Infarcts results from thrombotic or embolic events and almost all result from arterial occlusion. Infract caused by venous thrombosis is more likely in organs with a single venous outflow channel, such as in testis and ovary.

धनास्र बनने के कारण रक्त धमनियों में रक्त सम्यक् रूप से प्रवाहित नहीं हो पाता है जिसके परिणामस्वरूप रक्त अवरोध उत्पन्न होता है। धमनियों की तुलना में सिराओं में अवरोध अधिक देखा जाता है।

Type of Infarction –

Infarcts are classified on the basis of their colour. Infarcts are classified into either Red (Haemorrhagic) or white or pale (anaemic) Infarcts, reflecting the mount of haemorrhage.

Red Infarcts (Haemorrhagic) – Occur :

1. With venous occlusions (eg- ovarian torsion)
2. In loose connective tissues (such as lungs)
3. In tissue with dual circulation (eg- Lung and small intestine)
4. In tissue that were previously congested because of sluggish venous out flow
5. When flow is restablished to a site of previous arterial occlusion and necrosis

White or Pale Infarcts – Occur:

1. With arterial occlusion
2. In solid organs e.g. Heart, spleen, liver, kidney and brain where the solidity of tissue limits the amount of hemorrhage.

Immunity

The term 'Immunity' has traditionally referred to the resistence exhibited by the host towards injury caused by micro-organisms and their toxins. Immunity against infectious diseases is of different types.

शरीर का वह तंत्र जो शरीर में जीवाणुओं व अन्य सूक्ष्मजीवों के द्वारा होने वाली बीमारियों से सुरक्षा प्रदान करें।

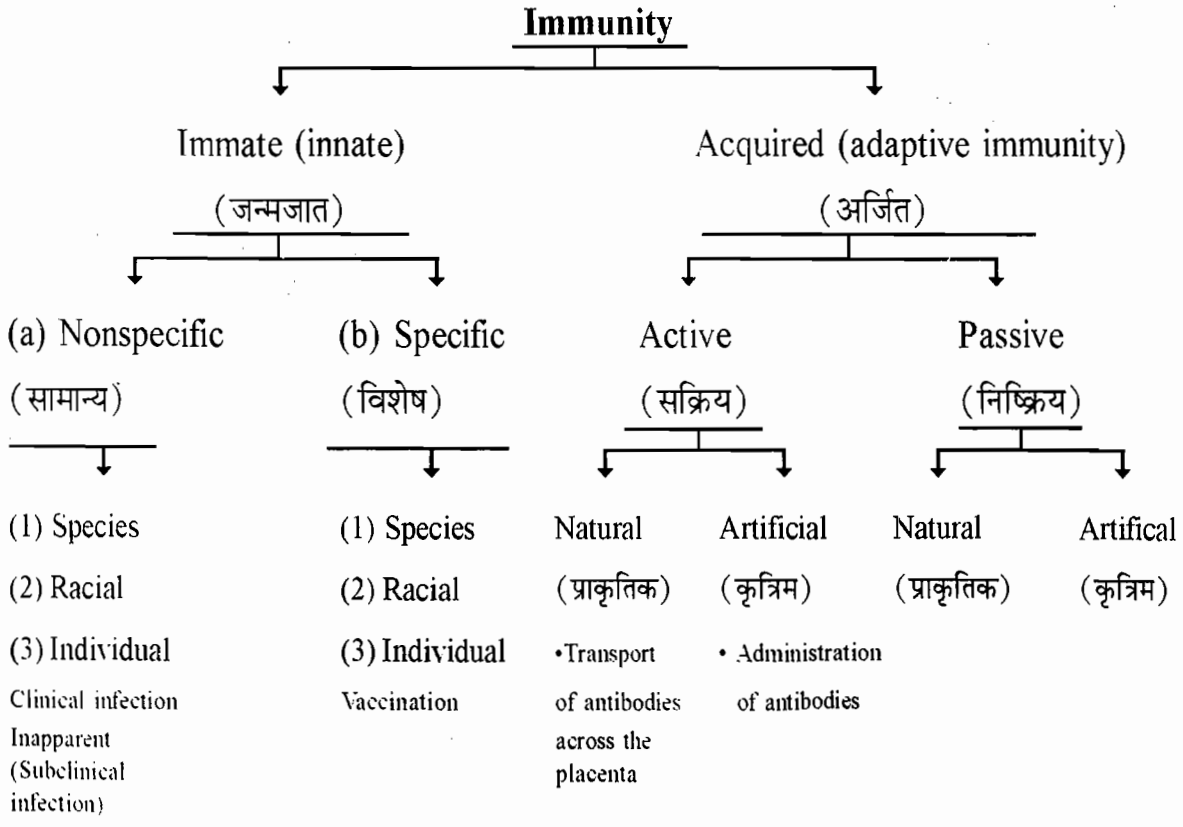

प्रतिरक्षा दो प्रकार की होती है।

1. जन्मजात प्रतिरक्षा (Congenital immunity or innate immunity or non specific immunity)

2. अर्जित प्रतिरक्षा (Adaptive Immunity or specific immunity)

1. जन्मजात प्रतिरक्षा (Congenital immunity or innate immunity or non specific immunity)- जन्म जात प्रतिरक्षा, सहज प्रतिरक्षा एक प्रकार की अविशिष्ट प्रतिरक्षा है, जो-जो जन्म के समय मौजूद होती है। यह प्राथमिक स्तर पर प्रतिरक्षा प्रदान करती है।

Innate immunity consist of four type of barriers.

1. संरचनात्मक घटक (Physical barrier)

(i) यह संरचनात्मक घटक रोग कारकों को शरीर में प्रवेश करने नहीं देते है।

(ii) म्यूकोसा (Mucosa) - भोजन मार्ग, मूत्रमार्ग, व श्वसन मार्ग पर ग्यूकस झिल्ली (Mucous membrane) पायी जाती है। म्यूकस आवरण में दो प्रकार की संरचनाएँ होती है।

(i) म्यूक्स कोशिकाएँ (ii) सिलिया

म्यूकस कोशिकाओं द्वारा स्रावित म्यूकस बहरी आवरण (Membrane) को चिपचिपा बना देता है। जिसके कारण जीवाणु इस झिल्ली (Membrane) से चिपके रहे जाते है। तथा Cillia इन जीवाणुओं को Cilliary movement द्वारा बाहर धकेल देते है।

2. क्रियाविधि से संबधित घटक (Physiological barriers)- शरीर की कुछ क्रियायें जीवाणु की वृद्धि के लिये प्रतिकूल वातावरण बना देती है जिससे जीवाणु की वृद्धि रुक जाती है।

जैसे-

(अ) ज्वर (Fever)- शरीर का ताप जीवाणु की वृद्धि को अवरुद्ध कर देता है।

आमाश्य का pH=1-3 के मध्य में होता है।

योनिमार्ग का pH = 4-5 के मध्य में होता है।

इस प्रकार अम्लीय pH जीवाणु की वृद्धि को रोकता है।

(ब) स्रावण (Secreation)- शारीरिक स्राव जैसे कि आंसू, लार में लाइसोजाइम उपस्थित होता है जो कि जीवाणुओं को नष्ट करता है।

(स) साइटोकाइन रोध (Cytokinine Barrier)

(द) इन्टरफेरान (Interferon)- वाइरस से संक्रमित होने के कारण कोशिकायें ग्लायकोप्रोटीन स्रावित करती है जिसे इन्टरफेरान कहते है। यह लगभग 270 अमीनो अम्ल से बने प्रतिविषाणु प्रोटीन होते है जो वायरस से संक्रमित कोशिकाओं द्वारा स्रावित होते है। यह जातीय विशिष्ट होते है **जैसे**- एक जाति द्वारा उत्पन्न इन्टरफेरॉन समान जाति की कोशिकाओं को ही वाइरस संक्रमण से बचाता है। इन्टरफेरान वायरस संक्रमण के बचाव व उपचार दोनों में काम आते हैं।

3. कोशिकीय घटक (Cellular barriers) - सूक्ष्मजीवों द्वारा संक्रमण के फलस्वरूप शरीर में WBC द्वारा सूक्ष्मजीवों का भक्षण किया जाता है। जिसे फगोसाइटोसिस कहते है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण **फेगोसाइट मेक्रोफेज** और **न्युट्रोफिल** है।

मोनोसाइट संक्रमण के स्थान पर मुक्त होती है और बाद में मेक्रोफेज में परिवर्तित हो जाती है। मेक्रोफेज बडे आकार की कोशिकायें हैं जो संक्रमण करने वाले सूक्ष्मजीवों को निगल जाती है।

4. प्राकृतिक मारक कोशिका (Natural killer cell) - अविशिष्ट (Nospecific) होती है। यह बड़ी कणिकामय लिम्फोसाइट (Large granular lymphocyte) है। यह संक्रमित कोशिका ट्यूमर कोशिका, बाह्यकोशिका, प्रत्यर्पण कोशिका को नष्ट करने के लिये उनकी दिवारों में छिद्र बना लेती है। जल इन छिद्रों के माध्यम से तीव्र गति से प्रवेश करता है जिससे कोशिकायें फूलकर नष्ट हो जाती है।

सम्पूरक तंत्र (Complementary System) यह सामान्यतया अक्रिय होते है। यह यकृत में बनते है यह संख्या में 30 से भी ज्यादा होते है। जब हमारे शरीर में एन्जीटन, एन्टिबॉडी क्रियायें होती है तो यह सक्रिय हो जाती है। यह Inflammation (प्रदाह प्रक्रिया) मास्टर कोशिका (Mast cell) को सक्रिय करती है अर्थात् सूक्ष्मजीवों को आकर्षित कर मारती है।

सम्पूरक तंत्र Complement system

जन्मजात (Innate) तथा उपार्जित (Acquered) दोनों प्रकार की प्रतिरक्षा में भाग लेता है।

उपार्जित प्रतिरक्षा (Acquired or adoptive immunity) यह सूक्ष्म जीवों के शरीर में प्रवेश के बाद उत्पन्न होती है।

2. अर्जित प्रतिरक्षा (Adaptive Immunity or specific immunity)- The resistance that an individual acquires during his life is known as acquired immunity. Acquired immunity is of two types, active and passive.

(a) Active Immunity-This involves the active functioning of the host's immune apparatus leading to the synthesis of antibodies and the production of immunologicaly active cells.

Active immunity sets in only after a latent period which is required for the immunological machinery.

Once developed, active immunity is long-lasting. If an individual who has been actively immunised against an antigen, experiences the same antigen subsequently, the immune response occurs more quickly and abundantly than during the first exposore. This is known as secondary response.

(b) Passive Immunity-The resistance that is transmitted passively to a recipient is a 'readymade' form is know as passive immunity.

- There is no antigenic stimulus; instead, performed antibodies are administered.
- There is no latent period in passive immunity, protection being effective immediately after passive immunization.
- Primary type response occurs in passive immunity. In fact, passive immunity diminishes in effect with repetation. When a foreign antibody is administered second time, it is eliminated more rapidly than initially.

Component of adaptive immune system are

(I) T-cells (II) B-cells

(I) T-cells-Lymphocytes formed in thymus are called Thymus dependend Lymphocytes or T-cells. T.cells precursor form by the yolksac, fetal liver and bone marrow, migrate to the thymus during the embryonic stage. T-cells are classified according to their surface markers target cells and functions.

T-cells

Helper/Inducer Supressor Cytolytic/cytotoxic Memory cells

(i) T-helper Cell - With CD4 surface marker, MHC class II restriction

- Stimulates and promote the growth of T-cells and marophages.
- It is identified in 2 sub states TH 1 & TH 2

TH1 Activate macrophages

TH2 stimulate B-cells to form antibody.

(ii) Supressor T-cells-CD8 surface marker, MHC class I restriction

It supresses immune system.

(iii) Cytotoxic/Cytolytic T-cells-with CD8 surface marker MHC class I restriction

These can kill and lyse target cells including tumour cells.

(iv) Memory Cells -Provide memory and anamnestic immune response

(II) B-cells-

- B-cells are part of adaptive immunity.
- Constitute 10% to 20% of the circulating peripheral lymphocytes.
- B-cells originate as well as mature in bone-marrow.
- B-cells recognize antigen via the B-cells antigen receptor complex.
- Ig M and Ig D, present on the surface of all B-cells, constitute the antigen binding component of B-cell receptor complex.
- After antigenic stimulation, B-cells form plasma cells that secreat immunoglobulin.

Plasma Cells-

- Plasma cells are the antibody secreating cells.
- On contact with its appropriate antigen, the mature B-cells undergoes clonal proliferation, the majority of activated B-cells are transformed into plasma cells and secrete antibodies.

Antibodies-These are a group of a proteins (immunoglobulins) and five major types present in normal adult are IgA, IgD, IgE, IgG and IgM.

IgA-Provides mucous membrane surface protection, it helps to protect especially against respiratory tract infections.

IgD-It has been found on the surface of the B-Lymphocyles in cord blood.

IgE-It is the main antibody involved in immediate type hyper sensitivity, anaphylactic reactions.

IgG-This is the main circulating antibody in the blood (80% of the total immunoglobulins)

- It is capable of passing from blood into tissue spaces.
- It is the only, type of immunoglobulin that can cross the placenta. from mother to foetus.

IgM.-It provides the early circulating antibody response to infection.

It is the main antibody involves in agglutination reactions.

Immune Response-

Adaptive immune response can be of two types

(1) Humoral (antibody mediated)

(2) Cellular (cell mediated)

(1) Humoral or Antibody Mediated Immunity (AMI)- It provides primary defence against most extra cellular bacterial pathogens helps in defence against viruses that infect through the respiratory or intestinal tracts, prevents recurrence of virus infections and participates in the pathogenesis of immediates (type 1,2 and 3) hypertensitivity and certain autoimmune diseases.

Mechanism of Humoral (Antibody Mediated Immunity)

Antibody synthesis typically involve the cooperation of 3 cells

1. Macro phages 2. Helper T-cell 3. B-cells

Antigen Enter in body

↓

Processed by Macro phages

↓

Fragments of Antigen appear on surface of macrophage in association with class II MHC (Major Histocompatibility protein)

↓

These Molecules bind to specific receptor on T helper cell surface

↓

Activate B-cells

↓

Plasma cell activated

↓

Antibody Formation

2. Cells Mediated Immunity (CMI) -Protect against fungi, Viruses, Participates in the rejection of homograft, provide immunity against cancer and mediate the pathogenesis of delayed (type 4) hypersensitibity and certain autoimmune disease.

Mechanism of Cell Mediated Immunity

Microorgainism Enters the Body

↓

Macrophage ingest this antigen & break the microorganism

↓

Fragments of antigen appear on the surface of macrophages in association with classII MHC

↓

Cytotoxic t-cell activated (CD8+)

↓

Activate cytotoxic cell

↓

kill virus infected cell

↓

React with antigen specific receptor of T helper cell (CD 4+)

Inhibit Intracellular bacteria & fungi

MHC (Major histocompatiblity complex and transplantation)

Diseases of Immune system

The disease of the immune system are broadly classified into the following 4 groups.

I. Immunodeficiency disorders

II. Hypersensitivity reactions

III. Autoimmune diseases

IV. Possible immune disorders

I. Immumo Deficiency Disease-

Failure or deficiency of immune system, which normally plays a protective role against infections, manifests by occurrence of repeated infections in an individual having immunodeficiency disease.

A. Primary Immunodeficiencies - these are usually the result of genetic or developmental abnormality of the immune system.

B. Secondary Immunodeficiencies - arises from acquired suppression of the immune system.

Most common immuno deficiency disorders are described-

Acquired Immuno Deficiency Syndrome (AIDS)

Etiologic Agent-

HIV (Human Immuno Deficiency Virus) - It is an RNA virus there are two types of HIV, the most common HIV 1 and a more recently recognized HIV2 virus. The virus has the unique ability to destroy Human T4 Helper cells.

Mode of Transmission-

(i) Sexual transmission by vaginal and oral sex. Anal intercourse carries a higher risk of transmission than vaginal intercourse because it is more likely to injure tissues of the receptive partner.

(ii) By transfusion of blood, platelets, coagulation factors etc which is contaminated by HIV.

(iii) By contaminated needles, syringes or any other skin piercing Instruments.

(iv) From mother to child by transplacental transmission.

Incubation Period-It is uncertain and may be few months to 10 years or even more.

Clinical Features-are divided in two group

(i) Major Signs Include-

(a) Weight loss of > 10% of body weight.

(b) Chronic diarrhoea of > 1 month's duration, and

(c) Prolonged fever (intermittent or continuous) for > 1 month.

(ii) Minor Signs are-

(i) Recurrent oropharyngeal candidiasis

(ii) Persistent generalised lymphadenopathy

(iii) Persistent cough for> one month

(iv) Generalised pruritic dermatitis

(v) recerrent herpes zoster and

(vi) Progressive disseminated herpes simplex infection.

Laboratory Diagnosis of AIDS-The investigations of a suspected case of AIDS include initial testing for antibodies against HIV by ELISA and confirmation by western blot or immunofluorescence test.

The various laboratory tests currently used in research and clinical laboratories are catergorised into 2 groups.

1. Specific Tests-

(i) Serologic tests by ELISA, western blot and immunofluoresence test.

(ii) Antigen detection tests using envelope and core proteins of HIV by recombinant DNA techniques.

(iii) Virus isolation (iv) Polymerase chain reaction (PCR)

2. Indirect Tests-

(i) CD4 and CD8 cell counts. : CD_4 have greater number

(ii) Lymphopenia

(iii) Lymph node biopsy

(iv) Platelet count reduced - thrombocytopenia

(v) Increased B-2 microglobulin levels.

II. Hypersensitivity Reaction - (Immunologic tissue injury)

Hypersensitivity is defined as a state of exaggerated immune response to an antigen. The lesions of hypersensitivity (immunologic tissuse injury) are produced due to interaction between antigen and product of the immune response.

Depending upon the rapidity and duration of the immune response, two distimct forms of hypersentivity reactions are recoginised.

1. Immediate Type-the reaction occurs immediatly (within seconds to minutes) Immune response in this type is mediated largely by humoral antibodies. Immediate type of hypersitivity is further of 3 types-Types I, II and III

1. Type-I (Anaphylactic, Atopic) Hypersensitivity-

The response is mediated by humoral antibodies of IgE type.

i. Examples of Systemic Anaphylaxis are

The clinical features of systemic anaphylaxis include itching, erythema, contraction of respiratory bronchioles, diarrhoea, pulmonary oedema, pulmonary haemorrhage, shock and death.

ii. Examples of Local Anaphylaxis-Cutaneous anaphylaxis due to contact of antigen with skin characterised by urticaria, wheal and flare.

2. Type-II (Cytotoxic Reaction)-

Cytotoxic reactions are defined as those reactions which cause injury to the cell by combining humoral antibodies with cell surface antigens, blood cells being affected more commonly.

Three types of mechanisms are involved in mediating cytotoxic reactions.

i. Cytotoxic Antibodies to Blood Cells- Direct cytolysis of blood cells by combining the cells surface antigen with IgG or IgM class antibodies.

Examples of cytotoxicity by this mechanism are

(i) Autoimmune Haemolytic anemia

(ii) Transfusion reactions

(iii) Haemolytic disease of the newborn erythroblastosis foetalis.

ii. Cytotoxic Antibodies to Tissue Components-

(i) Grave's disease (Primary Hyperthyroidism)-Thyroid autoantibody is formed which reacts with the TSH receptor to cause hyper function and proliferation.

(ii) Myasthenia gravis - Antibody to acetyl choline receptors of skeletal muscle

iii. Antibody Dependendent cell Mediated Cytotoxicity (ADCC) - by leucocytes like monocytes, neutrophils, eosinophils.

3. Types III (Immune Complex) Reaction-

Types III reactions result from formation of immune complexes by direct antigen antibody (Ag-Ab) combination as a result of which the complement system has activated causing cell injury.

Two Types of Antigens-

1. Local Arthus Reaction-It is localised inflammatory reaction usually an immune complex vasculitis of skin of an individual with circulating antibody.

2. Systemic Circulating Immune Complex Disease or Serum Sickness-

The steps involved in cell injury by circulating immune complexes are as follows:-

i) After the antigen is introduced into the circulation it initiates formation of antibodies which react with antigen to form circulating **Ag-Ab Complexes.**

ii) These complexes are then deposited at different tissue sites containing basement membrane.

iii) Following deposition of Ag-Ab.

2. Delayed Type-The reaction is slower in onset and developes within 24-48 Hours. It is mainly mediated by celluar response type IV Reaction is the delayed hypersensitivity reaction

some Autoimmune disorders are described

Systemic Lupus Erythamatosus (SLE)

- SLE is an auto immune disease with multi organ involvment
- Usually seen in young female especially of child bearing age.
- It may involve any organ of the body, but characterized by involvement of skin, joints, kidney and serosal, membrane.

Systemic Lupus Erythamatosus Classification Criteria

If 4 or more of the following 11 disorder are present.

1. Malar Rash
2. Discoid Rash
3. Photosensitivity
4. Oralulcer
5. Arthritis
6. Serositis
7. Renal disorder-

(a) >.5g/d proteinuria or (b) >/3+dipstick proteinuria (c) cellular cast

8. Neurological disorder

9. Haematological disorder

(a) Haemolytic anemia (b) Leukopenia (<4000µl) (c) Thrombocy topenia (<100,000µl)

10. Immunological disoder-

(a) Positive LE cell preparation (b) Antibody to native DNA

(d) False-positive serological test for syphilis

11. Positive antinuclear antibodies

4. Types IV Delayed hypersensitivity (T cell - Mediated) reaction-

This tissue injury by T cell mediated immune response without formation of antibodies. This reaction occur about 24 hours after exposure to antigen and the effect is prolonged which may last upto 14 days.

Example of Type IV reaction -

1. Reaction against mycobacterial infection eg- tuberculin reaction, leprosy
2. Reaction against virally infected cells
3. Reaction against malignant cell
4. Reaction against organ transplantation.

III. Autoimmune Disease

-Autoimmunity is the reactivity of the body towards self antigen.

-Normally the immune system does not show any reactivity to self antigen. They are able to discriminate between foreign antigen and host cell. This is called as immune tolerence or self tolerance.

The Autoimmune Disorder may be two type

1. Organ Specific	2. Systemic or Generalized
The immune response is directed against a single organ or tissue	The immune response is widespread in body.
eg.-Hashimato disease	eg.SLE (Systemic lupus erythematosis)
Pernicious anemia	RA (Rheumatoid arthirtis)
IDDM (Insulin dependent diabetes mellitus)	Sjogren syndrome
Myaesthenia gravis	Poly arteritis nodosa (PAN)
Grave disease	
Auto immune hepatitis	
Ulcerative colitis	

Scleroderma-(Progressive Systemic Sclerosis)

- It is chronic disease of unknown etiology, characterized by abnormal accumulation of fibrous tissue in skin & multiple organs.
- Systemic sclerosis is primarily a disease of female.
- The most common age is 30-50 years.
- It is characterized by excessive fibrosis throughout the body.
- The skin is most commonly affected but the GIT, kidney heart, muscle & lungs are also involved.

IV. Possible Immune Disorder-

Amyloidosis-It is referred to a variety of condition in which amyloid protein are abnormaly deposited extra cellularly between the cells in various organ.

Amylon=Starch

Amyloid material consist of fibrin proteins 95%

Sicca Syndrome- (Sjogren Syndrome)

Sjogren syndrome is a chronic disease characterised by

1. dry eyes (Kerato conjunctivities Sicca) an
2. dry mouth (Xero-ostomia)
3. Rheumatoid arthritis.

It resulting from immunological mediated destruction of the lacrymal and salivary gland

Reiter's Syndrome-This syndrome is characterised by triad of these character

(I) Arthritis (II) Conjuctivitis (III) Urethritis

Tumour

Tumour is now equated usually with neoplasm.

New growth is called as NEOPLASM.

- Neoplasm is an abnormal mass of tissue.
- The growth of this abnormal tissue exceeds and it is uncoordinated with the normal tissues.
- This growth persist in some excessive manner even after evoking stimuli is no more there.

Cancer-It is the common term used for all malignant tumors. cancer word derived from Crab.

Because a cancer adhere to any part that it seizes. upon in an obstinate manner like a crab. Benign & malignant term used for different types of neoplasm

1. Benign-Mild or nonprogressive illness. This term is used most commonly for non malignant neoplasm.

2. Malignant-Severe and progressively worsening disease. The term most commonly used for not self limited growth. All tumour, benign or malignant have two basic components-

1. Proliferative neoplastic cells-That constitute parenchyma.

2. Supportive stroma-made up of connective tissue and blood vessels.

Nomenclature & Classification

The name of tumour is usually based on the cell

e.g - Smooth muscle cell tumour - Leiomyoma or leiomyosarcoma.

- Skeletal muscle cell tumour - Rhabdo-myosarcoma.

1. Bengin-In general, Benign tumour are designated by attaching the suffix "Oma" to the cell of origin.

- Tumour of mesenchymal cells follow this rule.
- Benign tumour of fibroblastic cell called as fibroma
- Adenoma-is the term applied to a benign epithelial neoplasm.

2. Malignant- Malignant tumours arising in **mesenchymal cell origin** are usually called **sarcoma** eg - Fibrosarcoma, liposarcoma.

Malignent tumours of **epithelial cell** origin are called **carcinoma.**

Carcinoma may be further classified-

- Glandular growth pattern- known as adenocarcinoma
- Squamous cell of epitheium - known as squamous cell carcinoima

Some other Common Neoplasm are-

Teratoma-It is made up of a variety of parenchymal cell types representative of all three germ layer.

Majority of neoplasm can be categorized morphologically into benign and malignant on the basis of certain charecteristic of these characters are.

1. According to Macroscopic Feature-

(a) Benign Tumours - are generally spherical or ovoid in shape. They are encapsulated or well circumscribed freely movable, more often firm and uniform.

(b) Malignant Tumour-They are usually irregular in shape. Poorly circumscribed and extent into the adjacent tissue. Secondary changes like haemorrhage. infarction and ulceration are seen more often.

2. According to Microscopic Features-

The neoplastic cell is characterized by morphologic and functional alteration. These are two type

(i) Differentiation

(ii) Anaplasia

- Benign tumours and low grade malignant tumours are well differentiated
- Malignant tumours are undifferentiated or poorly differentiated.

Anaplasia is a lack of differentiation and it is also charecterstic features of most malignant tumours.

Differentiation refers to the extent to which neoplastic cells resemble comparable to normal cells, both morphologically and functionally well differentiated cells resemble to normal cells.

Undifferentited Cells do not resemble at all

Poorly Differentiated-Partially resemble to normal cells

Dysplasia-Disordered growth with lack of uniformity of individual cells.

3. According to Growth Rate- Benign tumours grow slowly and malignant tumour rapidly.

4. According to Local Invasion -Benign tumours form encapsulated or circumscribed masses that push the surounding normal tissue without actually invading infiltrating or metastasis

Malignant tumours-They are distinguished by benign tumour by infiltration, and destruction of the surrounding tissue, cancer spread through tissue space, lymphatic blood vessels

5. According to Metastasis-Meta=transfor mation, **stasis**= residence.

- Metastasis is the spread and growth of malignant cells to produce secondry neoplasm at a site distant from and discontinuous with the primary neoplasm.
- Metastasis is the most important features to distinguish malignant from benign tumours.
- Benign tumour do not metastise while all malignant tumours can metastise (Few exception like glioma of the central nervous system & basal cell carinoma of the skin)

Contrasting features of Benign & malignant tumour

(I) Macroscopic features	Benign (Diffrentiated)	Malignant (Undifferentiated)
1. **Boundaries**	Encapsulated or well circum scribed	Poorly-circum-scribed and irregular
2. Surrounding tissue	Often compressed	Usually invaded
3. Size	Usually small	often larger
4. Secondary changes like invasion	Occur less often	Occur more often
(II) Microscopic features		
1. Pattern	Usually resembles the tissue of origin closely	often poor resemblance to tissue of origin
2. Based polarity	Retained	Often last
3. Pleomorphism	Usually not present	Often present
4. Nucleo cytoplasmic ratio	Normal	increased
5. Hyper chromatism	Absent	Often present
6. Mitosis	May be present but always typical mitosis	Mitotic figures increased and are generally atypical and abnormal.
7. Cytoplasm	May show normal constituents	Normal cytoplasmic elements are reduced or lost
8. Function	Usually well maintained	May be retained, lost or become abnormal
III Growth rate	Usually slow	Usually Rapid
IV Local invasion	Often compresses the surrounding tissue without invading or infiltrating them	Usually infiltrates and invades the adjacent tissues.
V Metastasis	Absent	Frequently present

- **Polarity**-It means orientation and organization of cells in a tissue; i.e. correct positioning of cells in a tissue
- **Pleomorphism-**
- Pleomorphism is variation in size and shape.
- It may occur in cells or/and nuclei.

Hyperchromatasia-

- Nuclei contain an abundance of DNA and are extremely dark staining-hyper chromatic nuclei. Cancer is detected early by tumour marker.

Tumour Markers- A tumour marker is a substance produced by a tumour, that can be used to differentiate a tumour from normal tissue or to determine the presence of a tumour. like

Enzymes	Type of Cancer
1. Alkalime phosphatase (ALP)	Evaluating metastatic cancer with bone or liver involvement.
2. γ-Fetoprotein (AFP)	Hepatocellular and germcell carcinoma.
3. CA 15-3	Breast carcinoma
4. CA 125	Orarian & endometrial carcinoma.

Nutritional Disorder

Introduction

Food is essential for life Ideal food is known as balanced diet.

Balanced diet-A diet adequate in

(1) Energy providing substances (carbohydrates & fats)

(2) Tissue building compounds (Proteins),

(3) Inorganic chemicals (Water & mineral salts)

(4) Agents that cause physiological process such as bulk for promoting peristaltic movement of digestive tract.

So according to nutrients in diet, can be grouped into essential and nonessential.

1. Essential nutrients 2. Non essential nutrients

Essential Nutrients-These are 6 Basic groups of essential nutrients. These are as under.

1. Proteins - Dietary proteins provide the body with amino acids for endogenous protein synthesis and are also a metabolic fuel for energy (1 gm of protein provides 4 k.cal.)

2. Fats - fat and fatty acids should comprise about 35% of diet.

3. Carbohydrates - Dietary carbohydrates are the major source of dietary calories (1 gm of carbohydrate provides 4 k. cal)

4. Vitamins-These are mainly derived from exogenous dietary sources and are essential for maintaining the normal structure and function of cells.

5. Minerals-A number of minerals like iron, calcium phosphorus and certain trace elements are essential for Health.

6. Water-Water intake is essential to cover the loss in feces, urine, expiration and insensible loss so as to avoid under or over-hydration.

Non-Essential nutrients-Dietary fibre composed to cellulose, hemicellulose and pectin considered non-essential.

Pathogenesis of Nutrition Deficiency Diseases-

The nutritional dificiency disease develops when the essential nutrients are not provided to the cells adequately. The nutritional deficiency may be of 2 types.

1. Primary deficiency (Dietary deficiency) -This is due to either the lack or decreased amount of essential nutrients in diet.

2. Secondary or conditioned deficiency-Secondary or conditioned deficiency is malnutrition occurring as a result of the various factors.

(i) Interference with ingestion e.g. anorexia, food allergy,

(ii) Interference with absorption e.g. Hypermotility of the gut

(iii) Interference with utilisation e.g liver dysfunction, hypothyroidism.

Nutritional disease consist some disease like

(1) Nutritional imbalance (eg. obesity)

(2) Multiple or mixed deficiencies (eg. starvation, protein energy malnutrition)

Obesity

Dietary imbalance and overnutrition may lead to disease like obesity.

Risk factor

(i) over eating

(ii) inactivity and sedentary life style

(iii) diets largely derived from carbohydrates and fats and protein-rich diet.

(iv) Secondary obesity may result from number of underlying disease-Hypothyroidism, cushing's disease etc.

Metabolic changes develop due to obesity

(i) Hyperinsulinemia - Increased insulin secretion is the feature of obesity. Many obese patients exhibit hyperglycemia or frank diabetes despite hyperinsulinemia.

(2) Non-insulin dependent diabetes- there is a strong association of non-insulin dependent diabetes mellitus with obesity.

(3) Hypertension

(4) Hyperlipoproteinaemia -The plasma cholestrol circulates into the blood as low density lipoprotein (LDL) containing most of the circulating triglycerides. obesity is strongly assoiated with VLDL and mildly with LDL. Total blood cholestrol levels are also elevated in obesity.

(5) Atherosclerosis - Obesity predisposes to development of atheroselerosis.

(6) Coronoary artery disease and stroke - As a result of atherosclerosis and hypertension

(7) Cholelithiasis-There is six times higher incidence of gallstones in obese persons.

(8) Osteoarthritis -These individuals are more prone to develop degenerative joint disease.

(9) Cancer-Certain cancers such as endometrioma and breast cancer seems to be related with obesity.

Starvation

- Starvation is a state of overall deprivation of nutrients.
- Starved individual has lax, dry skin, wasted muscles and atrophy of internal organs.
- Body responds to reduced energy intake by burning fat reserve and consuming muscle and other tissue.
- The body burns fat after prolonged period of starvation.
- The body surce will utilize the proteins within muscle tissue as a fuel.

Protein-Energy malnutrition-The spectrum of clinical syndromes produced as a result of PEM includes the following

(i) Kwashiorkor - It is related to protein deficiency though calorie intake may be sufficient.

(ii) Marasmus is the starvation in infants occurring due to overall lack of calories.

Feature	Kwashiorkar	Marasmus
Defination	• Protein deficiency with sufficient calories intake	• Starvation in infants with overall lack of calories
Clinical features	• Occur in children between 6 month and 3 year of age	• Common in infants under 1 year of age
	• Growth failure	• Growth failure
	• Wasting of museles but preserved adipose tissues	• Wasting of all tissues including muscles and adipose tissues
	• **Edema present, localised or generalised present**	• **Edema absent**
	• Flag sign-Alternate bands of light (depigmented) and dark (Pigmented) hair	• No hepatic enlargement
		• Serum proteins low
		• Anemia present,
		• Monkey like face
		• Protruberant abdomen
		• Thin limbs
Morphology-	• Enlarged fatty liver	• No fatty liver

Disorders of Vitamins

Vitamins are organic substances which cannot be synthesised within the body and are essential for maintenance of normal structure and function of cells.

Vitamins are conventionally divided into 2 groups.

1. Fat Soluble Vitamins - These are vitamin A, D, E, and K. They are absorbed from intestine in the presence of bilesalts and intact pancreatic function their deficiencies occur more readily due to conditioning factors (Secondary deficiency)

2. Water Soluble Vitamins are vitamin C and B complex group. These vitamins are more readily absorbed from small intestine. Deficiency of these vitamins is mainly due to primary (dietary factors).

I. Fat Soluble Vitamins-

Vitamin A (Retinol)

lesion in vitamin A deficiency-

(1) Ocular Lesions - lesions in the eyes are most obvious night blindness is usually the first sign of vitamin 'A' deficiency corneal ulcers may occur which may get infected and cause kerato malacia, Bitot's spots may appear which are focal triangular areas of opacities due to accumulation of keratinised epithelium.

(2) Cutaneous Lesions -The skin develops papular lesions giving **toad like appearance (xeroderma)** this is due to follicular Hyperkeratosis and keratin plugging in the sebaceous glands

Vitamin D (Calciferol)-

Physiology-This fat-soluble vitamin exists in 2 activated sterol forms.

- Vitamin D_2 or calciferol; and
- Vitamin D_3 or cholecalciferol

SKIN

7 dehydro cholesterol

↓ u.v. light

vitamin D3

DIET

Vitamin D2, D3

↓

Absorbed in small intestine

↓

vitamin D in blood

↓ 25-hydroxylase (in liver)

25-Hydroxy vitamin D

↓ 1-α-hydroxylase (in kidney)

1, 25-dihydroxy vitamin D

(Calcitriol)

Deficiency of Vitamin D - Results in

1. Rickets in growing children 2. Osteomalacia in adults and

3. Hypocalcaemic tetany due to neuromuscular dysfunction Rickets occur in growing children from 6 months to 2 years of age.

Rickets

Skeletal Changes-

(i) Craniotabes is the earliest bony lesion occuring due to small round unossified areas in the membranous. bones of the skull, disappearing with in 12 months of birth the skull looks square and box like.

(ii) Harrison's sulcus appears due to indrawing of soft ribs on inspiration.

(iii) Rachitic rosary is a deformity of chest due to cartilaginous overgrowth at costochondral junction.

(iv) Pigeon-chest deformity is the anterior protrusion of sternum due to action of respiratory muscles.

(v) Bow legs occur in ambulatory children due to weak bones of lower legs.

(vi) Knock knees may occur due to enlarged ends of the femur tibia and fibula.

(vii) Lower epiphyses of radius may be enlarged.

(viii) Lumbar lordosis is due to involvement of the spinal cord .

Biochemical Changes-

(i) Lowered levels of active metabolites of vitamin D (25-hydroxy vitamin D and 1, 25-dihydroxy vitamin D)

(ii) Plasma calcium levels are normal or slightly low

(iii) Plasma phosphate levels are lowered.

(iv) Plasma alkaline phosphatase is usually raised due to osteoblastic activity.

Osteomalacia-

Osteomalacia is the adult counter part of rickets in which there is failure of mineralisation of the osteoid matrix.

Clinical Features-Osteomalacia is characterised by

(i) Muscular weakness

(ii) Vague bony pains

(iii) Fractures following trivial trauma

(iv) Incomplete or green-stick fractures, and

(v) Looser's zones or pseudo fractures at weak places in bones.

Biochemical Changes-These are

(i) Normal or low serum calcium levels

(ii) Plasma phosphate levels lowered, and

(iii) Raised serum alkaline phosphatase due to increased osteoblastic activity.

Vitamin E- (Tocopherol)-

It is also known as antisterility vitamin or beauty vitamin. this vitamin removes scar & wrinkles from skin.

Deficiency Disease - sterility

Source - egg, meat, cotton, seed oil

Vitamin 'k' (Napthoquinone)-

- It is also known as '**Antihaemorrhagic**' vitamin.
- Essential for synthesise of prothrombin.

Menadiane is the important source of the synthetic vitamin K deficiency disease cause bleeding or delayed blood clotting .

II. Water- Soluble Vitamins-

Vitamin-C (Ascorbic Acid):-

The physiologic functions of vitamin are due to its ability to carry out oxidation-reduction reactions.

Lesion in Vitaminc Deficiency-as a conditioned deficiency results in scurvy. Scurvy are seen more commonly at two peak ages in early childhood and in the very aged. these are as under.

1. Haemorrhagic Diathesis-bleeding is characteristic of scurvy.

2. Skeletal Lesions - deranged formation of osteoid matrix and not deranged mineralisation.

3. Delayed Wound Healing-

- Deranged collagen synthesis
- Poor preservation and maturation of fibroblasts

4. Anaemia - Anaemia is common in scurvy. It may be the result of hemorrhage interference with formation of folic acid or derange iron metabolism.

5. Lesions in Teeth and Gums-The gums are soft and swollen, may bleed readily and get infected commonly.

6. Skin rash-Hyperkeratotic and follicular rash may occur in scruvy.

Vitamin B Complex:-

The principal members of vitamin B Complex are thiamine (vitamin B1), riboflavin (vitamin B2) niacin (nicotinic acid), pyridoxine (vitamin B6) folate (folic acid) and cyanocobalamin (vitamin B12). Two other compounds-biotin and pantothenic acid, are also considered components of vitamin B complex.

Thiamine (Vitamin B_1):-

The main physiologic function of thiamine is in carbohydrate metabolism.

Thiamine Deficency -Leads to failure of complete combustion of carbohydrate and accumulation of pyruvic acid. This results in beri-beri which produces lesion at 3 target tissues.

- Dry beri-beri (Peripheral neuritis)
- Wet beri-beri (Cardiac manifestations) and
- Cerebral beri-beri (Wernicke korsakoff's syntrome)

1. Dry Beri-Beri (Peripheral Neuritis) -Weakness, paraesthesia and sensory loss. The nerves show polyneuritis mylein degeneration and fragmentation of axons.

2. Wet Beri-Beri (Cardiac Manifestations) - Characterised by cardio vascular involvement

3. Cerebral Beri-Beri (Wernicke-korsakoff's Syndrome) - Wernicke's encephalopathy occurs more often due to conditioned deficiencies such as in chronic alcoholism.

Riboflavin (Vitamin B_2)-

Riboflavin Deficiency:-

1. Ocular lesions consist of conjunctivitis, interstitial keratitis and corneal ulcers
2. Cheilosis and angular stomatitis
3. Glossitis
4. Skin changes, scaly dermatitis

Niacin (Nicotinic Acid) -

Niacin Deficiency- deficiency of niacin causes pellagra, so named because of the rough skin of such patients

1. Dermatitis -The sun exposed areas of skin develop erythema resembling sunburn.

2. Diarrhoea -lesions similar to those seen in skin may develop in mucous membrane of the alimentary tract resulting in glossitis, lesions in mouth, oesophagous stomach and colon and cause diarrhoea, nausea, vomiting and burning sensation

3. Dementia - Degeneration of neurons of the brain and spinal tract results.

Pyridoxine (Vitamin B_6):-

The major physiologic functions of pyridoxine are related to

- Fat metabolism
- Protein metabolism
- Amino acid metabolism such as decarboxylation of amino acids.

Pyridoxine Deficiency:-

Vitamin B6 deficiency may result from inadequate dietary intake the lesions of pyridoxine deficiency are vague

1. Convulsions in infants born
2. Dermatitis
3. Cheilosis
4. Glossitis
5. Sideroblastic anaemia

Folate (Folic Acid) and Cyanocobalamine (Vitamine B_{12})-

Uitamine B_{12} are formed by two coenzyme

1. Methyl cobalamine 2. S-deoxyadenosylcobalamine

Folate is essential building block of DNA, Vit B_{12} is involved in this process. DNA is needed for new red blood cell production.

Lesion of Folicacid & cynocobaline deficiency

1. Extreme tiredness 2. Sore & red tounge
3. Depression 4. Paralsthesia
5. Problem with memory, understanding & judgment.

Trace Elements & their defecency disease

(i) Iron : Microcytic Hypochromic anaemia

(ii) Copper : Muscle weakness

(iii) Iodine : Goitre and Hypothyroidism

(iv) Zinc : Growth retardation

(v) Selenium : Myopathy, cardiomyopathy

Infection

Infectious disease of man or animals with clinical manifestation resulting from an infection.

Infection-The entry and development or multiplication of an infection agent in the body of man or animals. An infection does not always cause illness.

Chain in Transmission of Infections Diseases-

1) Reservoir of Pathogen-Infection occurs from the source of reservoir of pathogen.

2) Route of Infection-Infection is transmitted from the reservoir to the human being by different routes.

3) Mode of Transmission-The organism may be transmitted directly by physical contact or by fecal contamination or indirectly be fomites (e.g. insect bite)

Factors Relating to Infectious Agents-

i) Mode of Entry-

- Through ingestion - (External route)
- Inoculation - (Parenteral method)
- Inhalation - (Respiration)
- By direct contact - (Contagious infection)

ii) Spread of Infection-Microorganisms after entering the body may spread further through the phagocytic cells.

iii) Production of Toxins- Bacteria liberate toxins which have effects on cell metabolism. Endotoxins are liberated

iv) Virulence of Organisms-Many species and strains of organisms may have varying virulence.

v) Products of Organisms

Method of Indentification-

1. Bacterial-

I) Gram stain : most Bacteria II) Acid fast stain : Mycobacterial nocardia

III) Giemsa-Campylo Bacteria

2. Fungi-

I) Silver stain-Most fungi II) Periodic acids and schiff (PAS) : Most fungi

III) Mucicarmine : Cryptococci

3. Parasites-

I) Giemsa stain : Malaria, leishmania II) Periodic acid-Schiff : Amoebae

III) silver stain-Pneumo cystis

4. All classes Including Viruses-

I) Culture II) In situ hybridisation

III) DNA Analysis IV) Polymerase chain reaction (PCR)

Disease Caused by Bacteria-

	Disease	Etiologic Agent
1.	Typhoid fever	Salmonella typhi
2.	Plague	Yersinia pestis
3.	Gonorrhea	Neisseria gonorrhoea
4.	Tuberculosis	Mycobacterium tuberculosis
5.	Leprosy	Mycobacterium leprae
6.	Lobar pneumonia	Streptococcus pneumonia
7.	Whooping cough	Bordetella pertusis
8.	Tetanus	Clostridium tetani

Some of them discribe here-

Enteric Fever/typhoid Fever-Enteric fever is usually caused by salmonela typhi.

1. Causative organism- Gram negative bacillus. Salmonella typhi a human pathogen which depends on man-to-man transfer for continued existence.

2. Transmission- Main source of transmission is contamination of food and water with faeces from infected patients and carriers.

Pathogenesis-

Following ingestion of S. typhi, the disease process falls into three distinct phases.

Ingestion of S. typhi by Contaminated water or food

↓

Phase-I

Invasion of intestinal lymphoid tissue and proliferation of bacteria this phase lasts for 2 weeks — Asymptomatic

↓

Phase-II

Invasion of blood stream Causing bacteraemia — FEVER TOXAEMIA 'Rose spots' in skin, spleno megaly toxic cardiopathy positive blood culture appearance of antibodies to S. typhi-WIDAL TEST

↓

Phase-III

Localisation of bacteria in intestinal lymphoid tissue, mesenteric nodes gall bladder, liver and sometimes the bones — Intestinal lesions endocarditis meningitis, arthritis, fecal and urine culture positive widal test-raising titres

Incubation Period-10-15 days

Classically there is gradual onset of fever in the first week remittent in second week and falling in third week headache, anorexia, vague abdominal pain, constipation or diarrhoea and dry cough, coated tongue relative bradycardia.

In second week tender hepatomegaly and palpable spleen and signs of bronchitis, meningitis may occur. Rose spots are scanty pink macules, usually on the trunk that blanch on pressure are seen from second week onwards.

	Test	Comments
Ist week	Microbiological tests blood culture	Gold standard test, but sensitivity may be low in endemic areas with high rates of antibiotic use.
IInd week	widal test (tube dilution and slide agglutination)	Classic and inexpensive positive by 10th day. lacks sensitivity and specificity
III week	stool culture	Sensitivity lower and not used routinely
IV week	urine culture	Variable sensitivity

Plague

Epidemielogy-Causative oraganism-gram negative bacilli **yersinia sylla cheopsis**

Vector - flea by louse or bedbug.

Incubation Period-2-4 days

Clinical Feature

1. Bubonic Plague - Commonest variety

(a) Stage of Invasion- Bodyache, mental confusion, bubo appears on second or third day, usually in groin very tender and cellulitis.

(b) Febrile Stage - High remittent fever for 2-5 days, falls suddenly or gradually after 3-9 days. full development of the buboes. suppurate, congested eyes, thready pulse, hemorrhages in later stages. spleen and liver enlarged.

(c) Stage of Recovry -10 day with full of temperature and perspiration bubo continues to enlarge and may burst or suppuration may not occur.

2. Primary Pneumonia-Rigor malaise, vomiting fever, watery blood tinged sputum.

3. Specticemia-Systemic dissemination via blood stream with involvemet of many organs. Hematogenous invasion of lungs results in secondary plague

Laboratory Diagnosis-

1. White Cell Count - leucocytosis with absolute predominance of neutrophils.

2. Detection of Y. Pestis - which is easily recovered from bubo aspirates blood or sputum on culture media.

3. Serology-Haemoaglutinating antibodies appear within one week of onset of illness and specific IgM and IgG be demonstrated by ELISA techniques.

Diseases Caused by Viruses-

Disease	Etiologicagent
1. Rabies	Rabies virus (arboviruses)
2. Small pox (variola)	Variola virus
3. Measles	Measles virus
4. Mumps	Mumps virus
5. Viral respiratory Infections	Adenovirus, rhinovirus
6. Influenza	Influenza virus type A
7. Chicken pox (Varicella)	Varicella zoster virus

Acute Virus Infection-The evolution of a typical acute virus infection can be understood in terms of virus replication, release and spread within the body, and of the host's reaction.

Typical Evolution-

Incubation period — penetration of cell by site of infection → Replication of virus within call — Local symptoms-the common cold, influenza Enteritis (duetoenterovirus)

↓

Local lesion — Cell death liberation of virus → virus sprad to LOCAL LYMPH NODES → Further replication of virus cell death

↓

Overt disease — Liberation of virus in to blood stream — general malaise and fever with lymph node enlargment

↓

Primary viraemia - virus spread by blood to lymphotic tissue generally → further replicaton of virus cell death → Liberation of virus in to blood stream

↓

Secondary viraemia — Virus spread, generally throughout the body with effects seen particularly in organs and tissues which possess specific receptors for particular viruses — specific symptoms referable to organ or tissue damage e.g. poliomyelitis nerve cells, infective hepatitis-livercells, small pox-skincells

Not all virus infections cause disease in this way 2 important variations are.

1. Latent 2. oncogenic

Latent virus infection -A good example is the common 'cold sores' of the lips and face caused by the virus herpes simplex (an enveloped DNA virus)

Initial Infection			**Reactivation**
Mother (with herpes) Kissing infant may →	Result in trivial or unnoticed blister →	virus lies LATENT in cells locally ↓ Not Infectious To other →	At any time non-specific triggering may occur e.g. associated with 'cold' 'flu' sunbathing ↓ Recurrent cold sores infectious to others

Disease Caused by Fungi

Mycetoma-Mycetoma is a chronic suppurative infection involving a limb, shoulder or other tissues and is characterised by draining sinuses.

Disease	**Etiologic Agent**
1. Mycetoma	Madurella mycetomatis
2. Aspergillosis	Aspergillus fumigatus
3. Candidiasis	Candida albicans
4. Superficial mycosis	Microsporum trichophyton

Candidiasis -Candidiasis is an opportunistic fungal infection casued most commonly by candida albicans. Candida species are present as normal flora of the skin and mucocutaneous areas, intestines and vagina.

Superficial Mycosis-Dermatophytes are the most important example of cutaneous mycosis caused by microsporum tricophyton and epidemophyton.

eg:- Tinea capitis pathcy alopecia
Tinea barbae acute folliculites
Tinea corporis dermatitis

Disease Caused by Parasites-

Amoebic Colitis-The most common type of amoebic infection begins as a small area of necrosis of mucosa which may ulcerate.

Amoeboma-Is the inflammatory thickening of the wall of large bowel resembling carcinoma of the colon.

Amoebic Liver Abseess-May be formed by invasion of the radicle of the portal vien by trophozoites.

Other Sites-Where spread of amoebic infection may occur are peritonitis by perforation of amoebic ulcer of colon

Some Infection Caused by Parasites

Disease	Etiologic Agent
(A) protozoal Disease	
Chagas disease	Trypanosoma cruzi
Amoebiasis	entamoeba histolytica
leshmaniasis (kala-azar)	Leishmania donovani
dumdum fever	
Sleeping seekness	Trypanosoma brucei gambiense
Malaria	Plasmodium malari, P. ovale, P. vivax
Malignant malaria	P. falici parum
(B) NEMATODES	
Dracanculiasis	Dracunculus medinensis (Guinea-worm)
Trichinosis	Trichinella spiralis (Trichina worms)
Enterobiasis	Enterobius vermicularis Pinworm/thread worm/sheat worm
Trichuriasis	Trichuris trichuria (whip worm)
Ascariasis	Ascaris lumbricoides (Common round worm)
strongyloidiasis	Strongyloides stercoralis
TREMETODES (Flukes)	
Schistosmiasis	Schistosoma mansoni (Blood flukes)
Fascioliasis	Fasicola hepatica (liver fluke)
Taeniasis	Taenia saginata (Beef tape worm)
Taeniasis/cysticercosis (Pokeworm)	Tinea solium (Cysticercosis)
Hydatid disease	Echinococeus granulosus
c) Helminthic diseases-	
1) Hook worm disease	Enterobius vermicularis
2) Filariasis	Waucheria brancrofti

Filariasis

Wauchereria bancrofti and brugia malayi are respnsible for causing bancroftian and malayan filariasis in different geographic regions.

Acute form of filariasis presents with fever, lymphangitis. lymphadenitis, epididymo-orchitis, urticaria, eosinophilia and microfilariaenia.

Chronic form is characterised by lymphadenopathy and elephantiasis.

Cysticercosis-

Cysticercosis is infection by larval stage of Taenia solium (the pork tapeworm)

Torch Complex- I t consist few infections like :-

T=Toxoplasm C=Cytomegalo virus

R=Rubella O=Others

H= Herpis simplex virus

Microbiology

Introduction:-

The science of microbiology is the study of micro organisms and their activities. It is concerned with their

(1) form (2) Structure

(3) Physiology (4) metabolism

(5) Identification (6) Reproduction .

The micro organisms are classified as protista.

- Kingdom protista are

(1) Bacteria (2) algae

(3) fungi (4) protozoa.

The microorganisms are classified as protista may be further divided into

(a) Prokaryotes; and (b) Eukaryotes.

(A) The Procaryotic Group :-

e.g. (1) Bacteria (2) Rickettsiae

(3) Chlamydiae (4) Mycoplasma

(5) Blue green algae

(B) The Eukaryotic Group:-

e.g. (1) Protozoa (2) Fungi

(3) Algae (Except blue green algae)

Bacteria

Bacteriology is a scientfic study of Bacteria. An understanding of any group of organisms requires their classification.

Basic Features of Bacteria-

(1) Bacterial cell is prokaryotic and contains a high concentration of inorganic ions.

(2) The strong cell wall is made up of mucopeptide polymer

(3) By Gram's technique the organisms are classified as Gram positive or Gram negative.

A. Gram Positive Bacteria:-

The cell wall contains a large amount of peptidoglycan and teichoic acids

B. Gram Negative Bacteria:-

The cell well contains small amount of peptidoglycan

Inclusion bodies are nuclear or cytoplasmic aggregates of stainable substance usually proteineous.

Spore Formation (Sporulation)

Bacillus and clostridium undergo spore formation.

Bacterial capsule - Many bacteria secrete around themselves a thick slimy layer, made up of polysaccharide.

Reproduction of Bacteria-

- Bacteria multiple by binary fission (splitting into two)
- The single piece of doulbe stranded DNA reproduces itself exactly.

Factors Influencing the Growth of Bacteria-

1. Food- The main nutrient requirements are carbon, nitrogen, inorganic salts.

2. Moisture- Moisture is necessary for growth.

3. pH- The majority of microbes prefer to grow at a slightly alkaline pH.

4. Oxygen Requirement-The majority of the bacteria are able to grow in the presence of oxygen and also in the absence of oxygen.

5. Carbon di-oxied-All bacteria require the presence of small amounts of Co_2 for growth.

6. Temperature -Majority of bacteria grow between 25°c and 40°c and are known as mesophilic.

- The thermophillic bacteria grow between 55°c and 80°c

7. Light - Direct sunlight is injurious to bacterial growth. Darkness is favourable for the growth and viability of bacteria.

8. Symbiosis -Symbiosis mean when both host and parasites mutually benefit each other.

Variety of Bacteria-

(1) According to Oxygen Consumption-

(A) Aerobic Bacteria-The organisms which obtain their energy involving oxidative processes are called as aerobes.

(B) Anaerobic Bacteria-The organisms do not use oxygen for growth and metabolism

(2) According to Morphology-

Morphologically the bacteria can be differentiated as follows-

(A) Cocci-(Singular coccus)-These are round or oval bacteria about 0.5 to 1 mm in diameter when multiplying cocci may form pairs (diplococci such as meningococci), chain (strepto cocci) or cocci in irregular groups. (Staphylococci)

(B) Rods (Bacilli)-(Singular rod bacillus)- These are stick like bacteria about 1 to 10 mm in length and 0.3 to 1.0 mm in width. They have rounded, tapered square, or swollen ends.

(C) Vibrios-These bacteria are slighthy curved rods, measuring about 3 to 4 micrometer in length and about 0.5 micrometer in width.

vibrio cholerae-vibrios are gram negative

(D) Spirilla-These are regularly coiled, rigid organisms, about 3 to 4 micrometer in length.

- Spirilla are gram negative.

(E) Spirochaetes- These are flexible and motile organisms.

Spirochaetes can be divided into-

(i) Treponema (ii) Borellia (iii) Leptospira

(3) According to Normal Bacterial Flora of the Body-

(A) Symbionts- They assist in the synthesis of vitamin k.

(B) Commensals-They line on the skin and mucous membrane.

(C) Opportunists

(4) According to toxins-

(A) Endotoxin production-The cell walls of gram negative organisms contain endotoxin and it is released when organism is destroyed. They are lipopolysaccharide in nature they are active in large dose only e.g.- all gram negative bacteria

(B) Exotoxin production - Certain organisms secrete powerful poisons called exotoxins. Important exotoxin producing pathogens are clostridium botulinum, corynebacterium diphtheriae and enterotoxigenic, escherichia coli, vibrio cholerae etc.

Exotoxin are produced extracellularly by both gram negative & gram positive bacteria

Virus

Introduction-

- Viruses are smallest infectious organism (10-400 nm in diameter)
- They contain either deoxy ribonucleic acid (DNA) or ribonucleic acid (RNA) as their genome.
- They are inert in the extracellular enviorment and replicate only in living cells.
- Viruses are obligate intracellular parasite.
- They are heat labile.
- The most characterstic histological features in virus infected cells. is appearence of **inclusion body.** Inclusion bodies are structures with distinct size, shape, location and staining properties.

They may situated in :-

- Cytoplasm **-Poxvirus**
- Nucleus -**Herpes virus**
- Both in cytoplasm & nucleus - **Measles**

Inclusion bodies are generally acidophillic

Viruses with inclusion bodies

Vaccinia virus-**Guarnieri bodies**

Rabies Virus- **Negribodies**

Bacteriophage (Phage)-Bacteriophage are viruses that infect bacteria.

Bacteriophages play an important role in the transmission of genetic information between bacteria by the process of transduction.

Capsomere-Morphologic units (Clustur of polypeptides) on the surface of virus particle seen in electron microscope.

Virion-The complete infective virus particle.

Pathogenesis of Viral Infection

Viruses enter the body through the respiratory and eliementary tracts, skin, conjuctiva and the genital tract.

Many viruses are transmitted vertically from parent to progeny.

Virus Enter in Blood Stream & cause generalized disease

These are the disease in which virus is spread throughout the body via the blood stream and in which multiple organs are affected. Skin rashes may be observed.

These include measles, small pox, chicken pox, rubella, yellow fever etc.

Virus that enter from respiratory tract-

Most important portal of entry for viruses. A large number of viruses are able to infect the cells of this tract.

Small pox and chicken pox are example of such systemic disease in which the portal of entry is the respiratory tract.

- Viruses that cause alimentary tract is the next most important route of entry for virus.

Rhino virus are inactivated by gastric acidity but most of virus are destroyed by enzymes.

Only entero virus, adeno virus, reovirus hepatitis virus and the virus causing gastro enteritis are able to set up intestinal infection.

- **Virus that enter by skin-**
- Only few produce local lesion-e.g. pappiloma,
- Virus enter the skin by abrasion (Pappiloma virus), insect bite (arboviruse), animal bites (Rabies) or injection (Hepatites B)
- **Viruse that enter via conjuctiva-**

This may lead local disease (adeno viruse) or to systemic spread (meales)

- **Virus enter through cenital tract** - HIV

The Commonest forms of virus transmission

1. Food & water (hepatitis A)
2. Via inhaled droplet (Rhinovirus)
3. Direct transfer from other infected host (HIV)
4. Bites of vector arthopod (yellow fever)

Significance of Incubation Period-

The incubation period represents the time taken for the virus to spread from the site of entry to the organs of viral multiplication and thence to the target organs of viral multiplication & hence to the target or organs for the production of lesions.

- The incubation poeriod is short one to three days as in respiratory viral infections and in gastroenteritis. In systemic diseases where virus enters through the respiratory viral infections and in gastro enteritis. In systemic diseases where virus enters through the respiratory or alimentary tract and produces lesions in remote target sites. e.g. the incubation period is longer 10-20 days as in chicken pox or poliomyelitis

Exception-The incubation period in yellow fever or dengue is shorter (5-6 days)

- The incubation period in type 'B' hepatitis may be 2-6 months.
- The incubation period in HIV 5-10 years.

Host Response to Virus Infection

The outcome of a virus infection is influenced by the

1. Virulence of infecting strain
2. The resistance of the host.

Mechanism of Host Resistance-

1. Immunological

2. Nonspecific or Non immunological response

1. Immunological Response -Virions in general are good antigens and induce both humoral and cellular immune responses.

In mediating humoral antiviral inmmunity the important classes of antibodies are IgG, IgM, and IgA, and IgE play a major role in blood and tissue spaces.

Cell mediated immunity is of critical importance in viral infections. The earliest indication of cell mediated immunity in viral infections was the demonstration of delayed hypersensitivity following vaccination in immune individuals.

Some viral infections cause a suppression of the immune response.

1. Measles infection induces a temporary depression of delayed hypersensitivity to tuberculin.

2. Non Immunological Responses-

(a) Phagocytosis-Macrophages phagocytes viruses and are important in clearing viruses from the bloodstream.

(b) Body temperature-Fever may act as natural defence mechainsm against viral infections as most viruses are inhibited by tempratures above 39°c.

(c) Hormones-Corticosteroid administration enhance most viral infections.

(d) Malnutrition-Some viral infections, such as measles, produce a much higher incidence of complications and a higher case fatality rate in malnourished childen.

(e) Age-Most viral infections are commoner and more dangerous at the two extremes of age.

(f) Interferon-Interferon production is a natural defence mechainsm possessed by vertebrate cells against viral infection.

Laboratory Diagnosis of Viral Diseases-

Diagnostic Test can be Grouped into three Categories.

1. Direct Detection -

- Electron microscopy morpholgy of antigen,
- Light microscopy histological appearence of inclusion bodies
- Antigen detection immunofluorescence
- ELISA

2. Indirect Examination(Virus Isolation) - Cell culture etc

3. Serology - RIA [Radioimmune assay), ELISA (Enzyme linked immunosorbent assay, Western Blot, RIBA [Recombinant imunoblot assay)

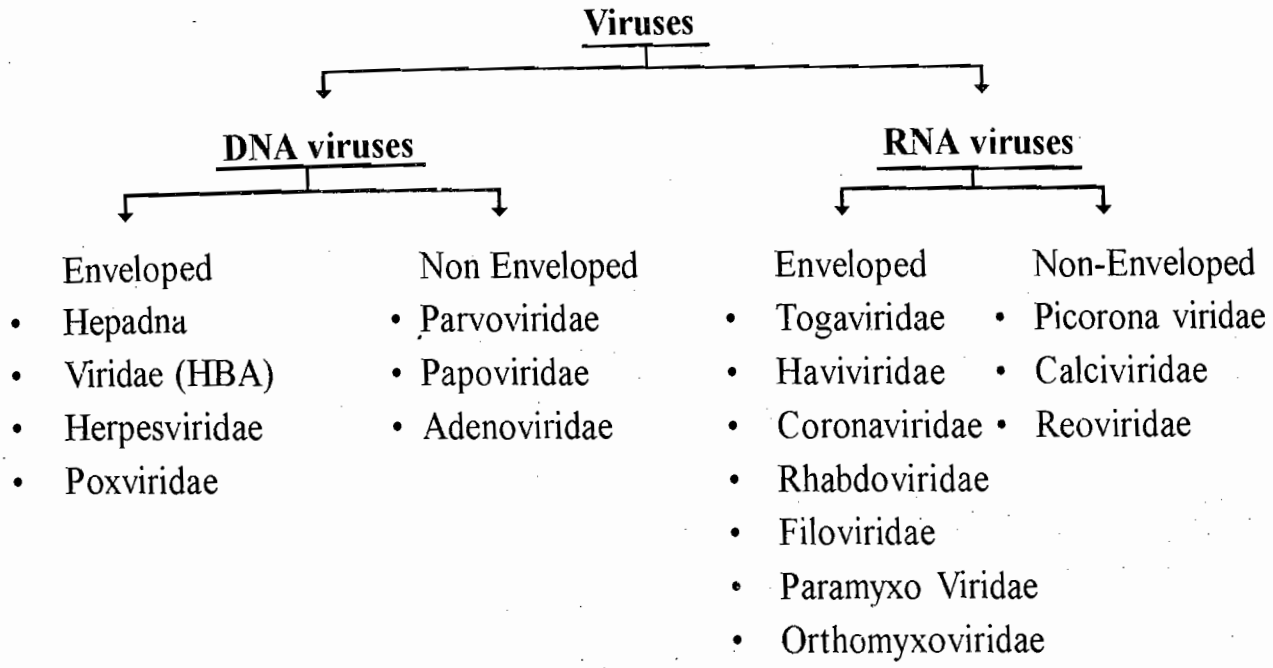

Fungi

- Fungi are saprophytic or parasitic eukaryotic microorganisms, which possess a complex cell structure similar to that of higher organisms.
- Fungus reproduces through sporulation or spore formation. When the spores germinate, they send out tube like projections called germ tubes. There germ tubes lead to the formation of the branching tube like structure called hyphae which may divide by cross walls (septate) or may have no septa (non-septate hyphae). The term mold is used to describe a fungus which produces hyphae.

Depending on cell morphdogy, fungi can be divided into four classes.

1. Yeasts - These are unicellular fungi which occur as spherical or ellipsioidal cells and reproduce by simple buding.

2. Yeast-like Fungi - They grow partly as yeast and partly as elongated cells resembling hyphae. The latter form a pseudomycelium. Candida albicans is a pathogenic yeast-like fungus.

3. Moulds or Filamentous Fungi - It form true mycelia and reproduce by the formation of diffrent types of spores. Dermatophytes are example of pathogenic moulds.

4. Dimorphic Fungi - They can occur as filamentous or as yeasts, depending on the conditions of growth. In host tissues or cultures at 37°c they occur as yeasts, while in the soil and in cultures at 22°c they appear as moulds.

Most fungi causing systemic infections are dimorphic fungi.

- The commonest culture media used in mycology are sabouraud's glucose agar (pH 5.4)
- Fungi are important source of penicillin.
- Sabouraud's agar which contains glucose and beef extract (pH 5.0) has been used because it does not readily support growth of bacteria.

Basic Morphological Classification of Clinically Important Fungi

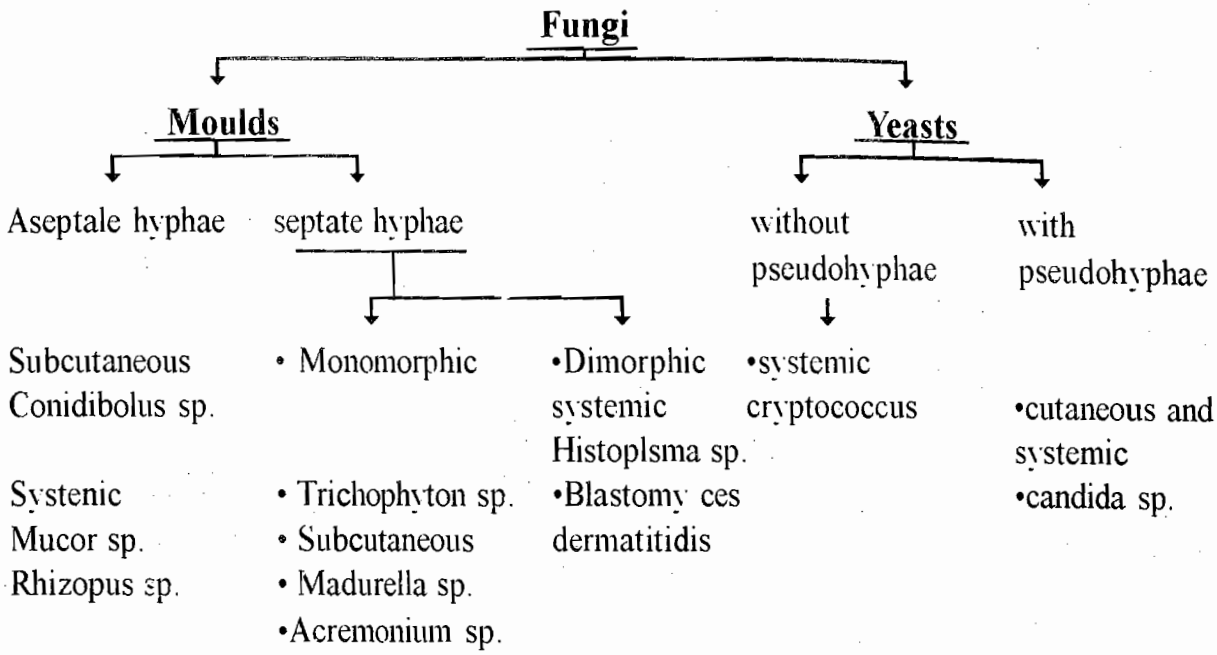

Mycology is the study of fungi. The diseases caused by fungi are called mycoses. Fungi are saprophytic or parasitic eukaryotic micro-organisms. They can be harmful to material needs of humans. Fungi diseases are primarily infections or allergies . The infections may also be caused by eating foodstuffs contaminated by mycotoxins (fungal toxins). They do not caused wide spread or dangerous epidemics but can be a cause of major distability or distress.

1. Superficial Mycoses and Dermatophytes-

These fungi infect nails skin and hair. They are confined to the body surface and do not directly involve living tissues.

a) Microsporum-This causes ringworm infection and invades hair and skin.

b) Trichophyton-This fungal invades skin and nails.

2) Subcutaneous mycosis

3) Intermediate Suberficial deep Mycoses (Cutaneous and Systemic)

The oppustunistic fungi such as candida albicans. Candida albicans is a commensal of the normal gastrointestinal flora, mouth and vagina.

4) Deep or systenic mycosis- They are acquired by inhalation and may spread from lung and involve other parts of the body.

Laboratory Diagnosis of Mycotic Infections-

- Macroscopic examination
- Laboratory culture
- Histo pathological studies
- Direct wet mount microscopic examination
- Biochemical tests

अध्याय-4

निदानपञ्चकविज्ञानम्

रोग एवम् रोगी परीक्षा

आचार्य चरक के अनुसार **''परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति।''**

चिकित्सा करते समय परीक्षा करने के बाद ही जो कार्य किया जाता है वही कुशल अथवा सफल होता हैं।

परीक्षा अर्थात् **परीक्ष्यन्ते व्यवस्थाप्यन्ते वस्तुस्वरूपाणि अनया इति परीक्षा।** जिसके द्वारा वस्तुओं का यथार्थ में ज्ञान होता है।

प्रमाणो के द्वारा विषय का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना परीक्षा कहलाता है।

प्रमाणैरर्थावधारणं परीक्षा। (वात्स्यायन भाष्य)

परीक्षायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। (च. वि. 8/132)

परीक्षा का प्रयोजन प्रतिपति ज्ञान है।

किसी भी रोग का जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र में उत्पत्ति, लक्षण आदि बताया है, उसे उसी प्रकार जानकर व रोग की अवस्था के अनुसार चिकित्सा करने को **प्रतिपत्तिक ज्ञान** कहते हैं। अत: परीक्षा की विभिन्न विधियों के द्वारा रोगी की परीक्षा तथा रोग विशेष की परीक्षा करनी चाहिये जिससे रोग ज्ञान सम्यक् रूप से हो सके तथा इसमें अनन्तर चिकित्सा कार्य सम्भव हो सके किसी भी वैद्य को परीक्षा करने से पूर्व विषय का सम्पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक होता है। आचार्य चरक ने बताया है कि **ज्ञानपूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशला:।**

रोगी परीक्षा का महत्त्व

आतुरस्तु खलु कार्यदेश:। तस्य परीक्षा आयुष: प्रमाणज्ञानहेतोर्वास्यात्, बलदोष प्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियं बलदोष प्रमाण ज्ञानहेतो:, दोषप्रमाणानुरूपो हि भेषज प्रमाणविकल्पो बल प्रमाण विशेषापेक्षो भवति। (च. वि. 8/94)

चिकित्सा रूपी कार्य का देश रोगी का शरीर होता हैं। इसकी परीक्षा आयु का प्रमाण जानने के लिए या रोगी के बल, दोषों के प्रमाणों को जानने के लिए की जाती हैं।

दोषों के प्रमाण या रोगी का बल तथा रोग का बल देखकर ही औषध की मात्रा निश्चित की जाती हैं, क्योंकि सहसा अत्यन्त बलवान औषधि अर्थात् तीक्ष्ण वीर्य व मात्रा में अधिक, यदि दुर्बल व्यक्ति में प्रयुक्त की जायें तो औषध का वीर्य व मात्रा अत्यन्त बलवान होने से रोगी को सहसा मार डालती हैं। इसी प्रकार अल्प बल वाले मनुष्य अति

उष्ण (अग्नि गुण प्रधान), अति रुक्ष (वायु गुण प्रधान) औषधियों या अग्नि, क्षार, शस्त्र कर्म को सहने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि रोगी अत्यन्त क्षीण होने से औषधि के वेगों को सहन नहीं कर सकते है। फलस्वरूप वह औषध रोगी के प्राणों को सहसा नष्ट करने वाला होता हैं। इस प्रकार चिकित्सा की व्यवस्था करने से पूर्व रोग परीक्षा के साथ-साथ रोगी परीक्षा भी महत्त्वपूर्ण होती हैं।

रोग परीक्षा का महत्त्व

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।

यस्तु रोगविज्ञाय कर्माण्यारभते भिषक्। आप्यौषधविधानज्ञस्तस्य सिद्धिर्यदृच्छया।

यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्व भैषज्य कोविदः। देशकालप्रमाणज्ञस्तस्य सिद्धिरसंशयम्।

(च. सू. 20/20-22)

चिकित्सा करते समय सर्वप्रथम रोग की परीक्षा, उसके बाद रोग के अनुसार उचित औषध की परीक्षा करनी चाहिए, तत् पश्चात् वैद्य के लिये उचित हैं कि रोग तथा औषध का सम्यक् ज्ञान हो जाने के पश्चात् ही चिकित्सा कार्य करना चाहिये।

जो वैद्य रोग को ना समझकर चिकित्सा कर्म प्रारम्भ करता है यद्यपि वह औषध विधान को जानता है फिर भी उसकी सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती हैं। जो वैद्य रोगों की विशेष अवस्थाओं को जानता हैं तथा औषधियों के विधान को जानता हैं साथ ही देश, काल के अनुसार रोग के प्रमाण व तद् अनुसार औषध के प्रमाण को जानता है तो चिकित्सा करते समय उसकी सफलता निश्चित रूप से होती हैं।

रोग एवम् रोगी परीक्षा अन्तर

चिकित्सक को चिकित्सा कार्य करने से पूर्व रोग की परीक्षा या रोगी की परीक्षा सम्यक् रूप से करनी चहिए। जिससे साध्य रोग की चिकित्सा की जा सकें एवं याप्य रोगों को भेषज् द्वारा निवारित करें अर्थात् उनसे रोगी को कष्ट ना होने दें। असाध्य एवं एक वर्ष पुराने रोगों की चिकित्सा ना करें।

आचार्य सुश्रुत ने सर्वप्रथम चिकित्सा पूर्व की जाने वाली परीक्षा विधि का वर्णन किया है-

ततो दूतनिमित्तशकुनमङ्गलानुलोम्येनातुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत स्पृशेत्, पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके। तत्तु न सम्यक्, षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः। तद्यथा- पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।। (सु. सू. 10/4)

1. दूत को निमित्त, शकुन और मङ्गल को अनुकूल जानकर आतुरग्रह में प्रवेश करना चाहिए।

2. आतुर के समीप बैठकर आतुर की त्रिविध परीक्षा करनी चाहिए। सर्वप्रथम रोगी को देखना चाहिए। तत् पश्चात् शरीर का स्पर्श करें तथा अन्ततः रोगों के लक्षण एवं वेदना के संदर्भ में प्रश्न करना चाहिए। इस प्रकार रोगी की परीक्षा करने के पश्चात् रोगों को जानने के 6 उपाय होते हैं-

श्रोत्र, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा की परीक्षा करना तथा प्रश्न जो कि रोग ज्ञान के उपाय हैं।

अतः वैद्यः को रोगी के समीप आते ही रोगी की परीक्षा तत् पश्चात् रोग की परीक्षा करनी चाहिए।

	रोग परीक्षा	रोगी परीक्षा
1.	रोग रोगी पर ही आश्रित होता है। अत: रोग परीक्षा आश्रयी परीक्षा हैं।	1. 'आतुरस्तु खलु कार्यदेश:।' आतुर का शरीर चिकित्सा के लिए कार्यकारी स्थान हैं।
2.	रोग ज्ञान के 5 उपाय हैं- निदान पूर्वरूप रूप उपशय सम्प्राप्ति सभी आचार्यों ने एक ही मत से रोग परीक्षा के 5 उपाय बताये हैं।	2. रोगी की परीक्षा की अनेक विधियाँ अलग-अलग आचार्यों ने बतायी हैं- चरकानुसार दशविध परीक्षा, सुश्रुत मतानुसार षड्विध परीक्षा, अष्टांगहृदय के अनुसार चतुर्विध परीक्षा का वर्णन किया गया हैं।
3.	रोग परीक्षा के अन्तर्गत रोगों की विभिन्न अवस्थाओं का अध्ययन किया जाता हैं, जैसे-पूर्वरूप अवस्था में दोष दूष्य समूर्च्छना को जाना जाता है। उपशय द्वारा रोग के गूढ़ लिङ्गो को जाना जाता हैं।	3. रोगी परीक्षा के अन्तर्गत रोगी की अवस्था यथा शारीरिक स्थिति को जानने के लिए शरीर प्रमाण, शरीर संहनन का ज्ञान किया जाता हैं तथा मानसिक अवस्था के ज्ञान के लिये सत्व व सात्म्य का ज्ञान किया जाता है।

निदान पञ्चकम् महत्त्व

निदानं पूर्वरुपाणि रुपाण्युपशयस्तथा। संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम।। (वा. नि. आ. 1)

व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह- निदानमित्यादि। एते पञ्च व्यस्ता समस्ताश्च व्याधिबोधका:। (मधुकोश टीका)

ये निदान आदि पांचों व्यस्त (एकीय) एवं समस्त (सम्मिलित) रूप में व्याधि का ज्ञान कराते हैं अर्थात् इनमें से प्रत्येक (निदान या पूर्वरुप आदि) पृथक्-पृथक् रूप में तथा पांचों एक साथ मिलकर भी व्याधि का बोधन कराते हैं। जिस व्याधि में केवल निदान की उपलब्धि हो अन्यों की न हो वहाँ पर व्यस्त (एकीय) रूप में केवल निदान ही रोगज्ञापक होता हैं। इसी प्रकार उपलब्धि के अनुसार कहीं दो और कहीं तीन, चार या पांचों भी व्याधि के बोधक हो सकते हैं।

निदान आदि पाँचों में से किसी एक के द्वारा व्याधि का ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी अन्य निदान उपायों के द्वारा उसी व्याधि का ज्ञान पुन: किया जाता हैं। इस प्रकार किया हुआ ज्ञान कदापि मिथ्या नहीं होता।

अत: एक उपाय से व्याधि का ज्ञान हो जाने के पश्चात् भी अन्य उपायों को जानना भी परम आवश्यक हैं। इन सभी का प्रयोजन भिन्न होता हैं।

1. निदान पंचक का महत्त्व

पञ्चविध मप्येतद् व्याध्युत्पत्ति ज्ञाप्ति हेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते। (मधुकोश टीका)

तत्र निदानं कारणमिहोच्यते तच्चेह व्याधिजनकं व्याधिबोधकं च, तत्र व्याधिजनकं निदानं हेतु:, व्याधिबोधकं पञ्चकम्। (चरक निदान-1 चक्रपाणि टीका)

निदान रोग के कारणों को कहा जाता हैं। आचार्य मधुकोश टीकाकार के अनुसार निदान शब्द का ग्रहण दो अर्थों में किया जाता हैं -

1. व्याधि उत्पत्ति कारक (Causative Factor of Disease) निदान

2. व्याधि ज्ञानोपाय पञ्च निदान (Diagnosis of Disease) निदान

व्याधिजनक = निदान

व्याधिबोधक = निदान पञ्चक

निदान ज्ञान के निम्न प्रयोजन हैं-

(अ) निदान परिवर्जन हेतु - यदि निदान का वर्णन नहीं किया जाये तो **'संक्षेपः क्रियायोगो निदान परिवर्जन'** के अनुसार सभी व्याधियों की सामान्य चिकित्सा निदान का परित्याग ही हैं। यदि निदान का ज्ञान ही ना होगा तो परित्याग भी सम्भव नहीं होगा।

(ब) रोग निदान में निदान के द्वारा उन्हीं रोगों का ज्ञान किया जा सकता हैं जिन रोगों की उत्पत्ति नियत निदान से होती हैं। यथा मृतिका भक्षण से पाण्डु रोग व मक्षिका भक्षण से वमन होता हैं।

(स) आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः। धातुभिर्विगुणश्चापि स्त्रोतसां स प्रदूषकः।।

(च. वि. 5/23)

आहारज व विहारज निदानों के द्वारा ही दोष दुष्ट होकर धातुओं में विगुणता उत्पन्न करते हैं। अतः निदान का विशेष अंश ही स्त्रोतसों में विगुणता को उत्पन्न करता हैं।

2. पूर्वरूप ज्ञान का महत्त्व-

(अ) चिकित्सा कार्य में पूर्वरूप का ज्ञान सहायक होता हैं।

जैसे - ज्वर की पूर्वरुपावस्था में लघु भोजन, अपतर्पण (लंघन) करना चाहिए- **'ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा।'**

उसी प्रकार सुश्रुत ने वातिक ज्वर के पूर्वरुप में घृतपान का उपदेश किया हैं- **'वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानम्।'**

अतः पूर्वरुप का ज्ञान न किया जाये तो पूर्वरुपावस्था से वर्णित विशिष्ट उपचार भी नहीं किये जा सकेगा।

(ब) साध्य असाध्यता का ज्ञान- रोग की साध्य असाध्यता का ज्ञान पूर्वरुप से होता हैं। जैसे-पूर्वरूपावस्था में ही रोग के सम्पूर्ण पूर्वरुप दिखाई दे तो वह रोग असाध्य होता है। जिस रोग में पूर्वरूप अल्प हो वह सुखसाध्य होता है।

हेतवः पूर्वरुपाणि रुपाण्यल्पानि यस्य वै। (च. सू. 10/11)

(स) सापेक्ष निदान के लिए- रोगों के सापेक्ष निदान के लिए पूर्वरुप का विशेष महत्त्व हैं।

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरुपैः।

यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः।।

यदि पूर्वरुप का ज्ञान + रुप का ज्ञान = व्याधि निश्चित ज्ञान

यदि प्रमेहपूर्वरूप उपस्थित + हरिद्रवर्ण का मूत्र लक्षण रोगी में उपस्थित = प्रमेह रोग निश्चित

प्रमेह के पूर्वरूप उपस्थित नहीं होने पर + रोगी हरिद्रवर्ण का मूत्र प्रवृत्त करे = रक्तपित्त रोग निश्चित

हरिद्र वर्ण का मूत्र प्रवृत्त होने पर प्रमेह अथवा रक्तपित्त होने का ज्ञान होता है यदि इस लक्षण के साथ प्रमेह पूर्वरुप भी दिखाई देंगे तो निश्चित रूप से रोगी प्रमेह रोग से ग्रसित है, जबकि हरिद्रमूत्र प्रवृत्ति के साथ प्रमेह के पूर्वरूप नहीं होंगे तो रक्तपित्त की निश्चितता का ज्ञान होगा।

(द) एकोहेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य चानेको बहूनां बहवोऽपि च।।

(च. नि. 8/26)

अकेले निदान के ज्ञान से ही रोग विनिश्चय नहीं हो पाता। आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है कि एक हेतु से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते है व एक हेतु से एक रोग भी हो सकता हैं, अनेक हेतु मिलकर एक रोग उत्पन्न करते हैं व अनेक हेतु से अनेक रोग होते हैं।

जैसे - ज्वर और गुल्म दोनों रोगों की उत्पत्ति एक हेतु से होती हैं।

3. रूप ज्ञान का महत्त्व-

(अ) उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गरूपम् इति लक्षणम्।------- निदानसंप्राप्त्युपशयान् व्यवच्छिनत्ति, तेषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्। (मधुकोश टीका)

केवल उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला लिङ्ग ही रूप कहा जाता हैं। जबकि निदान, सम्प्राप्ति और उपशय उत्पन्न व अनुत्पन्न दोनों व्याधियों का ज्ञान करने में उपयोगी हैं। अत: उत्पन्न व्याधि के स्वरूप का ज्ञान केवल और केवल रूप के द्वारा किया जा सकता है।

'स्वीयं रूपं स्वरूपम्'- व्याधि का अपना रूप या स्वभाव ही रूप हैं, जिसके अनुसार ही चिकित्सा की जाती हैं।

(ब) साध्य असाध्यता का ज्ञान-

सर्वसम्पूर्णलक्षण: सन्निपातज्वरोऽसाध्य:।

शास्त्रों में वर्णित किसी भी व्याधि के सभी लक्षण रोगी में दिखाई देने पर वह रोग असाध्य रोग होता हैं। जैसे- सन्निपातिक ज्वर में 'क्षणेदाह क्षणेशीतम्----' आदि सम्पूर्ण लक्षण उपस्थित होने पर सन्निपातिक ज्वर असाध्य हो जाता हैं। इसी प्रकार अल्प लक्षण होने पर कोई भी व्याधि सुखसाध्य हो जाती हैं।

4. उपशय ज्ञान का महत्त्व -

गूढ़लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां। (च. वि. स्थान 4/8)

गूढलिङ्ग का तात्पर्य जिन व्याधियों के लक्षण स्पष्ट नहीं होते हैं अथवा दो व्याधियों के लक्षणों में सादृश्यता दिखाई दे ऐसी व्याधियों के यथावत् ज्ञान के लिए उपशय का ज्ञान करना आवश्यक है। जैसे:-वात व्याधि तथा उरूस्तम्भ का संदेह होने पर तैल अभ्यंग से उरूस्तम्भ व्याधि के लक्षणों में वृद्धि होती है। जबकि वात व्याधि होने पर रोगी को तैल अभ्यंग से लाभ होता है।

उपशय चिकित्सा नहीं है वरन् रोग ज्ञान का एक साधन है। रोग जान लेने के पश्चात् ही चिकित्सा का निर्धारण किया जाता है।

5. सम्प्राप्ति ज्ञान का महत्त्व:-

(अ) चिकित्सा विशेष हेतु :- निदान आदि का ज्ञान कर लेने के पश्चात् भी चिकित्सा व्यवस्था के लिए सम्प्राप्ति घटकों का ज्ञान परम आवश्यक है।

''असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोऽशांशविकल्पनाबल-कालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्।'' (मा. नि. पंचनिदान मधुकोश टीका) दोषों की अशांश कल्पना (दोष प्रकोपक अंशों का निर्धारण), बल (व्याधि की तीव्रता और मृदुता अर्थात् हेतु, पूर्वरूप, रूप आदि की बलवत्ता एवं अल्पता) से, ऋतु एवं अहोरात्र सम्बन्धित काल आदि का ज्ञान सम्यक् रूप से करने के पश्चात् ही चिकित्सा कर्म करना चाहिए।

(ब) निदान, पूर्वरूप आदि से रोग का सामान्य ज्ञान होता है। जबकि रोग का सम्यक् ज्ञान सम्प्राप्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं होता है, क्योंकि दोष, दूष्य, स्त्रोतस आदि की विकृत स्थिति को मात्र सम्प्राप्ति द्वारा ही जाना जा सकता है।

निदान पंचक का विस्तृत वर्णन

निदान

- व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम् अर्थात् व्याधि की उत्पत्ति का हेतु (कारण) निदान कहलाता हैं।
- निदानं त्वादि कारणम्। अर्थात् रोग का आदि कारण ही निदान हैं।

निदान शब्द की व्युत्पत्ति -

'निर्' उपसर्गपूर्वक 'दिश' धातु को 'ल्युट्' प्रत्यय होकर 'निर्देशन' शब्द बनता हैं। व्याकरण के अनुसार रेफ का लोप होकर 'निर्देशन' शब्द की 'निदान' के रूप में परिणति हो जाती हैं।

निदान शब्द की निरुक्ति-

- 'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्।' अर्थात् जिससे व्याधि का पूर्णत: ज्ञान हो उसे निदान कहते हैं।
- 'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्।' अर्थात् जिससे व्याधि का ज्ञान कराया जाये उसे निदान कहते हैं।
- 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्।' जिस उपाय से व्याधि का निश्चय किया जाये उसे निदान कहते हैं।

परिभाषा :-

(1) सेतिकर्तव्यताकोः रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्। (माधवनिदान पञ्चनिदान मधुकोश टीका)

कर्त्तव्य की अनेकताओं से युक्त अर्थात् दोषप्रकोपणादि अनेक कार्यों को करते हुए जो कारण रोग को उत्पन्न करता है उसे निदान कहते हैं। इस प्रकार विविध अहित आहार-विहार सेवन से दोषों का प्रकोप होता हैं तथा वे दोष जो स्वयं दूषित होकर दूष्यों को दूषित कर रोग को उत्पन्न करते हैं, उन्हें निदान कहते हैं।

(2) महर्षि चरक के अनुसार

तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे। अर्थात् निदान को कारण कहा जाता है।

चक्रपाणि के अनुसार इसी का विस्तृत विवेचन किया गया।

तत्र निदानं कारणमिहोच्यते तच्चेह व्याधिजनकं व्याधिबोधकं च, तत्र व्याधिजनकं निदानं हेतुः, व्याधिबोधकं पञ्चकम्।

निदान शब्द का प्रयोग व्याधिजनक (Etiological Factor), व्याधिबोधक हेतु (Diagnosis) दोनों के लिए किया जाता हैं। परन्तु विषयान्तर्गत निदान का अर्थ व्याधिजनक रूप में ही ग्रहण किया जायेगा।

(3) कविराज गणनाथसेन जी सरस्वती बाह्य निमित्त को ही निदान स्वीकार करते हैं-

बाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्तितम्।

अर्थात् किसी बाह्य कारण आघात, जीवाणु एवं मिथ्या आहार-विहार आदि शरीर से सम्पर्क हुए बिना रोगोत्पत्ति नहीं देखी जाती है। दोष-दूष्य को विकृत करने वाले कारणों में आघात, जीवाणु एवं मिथ्या आहार-विहार ही प्रमुख होते हैं, ये बाह्य निमित्त ही हैं। कविराज गणनाथसेन जी ने बाह्य निमित्त को ही निदान कहा हैं।

(4) वाग्भट्ट के अनुसार

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।

अर्थात् प्रकुपित हुए दोषों को ही रोग का साक्षात् निदान स्वीकार किया है।

- **निदान के पर्याय**

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः। निदानमाहुः पर्यायैः। (वा. नि. अ. 1)

(1) निमित्त- निमित्तस्य शकुनादौ।

अर्थात् निमित्त का अभिप्राय शकुन आदि से हैं।

(2) हेतु - हेतोः प्रयोजके कर्तरि।

अर्थात् हेतु का अर्थ प्रयोजक कर्त्ता (प्रमुख कारण) से हैं।

(3) आयतन - आयतनस्य स्थाने।

अर्थात् आयतन का अर्थ स्थान हैं। व स्थान शब्द का प्रयोग देश के लिये किया जाता है।

स्थान-देश

जैसे- जाङ्गल देश प्रायः वातज विकार का कारण तथा आनूप देश प्रायः श्लेष्मज विकारों के लिये कारणभूत होते हैं।

(4) प्रत्यय - प्रत्ययस्य लडादौ।

अर्थात् प्रत्यय का अर्थ लट आदि होता हैं।

(5) उत्थान - उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात्।

अर्थात् उत्थान का अर्थ उत्सर्ग, उद्गम या उभरना हैं। दोषों का उभरना रोगोत्पत्ति में विशेष कारण हैं।

(5) कारण - अहितकर आहार-विहार का सेवन करने से दोष प्रकोप होता हैं।

चरक संहिता के आरम्भ में ही हेतु, लिङ्ग तथा औषध इन तीनों को त्रिस्कन्ध नाम दिया है। इस वचन में हेतु के लिए स्कन्ध शब्द प्रयोग हुआ हैं।

च. सू. 20 महारोगाध्याय में आगन्तुज तथा निज रोगों के सामान्य कारणों का निर्देश करते हुए 'मुखानि' शब्द प्रयोग किया है।

- **निदान के भेद** - हेतु के अनेक भेद होते है।

(अ) आचार्य हरिशचन्द्र मतानुसार-

सन्निकृष्ट विप्रकृष्ट व्यभिचारि प्राधानिक भेदाच्चतुर्धा इति।

हेतु के चार प्रकार है-

1. सन्निकृष्ट 2. विप्रकृष्ट 3. व्यभिचारि 4. प्राधानिक

1. सन्निकृष्ट निदान-

सन्निकृष्टो यथा-नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते। (मधुकोश टीका)

सन्निकृष्ट का अर्थ होता है निकटवर्ती, रोगों की उत्पत्ति के साथ सीधा, साक्षात् संबंध रखना।

रात्रि, दिन तथा भोजन के आधार पर दोष-प्रकोप हेतु के तीन-तीन विभाग किये गये हैं-

(अ) दिन के आदि में कफ, मध्य में पित्त तथा अन्त (सायंकाल) में वात का प्रकोप होता हैं।

(ब) रात्रि के आदि में कफ, मध्य में पित्त तथा अन्त में वात का प्रकोप होता है।।

(स) भोजन के भी आदि, मध्य व अंत के तीन विभाग आम, पच्यमान व पक्व क्रमशः कफ, पित्त, वात दोष प्रकोप के हेतु हैं।

इस प्रकोप के लिये सञ्चय की आवश्यकता नहीं होती। इसका यही स्वभाव है।

2. विप्रकृष्ट निदान -

विप्रकृष्टो यथा- हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्। (मधुकोश टीका)

रोगों की उत्पत्ति में सीधा सम्बन्ध नहीं होता है।

विप्रकृष्ट का अर्थ है दूरवर्ती। रोगारम्भक वातादि दोषों के समान रोगों के साथ सीधा संबंध ना होने से हैं।

विप्रकृष्ट निदान के द्वारा दोष संचय के बाद ही रोग उत्पत्ति करते हैं।

जैसे - हेमन्त ऋतु में संचित हुआ कफ ही बसन्त ऋतु में प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता हैं, ग्रीष्म ऋतु में संचित हुआ वात ही वर्षा ऋतु में प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता हैं, वर्षा ऋतु में संचित हुआ पित्त ही शरद् ऋतु में प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करता हैं।

सन्निकृष्टो ज्वरस्य रुक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः।

आचार्यों के मतानुसार ज्वर का सन्निकृष्ट निदान रुक्षान्नपानादि सेवन तथा विप्रकृष्ट निदान रुद्रकोप गया हैं।

(3) व्यभिचारी निदान-

व्यभिचारी यथा- **यो दुर्बलत्वाद् व्याधिकरणासमर्थः।** (मधुकोश टीका)

दुर्बल होने से जो हेतु व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता हैं उसे व्यभिचारी कहते हैं। रोग की उत्पत्ति आहार-विहार आदि बाह्य निदान तथा उससे प्रकुपित दोष और दूष्य के बल पर निर्भर करती हैं। निदान यदि अल्प हो तो दोष-दुष्टि भी सौम्य स्वरूप की ही होती हैं। परिणामस्वरूप रोग सौम्य स्वरूप का होता हैं।

4. प्राधानिक निदान-

प्राधानिको यथा- विषादिः।

उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित करके रोगों को उत्पन्न करने वाला हेतु प्रधानिक कहलाता हैं। जैसे- मारक विष प्रत्येक व्यक्ति में निश्चित रूप से मारकता उत्पन्न करता हैं। आगन्तुक कारण भी प्राधानिक हेतु ही हैं।

(ब) चरकानुसार हेतु के तीन भेद है।

त्रीण्यायतनानीति- अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः। (च. सू. 11/३७)

1. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग 2. प्रज्ञापराध 3. परिणाम

1. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-

चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ अतियोग (अधिक मात्रा में संयोग करना), अयोग (बिल्कुल संबंध न होना) या मिथ्यायोग (गलत संयोग होना) असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहलाता हैं।

इन्द्रिय	अतियोग	अयोग	मिथ्यायोग
चक्षु इन्द्रिय	नेत्र से अत्यधिक प्रभा वाले सूर्य, अग्नि आदि दृश्यों को अधिक मात्रा में देखना	नेत्र से रूपों को सर्वथा न देखना।	नेत्र से विषयों का अधिक समीप होना, अधिक दूर होना अथवा भयोत्पादक, बीभत्स विकृत, वित्रासन रूपों का देखना।
कर्णेन्द्रिय	अत्यन्त ऊँचे शब्द मेघों की गर्जना, जोर से रोने की ध्वनि कान से सुनना, नगाडे का शब्द आदि।	कानों से शब्दों का सर्वथा न सुनना।	कठोर, तिरस्कार सूचक, भीषण भंयकर शब्दों का सुनना।
घ्राणेन्द्रिय	नाक से अत्यन्त तीक्ष्ण उग्र एवं अभिष्यन्दि गंधों का अधिक मात्रा में संयोग होना।	गंधो का सर्वथा नासिका से संयोग न होना।	दुर्गन्ध, सडी, गली वस्तुओं की गंध या प्रतिकूल, अपवित्र तथा क्लिन्न गंध, विषयुक्त वायु की गंध का घ्राण से संयोग होना।

स्पर्शनेन्द्रिय	त्वचा के साथ अधिक शीतल या अधिक उष्ण स्पर्श वाले स्नान, अभ्यंग और उबटन आदि का संयोग होना।	इनका सर्वथा सेवन न करना।	शीतल, उष्ण स्पर्श वाले स्नान, अभ्यंग, उबटन आदि का यथाक्रम सेवन न करना, त्वचा पर आघात लग जाना, अपवित्र, भूत प्रेत अथवा रोगोत्पादक जीवाणुओं का त्वचा से स्पर्श हो जाना।
रसनेन्द्रिय	जिह्वा से रसों का अत्यधिक स्वाद लेना।	रसों का जिह्वा से सर्वथा संयोग न होना या अल्प रस का संयोग होना।	अष्ट आहारविधि विशेष आयतन में से राशि को छोड़कर सात प्रकार के नियमों के विपरीत रसों का जिह्वा के साथ संयोग होना।

2. प्रज्ञापराध-

इति त्रिविधविकल्पं त्रिविधमेव कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्। (च. सू. 11/41)

इस प्रकार त्रिविध विकल्प (अतियोग, अयोग, मिथ्यायोग) और त्रिविध कर्म (वाणी, मन और शरीर से किये जाने वाले कर्म) को प्रज्ञापराध समझना चाहिए।

कर्म	**अतियोग**	**अयोग**	**मिथ्यायोग**
वाक्	वचन की अतिप्रवृत्ति	वाक् शक्ति का सर्वथा प्रयोग न करना।	चुगली करना, झूठ, अप्रिय, असंबद्ध, प्रतिकूल और कठोर वचन बोलना, झगडा करना आदि।
मन	मन की अतिप्रवृत्ति	मन का अपने कार्यों में न लगना।	भय, शोक, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार ईर्ष्या के वशीभूत होना।
शरीर प्रवृत्ति	शरीर की अतिप्रवृत्ति	शरीर के सर्वथा अपने कार्यों में न लगना।	वेगधारण, न आए हुये वेगों को बलवत् निकालना, लड़खड़ाकर चलना, खुजलाकर या विकृत मनुष्यों की नकल कर अपने अङ्गों को दूषित करना, क्लेशजनक व्रत, अति आतप सेवन, देर तक जल में स्नान आदि।

3. काल

कालः पुनः परिणाम उच्यते। (च. सू. 11/42)

काल को परिणाम कहा जाता हैं।

काल का भी हीन योग, मिथ्या योग व अतियोग रोग उत्पत्ति के कारण होते हैं।

काल का अतियोग- हेमन्त, ग्रीष्म व वर्षा ऋतु में क्रमशः अधिक ठंड पडना, अधिक गर्मी पडना और अधिक वृष्टि का होना काल का अतियोग समझना चाहिए।

काल का हीनयोग - जब हेमन्त आदि ऋतु में शीत आदि अपने लक्षण अल्प हों।

काल का मिथ्यायोग - जब हेमन्त आदि ऋतु में अपने-अपने लक्षणों से विपरीत लक्षणों का होना।

(स) मधुकोश टीका में हेतु के पुनः तीन भेद बतलाए है-

दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः।

1. दोष हेतु - दोषहेतवो यथा- चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः।

दोषों को विषम करने वाले कारण दोष हेतु कहलाते हैं। जैसे- ऋतु के अनुसार दोषों का संचय, प्रकोप, तथा प्रशम करने वाले आहार-विहार आदि। हेमन्त में स्वभाव से मधुर रस की उत्पत्ति होती है जिससे कफ का संचय होता है और बसन्त ऋतु में उसी कफ का प्रकोप हो जाता है।

2. व्याधि हेतु - व्याधिहेतवो यथा- मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्।

निश्चित व्याधि का उत्पादक हेतु व्याधि हेतु कहलाता हैं।

जैसे- मृत्तिकाभक्षण करना पाण्डुरोग का कारण हैं। अतः मृत्तिका भक्षण पाण्डुरोग का व्याधि हेतु हैं।

3. उभय हेतु - उभयहेतुर्यथा वातरक्ते - हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छताश्नतश्च।

जो विशिष्ट दोष का प्रकोपक हो साथ ही विशिष्ट व्याधि का भी उत्पादक हो उसे उभय हेतु या दोष व्याधि हेतु कहा जाता हैं।

जैसे- हाथी, ऊँट तथा घोड़ा के समान यान पर चलने से वायु की तथा विदाही अन्न सेवन से पित्त और रक्त की दुष्टि होती हैं। यान और विदाही अन्न एक साथ मिलकर वात रक्त रोग को उत्पन्न करते हैं।

(द) मधुकोश टीका में पुनः हेतु के दो भेद किये गये हैं-

स एवोत्पादकव्यञ्जक भेदाच्च द्विधा।

1. उत्पादक हेतु -

तत्रोत्पादको यथा- हेमन्तजो मधुरसः कफस्य।

दोष का संचय करने वाला कारण उत्पादक हेतु कहलाता हैं।

जैसे - हेमन्त में उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक हेतु हैं।

2. व्यञ्जक हेतु -

व्यञ्जको यथा- तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः इति भट्टारहरिचन्द्रः। तत्र व्यञ्जकः प्रेरक इत्यर्थः।

प्रेरक अर्थात् रोग को व्यक्त करने वाला कारण व्यञ्जक हेतु कहा जाता हैं। जैसे- हेमन्त में संचित कफ बसन्त ऋतु में सूर्य के संताप से पिघलकर कफज रोगों को व्यक्त करता हैं। अत: बसन्त का सूर्य संताप व्यञ्जक हेतु हैं।

(य) मधुकोश में पुन: हेतु के दो भेद बताये गये हैं-

बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा।

1. बाह्य हेतु -

तत्र बाह्या आहाराचारकालादय:।

शरीर से बाहर के कारण को बाह्य हेतु कहा जाता हैं।

जैसे- आहार, विहार, काल, जीवाणु, आघात आदि बाह्य हेतु हैं।

2. आभ्यन्तर हेतु -

आभ्यन्तरा यथा- दोषा दूष्याश्च।

शरीर के दोष एवं दूष्य धातु तथा मल ही आभ्यान्तर हेतु कहे जाते हैं। रोगों का प्रधान हेतु दोष प्रकोप ही हैं। अत: दोषों की प्राकृत वैकृत आदि विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होना आवश्यक हैं। इन आभ्यान्तर हेतु का पुन: विभाग किया गया है।

दोष के भेद-

(अ) दोष के प्राकृत वैकृत भेद-

दोषोऽपि प्रकुपित: प्राकृतादिभेदादनेकधा।

1. प्राकृत दोष प्रकोप-

प्राकृतो यथा- वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं, प्रावृषि वायु:। (मधुकोश)

जो दोष जिस ऋतु काल में प्रकुपित होता है यदि उसी ऋतु में प्रकुपित हो तब प्रकुपित दोष प्राकृत कहलाता हैं।

जैसे- बसन्त में कफ प्रकोप, शरद में पित्त प्रकोप, व वर्षा में वात प्रकोप स्वाभाविक रूप से होता है।

2. वैकृत दोष प्रकोप -

वैकृतस्तु यथा- वसन्ते पित्तं वायुर्ना, वर्षासु कफ: पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा। (मधुकोश)

जब दोष अपने प्रकोपक ऋतु काल में प्रकुपित न होकर किसी भिन्न ऋतु में प्रकुपित हो तो उसे वैकृत कहते हैं।

जैसे - बसन्त ऋतु में पित्त या वात प्रकोप

वर्षा ऋतु में कफ या पित्त प्रकोप

शरद ऋतु में कफ या वात प्रकोप।

(ब) आचार्य चरक ने पुन: दोषों के दो भेद कहे हैं-

अनुबन्ध्यानुबन्ध भेदाच्च द्विधा। (मधुकोश टीका)

1. अनुबन्ध्य -

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्य:।। (च. वि. 6/11)

स्वतंत्र, स्पष्ट लक्षण वाले उन दोषों एवं रोगों के उत्पन्न होने के जितने कारण शास्त्रों में बताये गये हैं उन्हीं कारणों से उत्पन्न होने वाला व उन दोषों या रोगों की शांति करने का जो उपाय बताया गया है उसी से शांत होने वाला अनुबन्ध्य होता हैं।

2. अनुबन्ध-

तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः। (च. वि. 6/11)

अनुबन्ध्य से विपरीत लक्षण वाले होते हैं। जो अस्वतंत्र लक्षण वाले होते हैं अव्यक्त लिंग वाले अपने हेतु से प्रकुपित नहीं होते हैं व प्रधान दोष की चिकित्सा से ठीक होते हैं स्वचिकित्सा से ठीक नहीं होते हैं।

रोगी की देह प्रकृति, विकृति व उत्पादक दोष के आधार पर रोगारम्भक हेतुओं का ज्ञान करना चाहिये।

रोगी देह की प्रकृति के सात भेदों का वर्णन किया गया है। केवल एक दोष वाली तीन प्रकार की प्रकृतियाँ होती है। द्वन्द्ज प्रकृति तीन एवं समदोषज एक प्रकृति होती है।

प्रत्येक प्रकृति वाले व्यक्ति में मिथ्या आहार विहार सेवन द्वारा प्राकृत अवस्था में स्थित दोष विकृति को प्राप्त हो जाते हैं। इसे प्रकृतिसदृश्य जन्य दोष विकृति कहा जाता है जबकि आहार व प्रकृति के समान दोष विकृत नहीं होने पर प्रकृति असदृश्य दोष विकृति कहा जाता है।

प्रकृतिसदृश्य दोष से उत्पन्न व्याधि कष्टसाध्य होती है। प्रकृति विसदृश्य दोष से उत्पन्न व्याधि सुखसाध्य होती हैं।

जैसे वातप्रकृति वाले रोगी में वात व्याधि उत्पन्न होने पर वह व्याधि कष्टसाध्य होती है जबकि कफ प्रकृति वाले रोगी में उत्पन्न वातव्याधि सुखसाध्य होती हैं।

(स) अशयापकर्षः- आशयापकर्ष के आधार पर दोष भेद -

दोष अपने प्राकृत स्थान पर रहते हुए तथा स्वयं के प्रकुपित न होने पर भी प्रकुपित वायु के द्वारा अन्य स्थान पर ले जाये जाते हैं, इसे आशयापकर्ष कहा जाता हैं।

यस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानायनं कार्यं, न तु पित्तस्य ह्रासनं: 'ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विदन्ति, ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादन्त आतुरमतिपातयन्ति'।

आशयापकर्षतो यथा- यदा स्वमान स्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायु स्थानान्तरं गमयति तदा स्वमानस्थोऽपि स विकारं जनयति। (मधुकोश, पञ्चनिदान)

उदाहरण स्वरूप-

प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति।।

तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः। गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च।। (च. सू. 17)

श्लेष्मा के क्षीण होने पर बढ़ी हुयी वायु, उचित मात्रा एवं स्थान में स्थित पित्त को उसके प्रधान स्थान (ग्रहणी) से आकृष्ट करके शरीर के जिस भाग में लेकर घूमती है वहाँ अस्थिर स्वरूप में भेदनवत पीड़ा (वायु के कारण), दाह (पित्त के कारण), श्रम एवं दुर्बलता का अनुभव होता हैं। इस प्रकार वायु उचित मान एवं स्थान में स्थित किसी दोष को लेकर अन्यत्र जाती है तो शरीर में प्राकृत मान में स्थित होते हुए भी स्थान विशेष में परिवर्तन आने के कारण वह दोष विकार उत्पन्न करता हैं। अतः चिकित्सा करते हुए विगुण वात की शांति तथा विकृत स्थान (स्वस्थान से चलित) पर गये हुए दोषों को स्वस्थान पर लाना आवश्यक होता हैं।

जिन्हें पित्त के स्थानापकर्ष का ज्ञान नहीं है, वह दाह आदि लक्षणों को देखकर पित्त वृद्धि का ज्ञान करते हैं तथा पित्त शामक चिकित्सा द्वारा शरीर में उचित प्रमाण में स्थित पित्त का भी क्षय कर दिया जाता हैं। जिससे रोगी को

लाभ पहुँचने की बजाय और अधिक कष्ट पहुँचाते हैं। भट्टार हरिशचन्द्र के अनुसार वायु के द्वारा पित्त का स्थानापकर्ष करने पर वह पित्त जिन-जिन अवयवों में जाता हैं उन-उन अवयवों में स्थित पित्त के साथ मिलकर अवयव विशेष में पित्त वृद्धिजन्य लक्षण उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार भ्राजक पित्त के स्थान अपकृष्ट होने पर आलोचक पित्त के स्थान पर आने से दाह, पाक आदि लक्षण दिखाई देते हैं।

(द) गति भेद से दोष भेद :-

गतिश्च द्विधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा। (च. सू. 17/115)

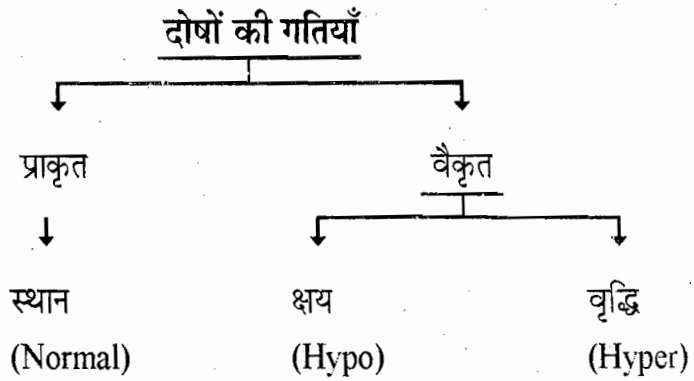

दोष प्राकृती गति द्वारा प्राकृत रूप में रहते हुए अपना-अपना कार्य करते हैं। जबकि वैकृत गति द्वारा कभी दोष मात्रा से अधिक बढ़कर अपने-अपने कर्मो में वृद्धि को दिखाते हैं तथा कभी-कभी क्षीण हुए दोष अपने कर्मों को कम करते हैं।

(अ) दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते।। (च. सू. 17/61)

आचार्य चरक ने अन्य दोष गतियों का भी वर्णन किया-

1. उर्ध्व गति 2. अधः गति 3. तिर्यक् गति

इन गतियों का ज्ञान चिकित्सा हेतु उपयोगी होता है। जैसे- रक्तपित्त का चिकित्सा सूत्र हैं-

प्रतिमार्ग च हरणं रक्तपित्ते विधीयते।। (च. नि. 2/19)

उर्ध्वगत रक्तपित्त में विरेचन दिया जाता हैं तथा अधोगत रक्तपित्त में वमन दिया जाता है।

(ब) मार्ग भेद से दोषों की गतियाँ :-

(1) बाह्य रोगमार्ग (2) मध्यम रोगमार्ग (3) आभ्यन्तर रोगमार्ग

जिनका पूर्व में वर्णन किया जा चुका है।

साम निराम भेद से दोष भेद ज्ञान-

आमदोष - अग्निमांद्य के कारण आमाशय स्थित आद्य रस आमावस्था को प्राप्त होता हैं, आम से संयुक्त दोष तथा उनके द्वारा दूषित दूष्य व इनसे निर्मित रोग साम कहलाते हैं, जबकि इसी अग्नि के प्रबल दोष होने पर आद्य आमरस परिपाक को प्राप्त हो जाता है। जिससे सभी दोष भी पाकावस्था को प्राप्त होकर निराम कहलाते है।

सामवात, सामपित्त व सामकफ, निरामवात, निराम पित्त व निराम कफ के लक्षणों का वर्णन पूर्व किया जा चुका है। (प्रथम अध्याय सामनिराम प्रकरणान्तर्गत)

पूर्वरूप

अकेले निदान से रोग विनिश्चय नहीं हो सकता है। रोगों के सापेक्ष निदान के लिये पूर्वरूप, रूप आदि की आवश्यकता होती है।

परिभाषा

(अ) चरक के अनुसार परिभाषा:-

''पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति लक्षणं व्याधे:।'' (च. नि. 1/8)

अर्थात् व्याधि की उत्पत्ति के पूर्व जो लक्षण होते हैं उन्हें पूर्व रूप कहा जाता है।

(ब) वाग्भट्ट के अनुसार

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठित:। लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम्।। (वा. नि. अ. 1)

दोष विशेष के ज्ञान के बिना ही केवल उत्पन्न रोग जिन लक्षणों से जाना जाये, उन लक्षणों या लक्षणसमूह को एवं विशिष्ट व्याधि के विशिष्ट रूपों के ईषद् व्यक्त होने को 'पूर्वरूप' कहते हैं।

(स) 'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेष:।'

आचार्य पराशर के अनुसार दोष विशेष के ज्ञान से रहित भावी व्याधि जिस लक्षण समूह से प्रतीत हो उसे पूर्वरूप ('सामान्य पूर्वरूप') कहते हैं।

(द) स्थानसंश्रयिण: क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।

दोषा: कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते।। (मा. नि. निदानपञ्चक मधुकोश टीका)

अर्थात् कुपित होकर स्थान संश्रय को प्राप्त हुए दोष भावी व्याधि का ज्ञापन कराने वाले जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं वे लक्षण ही पूर्वरूप हैं। इस लक्षण में दोषकृत लक्षणों के ही पूर्वरूप कहे गये है।

5. आचार्य सुश्रुत ने दोषों की उत्तरोत्तर वृद्धि के 6 भेद बताते हुए प्रत्येक भेद (अवस्था) को क्रियाकाल (उपचार-योग्य समय) कहा है। तत्-तत् काल में तद् अनुरूप क्रिया न की जाय तो दोष की अधिक वृद्धि होकर वृद्धि की उत्तर अवस्था प्राप्त होती है। इन अवस्थाओं में चतुर्थ अवस्था स्थानसंश्रय है। इसे लक्ष्य में रखते हुए आचार्य सुश्रुत ने कहा है- **''तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थ: क्रियाकाल:।''** (सु. सू. 21/33)'- तात्पर्य, इस चतुर्थावस्था में स्थानसंश्रय एवं दोषदूष्य संमूर्च्छना ह्रास जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उन्हें पूर्वरूप कहा जाता है। डल्हण कहते हैं कि इस अवसर पर दोष और दूष्य दोनों को दृष्टि में रखकर उभयाश्रित चिकित्सा करनी चाहिए।

यद्यपि कई पूर्वरूप ऐसे होते हैं जिनमें मूल दोष और दूष्यों की समूर्च्छना नहीं होती है। यह पूर्वरूप अदृष्ट हेतु के कारण रोग की उत्पत्ति के पूर्व उत्पन्न होते हैं। जैसे राज्यक्ष्मा के पूर्वरूप:-

मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम्। (च. चि. 8/35)

अन्नपान में माक्षिका, घुण, केश अथवा तृणों को देखना, रोगी के केश व नख की अभिवृद्धि होना, स्वप्न में केश व अस्थियों के ढेर अथवा भस्म पर चढ़ना आदि पूर्वरूप दिखाई देते हैं।

पूर्वरूपों के भेद :- प्राग्रूपं द्विविधं सामान्यं, विशिष्टं च।

पूर्वरूपों के दो भेद होते हैं।

1. सामान्य पूर्वरूप
2. विशेष पूर्वरूप

1. सामान्य पूर्वरूप - मधुकोश टीकाकार के अनुसार सामान्य पूर्वरूप की निम्न परिभाषा दी गयी।

सामान्यपूर्वरूपमाह- प्राग्रूपमित्यादि। येन श्रमादिना, उत्पित्सुः सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः। आमयो रोगः, दोषविशेषेण वातादि जन्यासाधारण वेपथ्वादिना, अनिधिष्ठितोऽसंबद्धो, लक्ष्यते जायते, तत् प्राग्रूपमिति। (माधवनिदान-पञ्चनिदान-मधुकोश टीका)

सामान्यं तु दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भावि ज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, नतु वातादि जनितत्वादिविशेषः। (मधुकोश टीका)

1. दोष दूष्य संमूर्च्छना की प्रारंभिक स्थिति में होने वाले पूर्वरूप सामान्य पूर्व रूप होते हैं।

2. सामान्य पूर्वरूप से उत्पन्न होने वाली व्याधि का सम्पूर्ण (दोष विशेष) ज्ञान नहीं होता है केवल भावी व्याधि का संकेत मात्र ज्ञान मिलता है।

जैसे कि - **ज्वर के पूर्वरूप श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।** (सु. उ. 31/25)

ज्वर के श्रम आदि सामान्य पूर्वरूप मिलने पर वातादि भेद का ज्ञान नहीं किया जा सकता है।

चक्रपाणि ने सामान्य पूर्वरूप के दो भेद बताएँ :-

(अ) भावी व्याध्यव्यक्तरूपम्।

यह भावी रोग का सूचक अव्यक्त, स्वरूप वाला पूर्वरूप है।

(ब) द्वितीयं तु दोष दूष्य संमूर्च्छनमव्यक्तलिङ्गादन्यदेव- यथा ज्वरे बालप्रद्वेषरोमहर्षादि।

पूर्वरूप का यह द्वितीय प्रकार व्याधि के व्यक्तावस्था प्राप्त होने पर दिखाई नहीं देता यदि पूर्वरूप का यह लक्षण रोग की व्यक्तावस्था में भी दिखाई दे तो वह रोग असाध्यता को प्राप्त होता है।

ज्वरपूर्वकाल एव, यत्र तु व्यक्तं भवति, स चासाध्यो मतः।। (च. नि. 1/8)

इसी प्रकार ज्वर के जितने भी पूर्वरूप शास्त्र में वर्णित है यदि वह सभी के सभी तथा उग्र रूप में दिखाई देते हैं तो वह रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है।

2. विशिष्ट पूर्वरूप :- विशिष्टं पुनर्भाविव्याधिलिङ्गानाम व्यक्तत्वम्।

विशिष्ट पूर्वरूप उसे कहते हैं जिससे रोग आरम्भक दोष का ज्ञान होता है, जैसे कि ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप

विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः, कफादान्नाभिनन्दनम्।। (सु. उ. 39/27)

ज्वर के विशिष्ट पूर्वरूप :-

(1) अतिजृम्भा होना - वात प्रकोप के कारण

(2) नयनदाह - पित्त प्रकोप के कारण

(3) अन्न के प्रति अरूचि - कफ प्रकोप के कारण

इन विशिष्ट पूर्वरूपों को दोष विशेष का निरूपण करने के कारण रूप नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह आरंभक दोष के सूक्ष्म चिह्न मात्र हैं जिनका ज्ञान होने पर ज्वर को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है।

अतः आचार्य सुश्रुत ने पूर्वरूपावस्था में ही ज्वर की चिकित्सा का निर्देश कर दिया था।

(1) ज्वर की पूर्वरूपावस्था में वात दोष प्रकुपित होने पर घृत पान,

(2) पैत्तिक पूर्वरूप दिखने पर मृदु विरेचन।

(3) कफज पूर्वरूप दिखाई देने पर मृदु वमन।

पूर्वरूप के अन्य भेदों का वर्णन भी अलग-अलग आचार्यों द्वारा किया गया।

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार-

(1) दोष-दूष्य संमूर्च्छना जन्य पूर्वरूप :-

यक्ष्मा में प्रतिश्याय, दौर्बल्य आदि दोष दूष्य जन्य पूर्वरूप हैं।

(2) अदृष्ट पूर्वरूप :-

जैसे पूर्व में बताया गया है कि अन्न पान में मक्षिका, घुण, तृण आदि का दिखाई देना अदृष्ट पूर्वरूप का उदाहरण है।

आचार्य अरुणदत्त के अनुसार त्रिविध भेद :-

(1) शारीर :- यह शरीर से संबंध रखते हैं जैसे जृम्भा, विरसता, नयनों में अश्रु होना।

(2) मानस :- यह मानसिक भावों से ही संबंध रखते हैं जैसे अरति, बालकों से द्वेष।

(3) शरीर और मानसमिलित पूर्वरूप :- यह पूर्वरूप शरीर और मानस दोनों से संबंध रखते हैं। जैसे शीत वात, आतप, उष्ण पदार्थों के सेवन की बार-बार इच्छा अथवा द्वेष होना।

मधुकोश कार ने पूर्वरूपों को अव्यक्त होने के कारण अल्प कहा है। अव्यक्त का तात्पर्य व्यक्त नहीं होना कदापि नहीं होता है क्योंकि इस अर्थ में पूर्वरूप के ज्ञान का कोई प्रयोजन ही नहीं सिद्ध होता, अतः अव्यक्त का अर्थ है कि ईषत् या अल्प व्यक्त होना। अल्प होने से पूर्वरूप अधिक व्यक्त नहीं होते हैं जिससे अस्पष्ट रूप से भावी व्याधि के द्योतक होते हैं।

पूर्वरूपों को 'Prodromal symptom' or 'premonitory sign' कह सकते हैं। कुछ व्याधियों के Prodromal symptoms का वर्णन किया जा रहा है।

(A) Asthmetic aura premonitory symptom of Bronchial asthma

(1) Sneezing (2) Flatulence (3) Drowsiness

(4) Restlessness (5) Irritability (6) Dry irritant cough

(7) Attacks of wheezy breathlessness

(B) Status Epilepticus :- It is the repeated occurence of seizures, without recovery in between. The clinical features shows the prodromal symptoms like headache, drowsiness, anorexia etc.

रूप

आचार्य चरक ने रूप की परिभाषा व पर्याय का वर्णन किया।

परिभाषा

- **प्रादुर्भूतलक्षणं पुनर्लिङ्गम्।** (च. नि. 1/9)

उत्पन्न हुए रोगों के लक्षणों को लिङ्ग कहते हैं।

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार रूप की निम्न परिभाषा दी गई।

- **उत्पन्नव्याधेः स्वरूपं, तथा वाताद्यामपक्वादिविशेषणविशिष्टं व्याधिं निदानोपशयसंप्राप्तिव्यतिरिक्तं यद्बोधयति, तल्लिङ्गम्।**

वर्तमान में विद्यमान व्याधि के स्वरूप का ज्ञान रूप द्वारा किया जाताहै तथा वातादि दोष, आमपक्वादि विशेष अवस्थाओं का ज्ञान केवल रूप द्वारा किया जा सकता है। निदान, उपशय, सम्प्राप्ति द्वारा नहीं किया जा सकता है।

- **उत्पन्न व्याधेर्लिङ्गं रूपं निरूपयति।**
- **तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते। संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृतिः।।** (वा. नि. अ. 1)

वातादि रोगारम्भक दोष अपने कार्यों के प्रकट होने से अभिव्यक्त हो जाते हैं अथवा उनकी आमपक्व अवस्थायें भी व्यक्त हो जाती है। तब इन पूर्वरूपों को ही रूप, लक्षण या लिङ्ग कहा जाता है।

दोषों की वृद्धि उत्तरोत्तर होने के कारण जो लक्षण पूर्वरूपावस्था में अव्यक्त होते है वह व्यक्त होने लगते हैं।

तथाविद्यदोषदूष्यसम्मूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपोव्याधिः, तत्कार्यश्चारूच्यादयः।

आचार्य मधुकोषकार ने रूपों का वर्णन करते हुए बताया कि दोष दूष्य का विशेष प्रकार का संयोग व्याधि है तथा इसमें अरूचि आदि विभिन्न रूप या उनका समूह संयुक्त रूप से व्याधि को दर्शाता है।

पर्याय :- संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न, आकृति तथा रूप- ये परस्पर पर्यायवाचक शब्द है।

1. लिङ्ग- लिङ्ग्यते प्रादुर्भुतो भावः स्वरूपतो ज्ञीयते अनेनेति लिङ्गम्। (च. नि. 1/9) (गंगाधर)

जिनके द्वारा उत्पन्न व्याधि के स्वरूप का ज्ञान होता है उन्हें लिंग कहते हैं।

2. आकृति - एवम् आक्रियते ज्ञायतेऽनेनेत्याकृतिः। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

जो लक्षण व्याधि के उत्पन्न होने के बाद दिखाई देते हैं।

3. लक्षण - लक्ष्यते ज्ञायतेऽनेनेति लक्षणं। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

रोगी अपनी अवस्था विशेष का ज्ञान लक्षणों द्वारा ही करवाता हैं।

4. चिह्न - चिन्हते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्न। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

वैद्य द्वारा जिनका ज्ञान किया जाता है उन्हें चिह्न कहते हैं।

5. संस्थान - संस्थीयते ज्ञायतेऽनेनेति संस्थानं। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

वैद्य द्वारा रोगी के स्थान विशेष अथवा रोगानुसार किसी स्थान विशेष की परीक्षा द्वारा जिसे जाना जाता है उसे संस्थान कहते हैं।

6. व्यंजन - व्यज्यते ज्ञायतेऽनेनेति व्यञ्जन। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

जो लक्षण निश्चित रुप से उस व्याधि विशेष के साथ ही सम्बन्धित रहते है उन्हें व्यंजन कहते हैं।

7. रूप - रुप्यते ज्ञायतेऽनेनेति रूपम्। (च. नि. 1/9 गंगाधर टीका)

रोगी के बाह्य रूपात्मक दृष्टि से देखे गये सामान्य व्याधि लक्षण रूप कहलाते हैं।

रूप के भेद

रूप के दो भेदों का वर्णन किया गया है।

(1) समान्य रूप (2) विशेष रूप

1. सामान्य रूप - किसी व्याधि के सामान्य लक्षणों को सामान्य रूप कहा जाता है।

जैसे ज्वर के सामान्य लक्षण, संताप अतिसार के सामान्य लक्षण बहुद्रव सरण।

2. विशेष रूप - दोषानुसार विशेष लक्षणों का ज्ञान होना।

जैसे - वातिक ज्वर लक्षण, पैत्तिक ज्वर लक्षण, कफज ज्वर लक्षण

रूप अथवा लक्षणों को पुन: 4 भागों में बांटा गया है।

1. प्रत्यात्म लक्षण (Cardinal Sign)

अनेन च व्याधिप्रतिनियतं लिङ्गम्।

व्याधि के वह लक्षण जिससे तुरन्त उस व्याधि का बोध हो जाये उसे प्रत्यात्म लक्षण कहते हैं।

जैसे - **(1) ज्वर प्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानस:।** (च. चि. 3/31)

ज्वर का प्रत्यात्म लक्षण शरीर और मन का संताप ही होता है।

(2) गुल्म - स्पर्शोपलभ्य: परिपिण्डितत्वाद्गुल्मो। (च. चि. 5/7)

स्पर्श में पिण्ड के समान हो उसे गुल्म कहते हैं।

(3) गुदेन बहुद्रवसरणं अतिसार।

गुद से अधिक द्रवयुक्त मल का निकलना ही अतिसार कहलाता है।

2. सामान्य लक्षण (Presumptive sign) जो लक्षण व्याधि में प्रत्यात्म के अतिरिक्त होते हैं व सामान्यतौर पर मिलते हैं।

ज्वर के सामान्य लक्षण -

स्वेदावरोध: संताप: सर्वाङ्गग्रहणं तथा। विकारा युगपद्यस्मिन् ज्वर: स परिकीर्तित: (सु. उ. 39/13)

स्वेदावरोध संताप और अंगों में जकड़ाहट का एक साथ दिखाई देना ज्वर का सामान्य लक्षण है।

उदर के सामान्य लक्षण - कुक्षेराध्मानमाटोप: शोफ: पादकरस्य च मन्दोऽग्नि: श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदर लक्षणम्। (च. चि. 13/21)

- कुक्षि में आध्मान होना
- आटोप
- शोफ पाद व हस्त में
- अग्नि मन्द होना
- गण्ड प्रदेश में श्लक्ष्णता (चिकना)
- कार्श्यता

3. दोषादि के अनुसार विशेष लक्षण (Specific Symptoms) - दोषों के प्राधान्य के अनुसार रोगों के वातादि विशेष लक्षण दिखाई देते हैं।

उदाहरण -

वातिक, पैत्तिक, कफज ज्वर के लक्षण

वातिक, पैत्तिक, कफज उदर के लक्षण

साध्य असाध्यता के आधार पर भी अलग-अलग लक्षणों का वर्णन किया जाता है-

सन्निपातज ज्वर के साध्य लक्षण क्षणे दाह, क्षणे शीत आदि में से अल्प लक्षणों का मिलना ज्वर का साध्य लक्षण होता है। जबकि सन्निपातिक ज्वर का असाध्य लक्षण

दोष विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षण: । सन्निपातज्वरोऽसाध्य: कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा। (च. चि.3)

- दोष तथा मलों के विबद्ध होने से, जाठराग्नि के नाश से सन्निपातिक ज्वर के सम्पूर्ण लक्षण उपस्थित होने पर ज्वर असाध्य जबकि इसके विपरित कृच्छ्रसाध्य होता है।

4. व्याधि की उपद्रवावस्था के लक्षण (Complication) - यद्यपि अरिष्ट लक्षणों को हम व्याधि की रूपावस्था में सम्मिलित नहीं करते हैं। उपद्रव लक्षण व्याधि की रूपावस्था का ही अन्तिम परिणाम है।

उदाहरणस्पष्ट अजीर्ण के उपद्रव - मूर्च्छा प्रलाप वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः। उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः।। (सु. सू. 46)

मूर्च्छा प्रलाप, वमन, मुँह से पानी आना, अंगसाद, भ्रम यह अजीर्ण के उपद्रव है इनके अतिरिक्त अजीर्ण से मृत्यु तक हो सकती है।

रोग के लक्षणों के भेद :-

(1) प्रकृति सम समवेत (2) विकृति विषम समवेत

1. प्रकृति सम समवेत :- तत्तु खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेक दोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोषप्रभाव-मेकैकश्वेनाभिसीमक्ष्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्।। (च. वि. 1/9)

जिस व्याधि के लक्षण दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना के अनुसार होते हैं उसे प्रकृति सम समवेत कहते हैं।

अर्थात् दोष प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करने से निश्चित दोष प्रकुपित होकर अपने समान दूष्यों को दूषित कर विकार उत्पन्न करते हैं वह विकार दोष, दूष्य के गुणों के अनुरूप उत्पन्न होते हैं। जैसे-

(1) वात पित्त जन्य ज्वर में तृष्णा, मूर्च्छा, भ्रम आदि।

(2) वात श्लेष्म ज्वर में स्तैमित्य, पर्व भेद, निद्रा आदि।

(3) श्लेष्म पित्त जन्य ज्वर में तन्द्रा, मोह, कास आदि प्रकृति सम समवेत लक्षण होते हैं।

प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारण भावसम्बन्ध प्रकृतिसमसमवायः। अर्थात् रोग की प्रकृति अर्थात् निदान या कारण के समान समवाय या कार्यकारणसम्बन्ध का होना प्रकृतिसमसमवाय कहलाता है। निदान के अनुरुप लक्षण उत्पन्न होना प्रकृति समसमवेत का उदाहरण है। जैसे सफेद तन्तुओं से बना हुआ कपड़ा सफेद ही होता है।

2. विकृति विषम समवेत :- न त्वेवं खलु सर्वत्र। न हि विकृति विषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोपहतानामन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुंशक्यम्।।

(च. वि. 1/10)

विकृतिविषमसमवेत- विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणानुरुपाः समवायो विकृति विषमसमवायः।

विकृति विषम समवेत के (3) कारण होते हैं :-

(1) नानात्मकानां - एक दोष का प्रकोप नाना प्रकार के हेतुओं से होने के कारण एक ही दोष समधर्मी अथवा विषमधर्मी दूष्यों के साथ संयुक्त होकर अनेक प्रकार के लक्षण उत्पन्न करते हैं।

(2) परस्परेण च उपहतानां - अनेक हेतुओं से दुष्ट हुआ प्रबल दोष दुर्बल दोष के प्रभाव को नष्ट कर देता है।

(3) अन्यैश्च विकल्पनैर्विकल्पितानाम् - दोष भिन्न-भिन्न निदानों के संयोग से दूषित होकर अनेक दूष्यों को दूषित करते हैं।

निदान सेवन करने पर दो दोष दूषित होते है परन्तु उनमें एक दोष प्रधान होने के कारण दुर्बल दोष के प्रभाव को दिखाई नहीं देने देते हैं दो दोषों के मिलित रूप तद् अनुसार नहीं होते है वरन् दोषों की दुष्टि से भिन्न होते है। जैसे-

1. वातपित्तजन्य ज्वर में रोमहर्ष व अरुचि दोनों विकृति विषमसमवेत लक्षण होते है यह न तो वात क ही लक्षण और ना ही पित्त के लक्षण होते हैं।

2. वात कफ ज्वर में स्वेदप्रवृत्ति व सन्ताप दोनों विकृति विषमसमवेत लक्षण होते है यह न तो वात के ही लक्षण है और ना ही कफ के ही लक्षण होते हैं।

3. कफ पित्त ज्वर में मुहुर्दाह व मुहु: शीत विकृति विषमसमवेत लक्षण है यह न तो कफ के ही लक्षण है और ना ही पित्त के ही लक्षण होते हैं।

विकृति के कारण विषम अर्थात् कारण के विपरीत समवाय या कार्य कारण सम्बन्ध को विकृतिविषमसमवाय कहते है। जैसे पीले रंग वाली हल्दी और सफेद चूने के संयोग से विषम लाल रंग की उत्पत्ति होती हैं।

व्याधि व लक्षण में भेद

	व्याधि	लक्षण
1.	दोषों के षट्क्रियाकाल द्वारा क्रमिक परिवर्तन फलस्वरूप उत्पन्न होती हैं।	1. दोषों की संचयावस्था से ही उत्पन्न हो जाती है।
2.	व्याधि स्वतन्त्र है	2. लक्षण परतन्त्र होते है अर्थात् लक्षण व्याधि के अनुरुप ही होते हैं।
3.	व्याधि लक्षणों का समूह होता है।	3. यह एकल रूप से विद्यमान होती है।
4.	व्याधि रूपी ज्वर में संताप आदि अनेक लक्षण मिलते हैं।	4. अकेला संताप, लक्षण रूप में मिल सकता है।
5.	दोष व दूष्य के संयोग से व्याधि होती है।	5. दोष का दुष्टि स्वरूप ही लक्षण उत्पन्न कर सकता हैं।
6.	व्याधि की उत्पत्ति विशिष्ट सम्प्राप्ति के पूर्ण होने पर ही होती है।	6. व्याधि के अलग-अलग लक्षणों के लिये अलग-अलग सम्प्राप्ति का निर्माण नहीं होता है।
7.	रोग में रुजा होना प्राधान्य लक्षण है। अत: व्याधि विपरीत चिकित्सा व्याधि के व्यक्तावस्था में ही की जाती हैं।	7. हेतु अथवा लिंग विपरित चिकित्सा प्रसरावस्था में की जा सकती है।
8.	व्याधिसाकर्य- अनेक व्याधियों के एक साथ विद्यमान होने को व्याधि सांकर्य कहते हैं।	8. लिंगसांकर्य- व्याधि के अन्तर्गत विभिन्न लक्षणों का समूह देखा जाता है जिसे लिंग साकर्य कहते हैं।

Symptoms

1. Any change in the body or its functions as perceived by the patient
2. A symptom represents the subjective experience of disease
3. Symptoms are described by patients in their complaint or history of present illness.

Symptoms are analysed under following headings

1. Onset - gradual or sudden
2. Precipitating factor
3. Characteristics -
   - Character of pain- Spasmodic, thrombing, dull etc.
   - Location - Site of Pain
   - Radiation - pain radiation to differnt parts of body.
   - Severity - Mild, moderate or severe pain
   - Timing - Pain aggrvate after having food or in morning.
   - Aggrevating factor - Sleep, sunexposure etc.
   - Relieving factor - rest, intake food etc.
4. Associated symptoms - Course since, onset
5. Incidence
6. Progress
7. Effect of therapy

Sign

Any objective evidence of a disease such as evidence is perceptable to the examining physician.

Sign are objective finding observed by health care providers during examination of patients.

उपशय

गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयनुपशयाभ्यां परीक्षेत्। (च. वि. 4/8)

किसी व्याधि के लक्षण अति अल्प हो अथवा छुपे हुये हो तो रोगों का निदान (Diagnosis) उपशय व अनुपशय द्वारा किया जाताहै।

जैसे शोथ स्नेहन, उष्ण उपचार तथा मर्दन से शांत होता है स्नेहनादि को उपशय कहते हैं।

परिभाषा

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः।।

(च. वि. 1/10)

हेतुविपरीत, व्याधिविपरीत, हेतुव्याधिविपरीत, हेतुविपरीतार्थकारी, व्याधि विपरीतार्थकारी, हेतुव्याधिविपरीतार्थ-कारी औषध, अन्न और विहारके सुखावह उपयोग को उपशय कहते है। विपरीतार्थकारी = **'सम् समं शमयति' या**

'विषस्य विषमौषधेम्' के सिद्धान्त पर आधारित है विपरितार्थकारी द्रव्य निदान के समान होते हुये भी व्याधि का शमन करते है क्योंकि इनके सेवन से धातुवैषम्य की वृद्धि होगी जिससे प्रारम्भ में रोग की वृद्धि होकर पश्चात् दोषों का निर्हरण हो जाने से रोग भी शान्त हो जाता है इस प्रकार विपरीतार्थकारी द्रव्य प्रयोग से व्याधि का शमन होता है।

सुखानुबन्ध इति सुखरुपोऽनुबन्धः।

अनुबन्धश्च सुखकरणमित्यर्थः।

अयश्चोपशयो गूढलिङ्गे चव्याधौ ज्ञानोपायो भवति। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि टीका)

अत्र च विपरीतार्थकारी तदेवोच्यते यद्विपरितितयाऽऽपाततः प्रतीयमानं विपरीतस्यार्थं प्रशमलक्षणं करोति। (चक्रपाणि टीका)

चक्रपाणि के अनुसार उपशय का प्रयोग गूढ लिङ्ग के ज्ञान उपाय के लिए किया जाता है। उपशय के प्रयोग द्वारा सुख का अनुबन्ध अर्थात् पश्चात् काल में आरोग्य के रूप में सुख उत्पन्न करने वाला होता हैं। उपशय को सात्म्य भी कहा जाता हैं।

हेतुव्याधिविपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्।।

विद्यादुपशय व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः। विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः।।

(अ. हृ.नि. 1/6-७)

हेतु विपरीत, व्याधि विपरीत, हेतु व्याधि विपरीत तथा हेतु विपरीतार्थकारी, व्याधिविपरीतार्थकारी और हेतु व्याधि उभय विपरीतार्थकारी, औषध, अन्न तथा विहार के परिणाम में सुखदायक उपयोग को उपशय कहा जाता हैं। इसी का नाम सात्म्य भी हैं। उपशय के विपरीत अनुपशय होता हैं। इसका दूसरा नाम व्याध्यासात्म्य है। मधुकोश ने संक्षेप रूप में उपशय की परिभाषा निम्न दी है।

औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशयः। (मा. नि. मधुकोश टीका)

सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणम्। (मा. नि. मधुकोश टीका)

औषध, अन्न, विहार, देश, काल आदि से उत्पन्न सुख परम्परा को उपशय कहते हैं। यहाँ सुखावह का तात्पर्य यह है कि जो उत्तर काल में सुखकारक हो। जैसे- दाह और तृष्णा से युक्त नवज्वर में रोगी को शीतल जल पिलाना तत्काल सुखकारक होते हुए भी परिणाम में दुखकारक होने से उपशय नहीं हैं।

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते, सात्म्यर्थो ह्युपशयार्थः। (च. वि. 1/20)

जो अपनी आत्मा के लिए सुखकारी हो उसे सात्म्य कहा जाता है। सात्म्य तथा उपशय एकार्थवाची शब्द हैं।

आनूप आदि देशों के विपरीत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव आहार, औषध एवं चेष्टा से रोग एवं उसके हेतु के विपरीत अर्थ की प्राप्ति हो या रोग का शमन हो उसे सात्म्य कहा जाता है।

उपशय के भेद - आचार्य चक्रपाणि ने 18 प्रकार के उपशयों का वर्णन किया है।

1. हेतुविपरीत औषध-

हेतुविपरितमौषधम्, यथा शीतकफज्वरे शुण्ठयद्युष्णं भेषजम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

ये च शीतकृता रोगास्तेषां मुष्णं भिषगजितम् (च. नि. 1/10 गंगाधर टीका)

शीतजन्य कफज्वर में शुण्ठी सदृश्य उष्ण औषध का प्रयोग सुखा वह होता है। शुण्ठी उष्ण एवं कफ नाशक होने के कारण शीतकफज्वर को नष्ट करती है। आचार्य गंगाधर के कहा कि उष्णताजन्य रोगों की शान्ति शीत प्रयोग से तथा शीतजन्य रोगों की शान्ति उष्णप्रयोग से करते हैं।

2. हेतु विपरीत अन्न-

हेतुविपरीतमन्नं, यथा श्रमानिलजे ज्वरे स्नौदनः। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

श्रमजन्य वात ज्वर में स्निग्ध एवं तर्पक मांसरस युक्त भात देना चाहिये।

3. हेतुविपरित विहार -

हेतुविपरीतो विहारः यथादिवास्वप्नोत्थकफे रात्रौ जागरणम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

दिवास्वप्न जन्य कफ के नाश के लिये रात्रिजागरण उपयुक्त होता है।

4. व्याधि विपरीत औषध-

व्याधि विपरीतमौषधम्, यथा अतिसारेस्तम्भनं पाठादि। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

व्याधिविपरीतमौषधं यथा रौक्ष्यगुणतो वातवृद्धौ स्निग्धं भद्रदार्वादिकम् अतिसारे स्तम्भनं पाठादि। विषे शिरिषः। कुष्ठे खादिरः प्रमेहे हरिद्रा। तृष्णाहनादिकम् दशकं दशकम्। (च. नि. 1/10 गंगाधर टीका)

अतिसार में पाठा तथा कुटज स्तम्भक होने से व्याधिविपरीत औषध है। शिरीष विष को, खदिर कुष्ठ को और हरिद्रा प्रमेह को नष्ट करने वाली औषध है, यह द्रव्य दोष विशेष की अपेक्षा न करते हुये प्रभाव से रोग को शान्त करते हैं अतः इन्हें व्याधिविपरीत औषध कहते हैं।

व्याधि प्रत्यनीक औषध द्रव्य न केवल व्याधि को नष्ट करते है वरन् दोष को भी शान्त करते हैं।

5. व्याधिविपरीत अन्न-

व्याधिविपरीतमन्नं यथा अतिसारे स्तम्भनं मसूरादि। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

अतिसार में स्तम्भन के लिए मसूर का प्रयोग हितकर है।

6. व्याधिविपरीत विहार - व्याधिविपरीतो विहारः, यथा उदावर्ते प्रवाहणम् (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

व्याधिविपरीत विहारस्तु रौक्ष्यगुणतो वातवृद्धौ दिवानिद्रा। (च. नि. 1/10 गंगाधर)

उदावर्त में प्रवाहण करना चाहिये। वात व्याधि में दिवा स्वप्न का निर्देश किया गया है। यह व्याधि विपरित विहार का उदाहरण है।

7. हेतुव्याधिविपरीत औषध-

हेतुव्याधिविपरीतमौषधं, यथा वातशोथे वातहरं शोथहरञ्च दशमूलम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि 3)

वातिक शोथ में दशमूल क्वाथ देना चाहिये। यह शोथ का हेतु वात एवं शोथ का विरोधी होने के कारण हेतु व्याधिविपरीत औषध कहा जाता है।

8. हेतुव्याधि विपरीत अन्न-

हेतु व्याधिविपरीतमन्नं, यथा शीतोत्थ ज्वरे उष्ण ज्वरघ्नी च यवागूः। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

शीत जन्य वात से होने वाले ज्वर में पेया का प्रयोग किया जाता है। पेया उष्णवीर्य होने से शीतजन्य वात को तथा प्रभाव से ज्वर को नष्ट करती है।

अन्य उदाहरण - वातजन्य या कफजन्य ग्रहणी में तक्र प्रयोग कराया जाता है,यह वात या कफ दोष और ग्रहणी रोग दोनों को नष्ट करती है।

9. हेतुव्याधिविपरीत विहार

हेतुव्याधिविपरीतो विहारः, यथास्निग्ध दिवास्वप्नजायां तन्द्रायां रुक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

स्निग्ध पदार्थों के सेवन तथा दिन में सोने से उत्पन्न तन्द्रा को दूर करने के लिये रुक्ष विहार और रात्रि जागरण करना चाहिये।

10. हेतुविपरीतार्थकारी औषध

हेतुविपरीतार्थकाय्यौषधं, यथापित्तप्रधाने पच्यमाने शोथेपित्तकर उष्ण उपनाहः। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

यद्यपि पित्तके बिना पाक नहीं होता है। (न पाक पिताहते) तथापि पित्त प्रधान पच्यमान (पाक को प्राप्त) शोथ पर पित्त वृद्धि कारक उष्ण उपनाह लगाने से लाभ होता है। उपनाह रोगोत्पादक हेतु के समान होते हुये भी रोग की शान्ति करता है, क्योंकि उष्ण उपनाह द्वारा पित्त को उभाड़ कर बाहर निकाल दिया जाता है।

11. हेतुविपरितार्थकारी आहार-

हेतुविपरितार्थकार्य्यान्न, यथा पच्यमाने पित्तप्रधाने शोथे विदाहि अन्नम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

पित्तप्रधान शोथ (फोड़े) में विदाही अन्न का सेवन करना।

हेतुविपरितार्थकार्य्यान्नं यथा रुक्षाहारतियोगजे शुक्रक्षये रुक्षः पुराणगोधूमो वृष्यः।

(च. नि. 1/10 गंगाधर)

शुक्रक्षये में रुक्ष पुराण गोधूम का प्रयोग करने से वृष्य वत् गुणवृद्धि होती है।

12. हेतुविपरीतार्थकारी विहार-

हेतुविपरीतार्थकारी विहारः यथा वातोन्मादे संत्रासनम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि टीका)

यद्यपि भय से वायु की वृद्धि होती है क्योंकि 'कामशोक भयाद्वायु' काम, शोक, भय आदि वात प्रकोपक विहार है, तथापि वातिक उन्माद में रोगी को भय दिखाना वात वर्धक होते हुये भी प्रभाव से रोग की शान्ति करता है।

13. व्याधिविपरीतार्थकारी औषध-

व्याधिविपरीतार्थकारयौषधं, यथा छर्द्या वमन कारकं मदनफलादि। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

छर्दि रोग में मदनफल से वमन कराना व्याधिविपरीतार्थकारी औषध का उदाहरण है। इस प्रकार वमन द्वारा दोष निर्हरण होने से रोग शांति हो जाती है।

14. व्याधिविपरीतार्थकारी अन्नः-

व्याधिविपरीतार्थकार्य्यन्नं, यथा अतिसारे विरेक कारकं क्षीरम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

अतिसार को दूर करने के विचार से क्षीर का प्रयोग किया जाता है यह अतिसारजनक होते हुए भी समस्त दोषों का शोधन कर अतिसार को शांत करता है।

15. व्याधिविपरीतार्थकारी विहार-

व्याधिविपरीतार्थकारि विहारो यथाछर्द्यां वमन साध्यायां वमनार्थे प्रवाहणम्। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

छर्दि में वमन कराने के लिए प्रवाहण करते हैं। इससे दोष बाहर निकल जाता है और रोग की शांति भी हो जाती है। जैसे गले में दो अंगुलियाँ डालकर क्षोभ उत्पन्न करने से समस्त दोष आसानी से बाहर आ जाते हैं।

16. हेतु व्याधि विपरीतार्थकारी औषध-

हेतुव्याधिविपरीतार्थकार्य्यौषधं, यथा अग्निना प्लुष्टेऽगुर्वादिना लेपः। ऊष्णं हि हेतावाग्नौ व्याधौ च दाहेऽनुगुणं प्रतिभाति।। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

अग्निदग्ध में उष्णगुणयुक्त अगुरु आदि का लेप करने से यह हेतु और व्याधि के समान होते हुए भी उसके विपरीत कार्य को करता है जिससे रोग शांत हो जाता है।

अथोभयविपरीतार्थकारि चौषधं यथा। कटुम्लोष्णाहारात् पित्तवृद्धौ अम्लमामलकं पित्तहरम्। जाङ्गम विषे मौलविषं मौले जाङ्गमम्।। (च. नि. 1/10 गंगाधर)

कटु, अम्ल रस प्रधान आहार ग्रहण करने से पित्त की वृद्धि होती है इस पित्त के हरण के लिये अम्लरस प्रधान आमलक का प्रयोग करना।

जाङ्गम विष के लिए स्थावर विष और स्थावर विष के लिये जङ्गम विष का प्रयोग इसके स्पष्ट उदाहरण है।

17. हेतु व्याधिविपरीतार्थकारि अन्न-

हेतुव्याधिविपरीतार्थकार्य्यन्नं, यथा मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम्।।

(च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

मद्यपानजन्य मदात्यय में (पिये हुए मद्य के विपरीत गुण वाले) मदकारक मद्य के पीने से लाभ होता है।

18. हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी विहार :-

हेतुव्याधिविपरीतार्थकारि विहारः, यथा व्यायामजनित सम्मूढ़वाते जलप्रतरणादिरूपो व्यायामः। अयं हेतौ व्यायामे व्याधौ च सम्मूढ़ वातेऽनुगुणः प्रतिभाति। (च. नि. 1/10 चक्रपाणि)

व्यायाम से उत्पन्न सम्मूढ़वात (उरुस्तम्भ) में जल में तैरने से रोग दूर होता है (शीतल जल और व्यायाम दोनों वातवर्धक होते हुये भी यहाँ वायु और उरुस्तम्भ रोग दोनों के शामक होते हैं।) अतः यह उभयविपरीतार्थकारी विहार-उपशय का उदाहरण है।

सम्प्राप्ति

रोग का ज्ञान निदान, पूर्वरूप आदि से सामान्य रूप से होता है। रोग का सम्यक् ज्ञान सम्प्राप्ति ज्ञान के बिना संभव नहीं क्योंकि दोष दूष्य की विकृत स्थिति को सम्प्राप्ति द्वारा ही जाना जा सकता है।

परिभाषा

यथादुष्टेन दोषेण यथाचानुविसर्पता।

निवृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः। (अ. ह. नि. 1/8)

दोष जिस प्रकार (प्राकृत आदि विविध) निदानों से दूषित होकर और जिस प्रकार (उर्ध्व आदि भिन्न गतियों के द्वारा शरीर में) विसर्पण करते हुये धातु आदि को दूषितकर रोग को उत्पन्न करता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं।

2. रोगों की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है। चक्रपाणिटीका के अनुसार

व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिशब्देन वाच्यम्।

अतएवपर्याये 'आगतिः' इति उक्तम्। (च. नि. 1/11 पर चक्रपाणि टीका)

व्याधिजनक दोषों के विविध व्यापारों एवम् परिणामों से युक्त व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है। अर्थात् निदान सेवन से लेकर दोषदुष्टि होना तत्पश्चात् लक्षणोत्पत्ति पर्यन्त सम्पूर्ण व्यापार परम्परा को ही सम्प्राप्ति कहा जाता है।

दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः न तु केवलं जन्म (मधुकोश टीका)

रोगोत्पादक दोष की रोगोत्पत्ति में जो इतिकर्तव्यता होती है उसी का नाम सम्प्राप्ति है यहाँ केवल व्याधि जन्म मात्र का ही ग्रहण नहीं करते अपितु रोगारम्भक दोष किस प्रकार दुष्ट हुआ है, तदनन्तर शरीर में उसके अनुधावन का क्या स्वरूप है इसका विवरण सम्प्राप्ति कहलाता है।

हेमाद्रि ने रोगोत्पादक दोष की दुष्टि के निम्न प्रकार बताये।

(1) दोष दुष्ट होना - दोषों के रूपों में वृद्धि अथवा हानि होना।

(2) दोषों का चलित होना - दोषों का अपने स्थान से च्युत होना अथवा प्रकृत मार्ग छोडकर मार्गान्तर में गति करना।

सम्प्राप्ति के पर्याय- जाति, आगति

1. जाति- **जती प्रादुर्भावे** धातु से जाति शब्द बना है।

जाति सम्प्राप्ति का पयार्यवाची शब्द है जिसका अर्थ है कि व्याधि का जन्म होना।

2. आगति - उत्पादक कारणों द्वारा व्याधि जन्म तक की प्रक्रिया को आगति कहते हैं।

आगतिर्हि उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्तं गमनम्। चक्रपाणि च. नि. 1/10

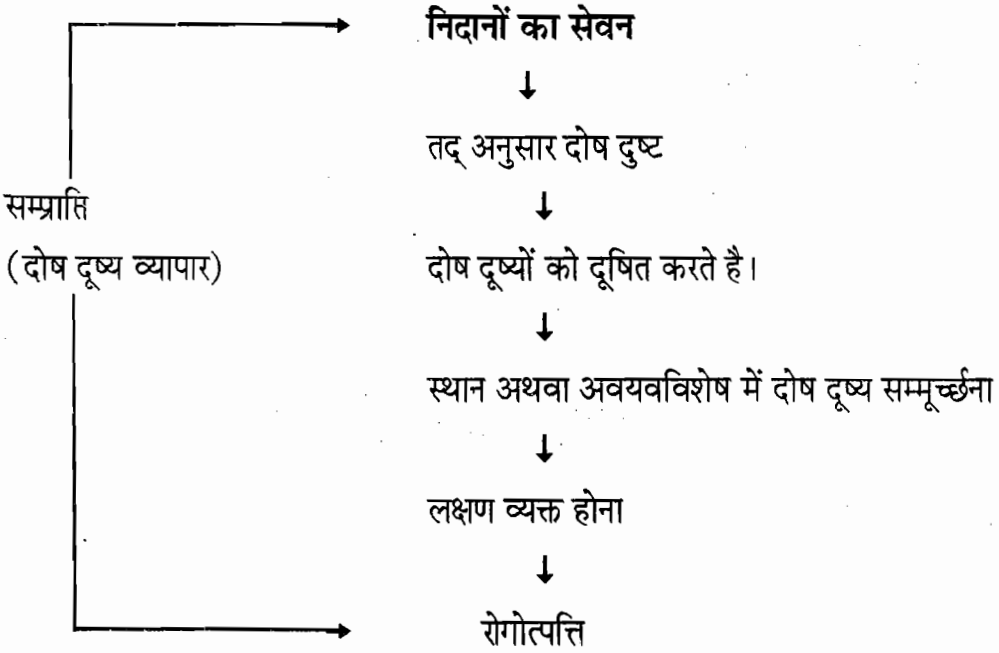

सम्प्राप्ति के भेद - आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार सम्प्राप्ति के 5 भेद बातये गये।

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। (अ. ह. नि. 1/9)

1. संख्या सम्प्राप्ति
2. विकल्प सम्प्राप्ति
3. प्राधान्य सम्प्राप्ति
4. बल सम्प्राप्ति
5. काल सम्प्राप्ति

आचार्य चरक ने ज्वरनिदानाध्याय में सम्प्राप्ति के 6 भेद बताते हुये विधि सम्प्राप्ति का अतिरिक्त वर्णन किया।

1. **संख्या सम्प्राप्ति**

संख्या तावद्यथा- अष्टौ ज्वराः, पञ्चगुल्माः, सप्त कुष्ठान्ये वमादिः। (च. नि. 1/12)

संख्या सम्प्राप्ति द्वारा रोगों के भेदों की गणना की जाती है। यथा- ज्वर के आठ प्रकार, गुल्म पाँच प्रकार का कुष्ठ सात प्रकार का इत्यादि।

रोगों के भेदों के अनेक आधार है जिन्में से प्रमुख का वर्णन किया जा रहा है।

1. दोषानुसार ज्वर के आठ भेद

1. वातज, 2. पित्तज, 3. कफज, 4. वातपित्तज, 5. वातकफज, 6. पित्तकफज, 7. सन्निपातज, 8. आगन्तुज

2. दूष्यों के आधार - दूष्यों के आधार पर भी व्याधियों के भेद किये गये हैं।

विषम ज्वर के 5 भेद (मधुकोश टीकानुसार दूष्यों के वर्णन)

1. संतत ज्वर - रस धातु आश्रित
2. सतत ज्वर - रक्तधातु आश्रित
3. अन्येद्युष्क ज्वर - पिशिताश्रित
4. तृतीयक ज्वर - मेद आश्रित
5. चतुर्थक ज्वर - अस्थिमज्जाश्रित

3. स्त्रोतसों के आधार पर रोगों के भेद

1. आमाशयगत विष
2. पक्वाशयगतविष

4. दोषों की गति के आधार पर रोगों के भेद

कामला के 2 भेद -
1. शाखाश्रित कामला,
2. कोष्ठाश्रित कामला

रक्तपित्त के 3 भेद -
1. अधोगतरक्तपित्त
2. उर्ध्वगतरक्तपित्त
3. उभयगत रक्तपित्त

आदि अनेक संख्याओं के आधार पर व्याधियों के भेद जाने जाते हैं।

2. विकल्प सम्प्राप्ति

दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांश कल्पना। (अ. हृ. नि. 1/10)

समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबल विकल्पोऽस्मिन्नर्थे। (च. नि. 1/194)

व्याधि से सम्बद्ध दोषों की अशांश कल्पना को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं।

चरक के अनुसार दोषों के अधिक अंशों अथवा अल्प अंशों द्वारा उत्पन्न व्याधि की सम्प्राप्ति को विकल्प सम्प्राप्ति जाना जाता है।

वात के रुक्षादि गुणों को अंश कहते हैं। इन गुण समूहों में एक, दो, तीन या समस्त अंशों से वात आदि के प्रकोप का निश्चय करना ही अंशाश कल्पना कहलाता है।

जैसे

(1) कलाय – वात के सम्पूर्ण अंशों को प्रकुपित करता है।

(2) तण्डुलीयक (चौलाई)– रुक्षता, शीतता, लघुता इन तीन गुणों से वात को केवल तीन अंशों से प्रकुपित करता है।

(3) ईक्षुकाण्ड – इसमें रूक्षता तथा शीतता दो गुण होते हैं अत: यह शरीर में वात के दो अंशों को ही कुपित करता है।

(4) सीधू – इसमें रुक्षता ही एक मात्र गुण है यह वात को एक अंश से ही कुपित करता है।

पित्त उष्ण, तीक्ष्ण, स्नेह, द्रव, अम्ल, सर, कटु आदि गुण होते हैं।

1. मद्य व कटुरस– पित के समस्त गुण विद्यमान है अत: यह पित्त का सर्वांश में प्रकोप करता है।

2. हिंगु – कटु, तीक्ष्ण, उष्ण तीन गुण होते है अत: यह शरीर में पित्त के तीन अंशों को ही कुपित करता है।

3. यवानी - तीक्ष्ण व उष्ण दो गुण होते है यह पित्त को दो अंशों को ही कुपित करता है।

4. तिल – केवल उष्णता गुण होने के कारण पित्त को एक अंश से ही कुपित करता है।

कफ में गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर, पिच्छिल गुण है।

1. माहिष दुग्ध, मधुर रस में कफ के समस्त गुण विद्यमान होते हैं अत: यह कफ का सर्वांश प्रकोप करते हैं।

2. राजादन फल– स्निग्ध, गौरव, माधुर्य इन तीनों गुणों से कफ के तीनों अंशों को कुपित करता है।

3. कशेरु में शैत्य और गौरव दो गुण होते हैं अत: कफ को दो अंशों मे कुपित करते है।

4. क्षीरी वृक्षों के फल केवल शैत्य गुण के कारण एक अंश में ही कफ को कुपित करते है।

3. प्राधान्य सम्प्राप्ति–

प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोतरस्त्रिषु तम इति। (च. नि. 1/10/2)

स्वातन्त्र्य पारतन्त्राभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्। (अ. ह. नि. 1/10)

व्याधि से सम्बन्धित दोषों की स्वतन्त्रता एवम् परतन्त्रता के आधार पर व्याधि की प्राधान्य व अप्राधान्य सम्प्राप्ति का निर्देश करना चाहिये।

रोगोत्पादक मुख्य दोषों की स्वतन्त्रता का जिसके द्वारा ज्ञान हो उसे उस रोग की प्राधान्य सम्प्राप्ति और जिसके द्वारा गौण दोषों की परतन्त्रता का ज्ञान हो उसें उस रोग की अप्राधान्य सम्प्राप्ति कहते है।

प्राधान्य कहने पर अप्राधान्य का ज्ञान स्वत: हो जाता है। द्वन्द्वज में दो दोष और त्रिदोष में तीन दोष मिले होते है। उनमें से एक दोष रोग को उत्पन्न करने में स्वतन्त्र (प्रधान) होता है और अन्य दोष रोगोत्पादकता में गौण होने पर परतन्त्र होते है। चिकित्सा सूत्र का निर्धारण मुख्यत: प्राधान्य सम्प्राप्ति के अनुसार किया जाता है अर्थात् प्रधान दोष की चिकित्सा की जाती है व अप्रधान दोष की वृद्धि नहीं होने दी जाती है। आचार्य चरक ने रोगोत्पादक दोषों को प्रधानता व अप्रधानता के आधार पर तर तथा तम नाम से सम्बोधन किया है। वात यदि सर्वाधिक अंशों से कुपित है तो उसे वृद्धतम कहा जाता है। पित्त अपेक्षाकृत वात से कुछ कम अंशों में प्रकुपित हो तो वृद्धतर कहा जाता है तथा कफ सबसे

कम अंशों में कुपित है तो उसे वृद्ध ही सम्बोधन किया जाता है। दोषों की दुष्टि एक, द्वि अथवा त्रिदोषों से अथवा, साम निराम प्रकार से अथवा प्राकृत, वैकृत अथवा अनुबन्ध्य, अनुबन्ध रूप से अनेक प्रकार की होती है। इसी प्रकार दोष सामान्य प्रमाण में रहते हुये अथवा विकृत प्रमाण में रहते हुये कभी उर्ध्व, अध: अथवा तिर्यक गति करते है कभी शाखा, मर्मास्थि, सन्धि भेद से दोषों की गति विविध प्रकार की होती है।

इस प्रकार कभी दोष दुष्टि रूप में अथवा दुष्ट गति करते हुये, किसी स्त्रोतस में रुककर, धातु और मलों को दूषित करके रोगोत्पत्ति उत्पन्न करते है इस प्रकार दुष्टि से लेकर रोगोत्पत्ति पर्यन्त समस्त व्यापार सम्प्राप्ति कहा जाता है।

ज्वर की उत्पत्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि

स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्त्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य प्रपीडयन् केवलं शरीरमनुप्रपद्यते, तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति। (च. नि. 1/26)

1. स यदा प्रकुपित - वात अथवा पित्त अथवा कफ प्रकोपक आहार विहार सेवन से दोष दुष्ट होते है।

2. प्रविश्य आमाशय - कुपित हुये दोष आमाशय में प्रवेश कर (संचालित रूप में दुष्ट होकर स्त्रोतस में रुक जाते हैं)

3. उष्मणा सह मिश्रीभूयाद्यआहार परिणामधातु - कुपित हुये दोष आमाश्यस्थ अग्नि को दूषित करते है जिससे वहा उत्पन्न होने वाला आद्य रस धातु भी दूषित होना प्रारम्भ हो जाता है-

4. पंक्तिस्थानदूष्माणंबहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते- अग्नि पक्ति स्थान से बाहर निकलकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाती है।

5. रसस्वेदवहस्त्रोतांसि प्राप्त - दोष आद्य रस धातु के साथ मिलकर रस व स्वेदवह स्त्रोतसों के मार्ग को अवरोधित कर देती हैं। जिससे स्वेद प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। सम्पूर्ण शरीर में फैली हुई अग्नि से उत्पन्न संताप स्वेदवहस्त्रोतस में अवरोध से बाहर नहीं निकल पाता है।

6. अग्निमांद्य के कारण ज्वर की चिकित्सा में सर्वप्रथम लंघन और पांचन करना आवश्यक हैं।

7. स्वेदवहस्त्रोतस में अवरोध होने से शरीर की उष्णता बाहर न निकलकर सम्पूर्ण देह में फैलती है तब स्वेदवहस्त्रोतस के अवरोध को दूर करने के लिये निवात स्थान में वस्त्र ढककर, शयन, उष्ण जलपान, स्वेदोपग द्रव्यों (द्राक्षा) का प्रयोग करने से स्वेद प्रवृत्ति होकर ज्वर संताप कम होता है।

इसी क्रम में जानकर ही चिकित्सा का निर्धारण करते है। आचार्य योगरत्नाकर ज्वर के चिकित्साक्रम को इस प्रकार उद्घृत किया।

ज्वरादौ लंघनं कुर्यात् ज्वर मध्ये तुपाचनम्। ज्वरान्तेशमनं कुर्यात् ज्वरमोक्षे विरेचनग्। (योगरत्नाकर)

प्रारम्भ में अग्निमांद्य होने के कारण लंघन करना चाहिये, अग्नि दीप्त होने पर पाचन द्रव्य द्वारा आम रस धातु को निराम धातु में परिवर्तित करना चाहिये, ज्वरान्त होते होते अग्नि दीप्त हो जाने पर ही शमन औषधि को प्रयोग करना चाहिये, जिससे औषध सम्यक् रूप से पक्व होकर ज्वर को शान्त करे। ज्वर के अन्त में उष्णगुणकारक पित्त का विरेचन कर शोधन किया जाता है। रोगोत्पत्ति की इस प्रक्रिया को ही दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना कहते है।

जिसमें निम्न व्यापार परम्परा का ज्ञान आवश्यक है।

निदान सेवन

↓

दोष प्रकोप

↓

अग्नि नष्ट - आम उत्पन्न- आद्य आम रस उत्पन्न

↓

सामदोष व रस

सम्मूर्च्छित (दोष धातु मूर्च्छना)

4. बल सम्प्राप्ति- बलकालविशेषः पुनर्व्याधिनामृत्वहोरात्राहार कालविधि नियततः भवति।

(च. नि. 1/10/5)

हेत्वादि कात्स्न्यांवयवैर्बलाबल विशेषणम्। (अ. ह. नि. 1/10)

निदान, पूर्वरूप एवम् रूप के आधिक्य अथवा अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान जिससे होता है उसे बल सम्प्राप्ति कहते हैं।

जैसे निदान, पूर्वरूप, रूप जितने अधिक प्रकट होते हैं व्याधि का बल उतना ही अधिक होता है और उसे सबल व्याधि जानना चाहिये। इसके विपरीत निदान, पूर्वरूप, रूप का कम प्रकट होने पर व्याधि का बल उतना ही कम होता है उसे निर्बल व्याधि जानना चाहिये। जिस व्याधि में निदान पूर्वरूपादि बहुत कम न हो अर्थात् मध्यम रूप में हो तब उसे मध्यमबल वाली व्याधि जानना चाहिये।

सबल व्याधि की चिकित्सा पूर्ण सावधानी से शीघ्र प्रारम्भ कर देनी चाहिये।

5. काल सम्प्राप्ति-

जिसमें रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के आदि, मध्य और अन्त के अनुसार दोष विशेष का निश्चय किया जाता है उसे काल सम्प्राप्ति कहते हैं।

रात्रि, दिन, ऋतु तथा भोजन के आदि में कफ, मध्य में पित्त तथा अन्त में वात का प्रकोप होता है एवं उस काल में उस दोष विशेष से सम्बन्धित रोग की उत्पत्ति होती है।

कफज व्याधियों की उत्पत्ति या वृद्धि प्रातःकाल, रात्रि के आरम्भ या भोजन के तुरन्त बाद होती है।

पित्तज व्याधियों की उत्पत्ति या वृद्धि मध्याह्न काल, मध्यरात्रि या भोजन के मध्य में होती है।

वातिक व्याधियों की उत्पत्ति या वृद्धि सांयकाल, रात्रि के अन्त या भोजन के पूर्ण पच जाने पर होती है।

बसन्त, शरद, तथा वर्षा ऋतु में क्रमशः कफ, पित्त, वात दोष का प्रकोप या इनके रोगों की उत्पत्ति होती है।

आचार्य चरक ने एक अतिरिक्त संप्राप्ति भेद का वर्णन किया।

6. विधि सम्प्राप्ति

पण्डित गंगाधर कविराज के अनुसार

अत्रविधिस्तु प्रकारः, संख्या तु भेदमात्रम् सजातीयविजातीयेषु पञ्च ब्राह्मणक्षत्रियाः प्रकारस्तु सजातीयेषु भिन्नेषु धर्मान्तरेण उपपत्ति। (च.नि.1/2 गंगाधर टीका)

विधि शब्द का अर्थ प्रकार है उसका प्रयोग भिन्न जाति के व्यक्तियों में नहीं किया जा सकता है यथा गोत्व गौ में ही रह सकता है। अश्व में नहीं। किन्तु गौ भी अनेक प्रकार की होती है और उनका भेद किसी विशेष धर्म के आधार पर करना होगा तो उसे विधि कहेंगे। तात्पर्य यह है कि संख्या आदि के द्वारा रोगों का भेद कर देने पर भी चिकित्सोपयोगी धर्मभेद के प्रतिपादनार्थ विधि का कथन अवश्य करना चाहिये।

शास्त्र में विधि शब्द के प्रयोग तथा संख्या शब्द के प्रयोग के अनेक उदाहरण उपलब्ध है। इन दोनों के उचित अर्थक्षेत्र की मर्यादा का ज्ञान करना परमावश्यक है। इसका निरुपण वाप्यचन्द्र ने किया कि विधि और संख्या में भेद केवल इतना है कि विधि का अर्थ प्रकार है और उसका प्रयोग एक ही जाति के अन्तर्गत दो या दो से अधिक व्यक्तियों में भेद प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है। यथा त्रिविधं रक्तपित्तम-तिर्यगूर्ध्वाधोगभेदात्। यथा तिर्यग्, उर्ध्वग और अधोग में रक्तपित्त जाति समान होने के कारण विधि भेद कहते है।

जबकि संख्या का प्रयोग धर्म निरपेक्ष व्यक्ति भेद की गणना मात्र है। अर्थात् पृथक् वस्तुओं की गणना, बिना किसी विशिष्ट धर्म के विचार किये रोगों का भेद करना संख्या सम्प्राप्ति है। संख्या का प्रयोग सर्वत्र किया जा सकता है।

यथा चत्वारो घटाः, अष्टौज्वरा, पञ्चगुल्माः, सप्तकुष्ठानि। (च.नि.1/11(2))

सम्प्राप्ति घटक

निदान पंचक में सम्प्राप्ति की उपयोगिता चिकित्सा निर्धारण में ही है। सम्प्राप्ति के विभिन्न भेद जैसे अंशाश, विकल्पना, बल, काल आदि को जाने बिना चिकित्सा करना सम्भव नहीं है।

सम्प्राप्ति को आगति इसलिये कहा जाता है क्योंकि निदान सेवन से लेकर दोषों का दुष्ट होना तत्पश्चात् दूष्यों को दुष्ट कर दोष दूष्य सम्मूर्च्छना उत्पन्न करना, तत्पश्चात् उत्तरकाल में व्याधि की उत्पत्ति होती है।

अतः निदान सेवन से लेकर व्याधि उत्पत्ति तक का व्यापार सम्प्राप्ति कहलाता है।

इस व्यापार के विभिन्न चरण होते है तथा प्रत्येक चरण में अलग-अलग घटकों की भूमिका होती है जो कि रोग का ज्ञान कराने व रोग की चिकित्सा निर्धारण करने में उपयोगी होती है।

व्याधिजनक दोष व्यापार विशेष युक्तं व्याधिजन्म सम्प्राप्ति। (च.नि. 1/11 चक्रपाणि टीका)

सम्प्राप्ति घटकों के विघटन को ही चिकित्सा कहा जाता हैं।

1. सम्प्राप्ति का प्रथम व्यापार निदान सेवन

- विभिन्न दोष प्रकोपक आहार विहार सेवन से रोग उत्पत्ति की प्रथम प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।
- प्रकुपित हुये दोषों का ज्ञान निदान सेवन से होता है।

2. सम्प्राप्ति व्यापार का द्वितीय घटक दूष्य यह रोगोत्पत्ति का दूसरा महत्वपूर्ण घटक होता है।

दोष, प्रकृति समसमवेत रुप से दुष्टि द्वारा उत्पन्न कर समान गुणधर्मों वाले दूष्यों को प्रभावित करते हैं।

दोष, विकृति विषमसमवेत रूप से दुष्ट होकर अपने गुण के विपरीत दूष्यों को प्रभावित करते है।

3. रोगोत्पत्ति व्यापार का तृतीय घटक- अधिष्ठान

यह रोगानुसार शरीर अथवा मानस अधिष्ठान हो सकता है। दोषों का मूल स्थान कोष्ठ ही होता है जहाँ वह दुष्ट होकर लक्षणों में वृद्धि अथवा क्षय करते है तथा यही से दोष चलित होते हैं।

4. रोगोत्पत्ति व्यापार का चतुर्थ घटक- स्रोतस

दोष प्रधान अधिष्ठान से चलित होकर जिस स्रोतस में वैगुण्य होता है, वहां रुक कर धातुओं को दूषित करते है जिससे दोष दूष्य सम्मूर्च्छना द्वारा स्रोतो दुष्टि के लक्षण दिखाई देते हैं। अत: यह रोगोत्पत्ति व्यापार का चतुर्थ घटक होता है।

5. रोगोत्पत्ति व्यापार का पंचम घटक- स्रोतोदुष्टि

स्रोतसों में दुष्टि के चार भेद का वर्णन आचार्य चरक ने किया है।

अतिप्रवृत्ति: सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।

विमार्गगमनं चापि स्त्रोतसां दुष्टिलक्षणम्।। (च. वि. 5/24)

स्रोतसों के दुष्ट होने से धातु अथवा मलों की अतिप्रवृति अथवा धातु व मलों का संग हो जाता है अथवा स्रोतसों से निकलने वाली सिराओं में दोष दूष्य दुष्टि के कारण ग्रन्थि निर्माण होता है। अथवा कभी-कभी दोष स्रोतसों से निकल कर अन्य स्रोतसों में गमन कर आये अथवा अन्यमार्ग को प्राप्त होकर अन्य विकृति को उत्पन्न करे यह सभी रोगोत्पत्ति के महत्वपूर्ण घटक है। क्योंकि इसी के आधार पर चिकित्सा का निर्धारण किया जाता है।

6. रोगोत्पत्ति व्यापार का छठा घटक-अग्नि दुष्टि

दोषों के अनुसार शरीर की 13 प्रकार की अग्नि कभी तीक्ष्णता को प्राप्त होती है कभी मन्दता व कभी विषम होने के कारण रोग उत्पन्न करती है। इसी आधार पर दीपन पाचन द्रव्यों का निर्धारण किया जाता है।

7. अवस्था

दोषों की आम निराम अवस्था, दोष दूष्य की प्रबलता से आशुकारी व चिरकारी व्याधि अवस्था, उपद्रव अवस्था सम्प्राप्ति घटक का ही अंश है।

साम/निराम

आशुकारी/चिरकारी

उपद्रवावस्था

इसके द्वारा भी चिकित्सा का निर्धारण किया जाता है जैसे साम निरामावस्था में अग्नि को ध्यान में रखना है। आशुकारी व चिरकारी में दोष दूष्य सम्मूर्च्छना के बल का विचार करना चाहिये तथा उपद्रव अवस्था में प्रधान व्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये।

8. साध्यसाध्यता - अंतत: परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक व्याधि की साध्य व साध्यता का विचार करना है क्योंकि साध्य लक्षण होने पर ही चिकित्सा की जायेगी अन्यथा चिकित्सा योग्य व्याधि नहीं होने पर रोगी की चिकित्सा नहीं की जायेगी।

षट्क्रिया काल

दोष वृद्धि कारक आहार, विहार का सेवन निरन्तर करने व शामक आहारादि का यथावत् उपयोग न करने से दोषों की वृद्धि होती है। परिणामतया व्याधि उत्तरोत्तर बलवान् होती जाती है।

शरीर में दोष, धातु, मल की विषमता किसी प्रकार न हो और सम अवस्था बनी रहे इसीलिये 'क्रिया' (चिकित्सा) की जाती है अर्थात् दोष, धातु, मल में विषमता को न पैदा होने देना ही चिकित्सा का कर्म है। जिन क्रियाओं द्वारा दोष, धातु, मल सम हो जाते हैं वही विकारों की चिकित्सा है।

क्रियाकाल शब्द का विवेचन :-

'क्रियाकाल' में दोनों शब्द महत्त्वपूर्ण है :- क्रिया+काल

क्रिया का अर्थ है -चिकित्सा

तथा काल का अर्थ है-समय।

एतावत क्रियाकाल से तात्पर्य है :- "समयानुकूल चिकित्सा'।

क्रियाकाल का शाब्दिक अर्थ :- "चिकित्सा का अवसर"

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थान संश्रयम्।

व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्।। (सु. सू. 21/36)

आचार्य सुश्रुत द्वारा छः क्रियाकाल की अवस्थाऐं बताई हैं।

(1) संचय (2) प्रकोप (3) प्रसर (4) स्थान संश्रय (5) व्यक्ति (6) भेद इन अवस्थाओं को षट्क्रियाकाल की संज्ञा दी जाती है।

षट्क्रियाकाल का महत्त्व

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।

ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः।। (सु. सू. 21/37)

(1) क्रियाकाल की अवस्थाओं का महत्त्व बताते हुए सुश्रुत ने कहा है कि सञ्चयावस्था में यदि दोषों का निर्हरण कर दिया जाये तो वे उत्तर गति को प्राप्त नहीं होते। उत्तर गति (प्रकोप, प्रसरादि) प्राप्त होने पर वे उत्तरोत्तर अधिक बलवान हो जाते हैं।

(2) क्रियाकाल रोग वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं एवं रोगोत्पत्ति के क्रम को बताता है।

शीघ्र रोग विनिश्चय, शीघ्र ही उपयुक्त प्रतिबन्धक तथा रोग शामक उपायों के यथा समय प्रयोग करने हेतु क्रियाकाल की जानकारी आवश्यक है।

(1) संचयावस्था- प्रथम क्रियाकालः

एतानि खलु दोषस्थानानि, एषु सञ्चीयन्ते दोषाः। प्राक् सञ्चयहेतुरुक्तः। तत्र सञ्चितानां खलु दोषाणां स्तब्ध पूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति। तत्र प्रथमः क्रियाकालः।। (सु. सू. 21/18)

चयोवृद्धः स्वधाम्न्येव। (अ. ह. सू. 12/22)

वात-पित्त-कफ के अपने-अपने जो स्थान हैं उन स्थानों पर ये दोष संचित हो जाते हैं। इन संचित दोषों के लक्षण हैं :-

वात का संचय होने पर - स्तब्ध कोष्ठता, पूर्णकोष्ठता।

पित्त का संचय होने पर - पीतावभावसता, मन्दोष्मता।

कफ का संचय होने पर - अंग गौरव आलस्य,

तीनों दोषों में संचय के समय संचय के कारणों से (उस समय के आहार-विहार से) विद्वेष होता है। संचयकाल दोषों को पुनः साम्यावस्था में लाने का प्रथम अवसर है। अतः यह प्रथम क्रिया काल या चिकित्सा का प्रथम अवसर है।

यदि इस अवस्था में दोषों की शांति के उपाय किए जाऐं तो दोष उत्तर अवस्था को प्राप्त नहीं होते किन्तु ऐसा नहीं करने पर दोष उत्तर अवस्था में उत्तरोत्तर बलवान् होते जाते हैं। जिससे रोग भी कष्टदायी होता जाता है व चिकित्सा भी कठिन हो जाती है।

(2) प्रकोपावस्था - द्वितीय क्रिया काल :-

'कोपस्तून्मार्गगामिता' (अ. ह. सू. 12/23)

अर्थात् वातादि दोषों का जो उन्मार्ग गमन होता है वह 'प्रकोप' कहलाता है।

'विलयनरूपावृद्धिः प्रकोपः।' (डल्हण)

संचित दोष जब विलीन (गतिशील) हो जाए तथा अन्यत्र गमनोन्मुख हो तो उसकी इस अवस्था को प्रकोप कहते हैं।

प्रकोपावस्था में जो दोष अभी तक स्वस्थान में ही संचित थे वह फैलने और प्रकुपित होने लगते हैं। यदि दोषों की संचयावस्था में चिकित्सा न की जाय और दोषों को प्रकुपित होने के अनुकूल कारण मिल जाय तो दोषों का प्रकोप होना स्वाभाविक है। प्रकुपित दोष उन्मार्ग गामी हो जाते हैं तथा अपने लक्षणों को प्रकट करने लगते हैं। इस स्थिति में शरीर में अस्वस्थता हो जाती है तथा दोष प्रकोप की भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दोष प्रसरावस्था को प्राप्त हो जाते है।

मिथ्या आहार - विहार एवं ऋतुओं के स्वभाव वश भिन्न-भिन्न ऋतुओं में दोषों का प्रकोप होता है।

स्वाभाविक प्रकोप अपने काल स्वभाव से होता है। जैसे वर्षा में वायु का, शरद में पित्त का तथा वसन्त में कफ का प्रकोप होता है।

(अ) वात प्रकोपक कारण

(ब) पित्त प्रकोपक कारण

(स) कफ प्रकोपक कारण

प्रथम अध्याय में वर्णन किया जा चुका है।

दोषों के प्रकोप के लक्षण :-

तेषां प्रकोपात् कोष्ठ तोद सञ्चरणाम्लिकापिपासा परिदाहन्न द्वेष हृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रिया कालः।। (सु. सू. 21/27)

वात दोष प्रकोप के लक्षण :-

1. कोष्ठ तोद - उदर में सुई चुभने सी पीडा
2. सञ्चार - वायु का संचार

पित्त दोष प्रकोप के लक्षण :-

1. आम्लिका - अम्लोद्गार (खट्टी डकार)
2. पिपासा
3. परिदाह - शरीर में दाह

कफ दोष प्रकोप के लक्षण :-

1. अन्न द्वेष
2. हृदयोत्क्लेश - जी मचलाना

3. तृतीय क्रिया काल (प्रसरावस्था) :-

'प्रसर' का शाब्दिक अर्थ है- फैलना।

इस अवस्था में प्रकुपित दोष प्रसर कर सम्पूर्ण शरीर अर्थात् शरीरस्थ अंगों एवं विभिन्न रचनाओं में पहुँचते हैं।

इस प्रकार यदि दोषों के द्वितीय क्रियाकाल अर्थात् प्रकोपावस्था में शमन के उपाय न किए जाऐं प्रकुपित दोष एक स्थान से चलकर स्त्रोतसों द्वारा यत्र-तत्र फैल जाते हैं। अतः यह अवस्था 'प्रसरावस्था' कहलाती है।

चक्रपाणि ने प्रसरावस्था को एक उदाहरण स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार पिष्टी (चावल आदि से बने पदार्थ) तथा किण्व जल (सुराबीज, खमीर, यीस्ट) को मिलाकर रखने पर कुछ काल के उपरान्त उसमें किण्डवीकरण होकर जल आदि चारों तरफ पात्र से उद्रेक (उफान) युक्त होकर सर्व शरीर में फैलते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य ने "एतेन प्रकोपभेद एव प्रसरः।" कहकर प्रसर को प्रकोप का ही एक भेद माना है। इस प्रक्रिया में वायु ही इस प्रसरण का कारण है क्योंकि वायु रजोगुण प्राधान्य होती है और रजोगुण ही सब भावों का प्रवर्तक है।

जिस प्रकार जल के अतिसंचय एवं अधिक बढ़ जाने से सेतु को तोडकर दूसरे जल में मिलकर सर्वत्र फैल जाता है उसी प्रकार दोष भी अति संचित एवं प्रकुपित हो जाने के कारण पृथक्-पृथक् या दो मिलकर या सन्निपातज रूप से अथवा रक्त से मिलकर शरीर में फैलते हैं। प्रसर के पन्द्रह प्रकारों का उल्लेख सुश्रुत ने किया है।

(1) वात (2) पित्त (3) कफ (4) रक्त (5) वात-पित्त (6) वात-कफ (७) पित्त-कफ (8) वात रक्त (9) कफ रक्त (10) वात-पित्त-रक्त, (12) वात-कफ-रक्त (13) पित्त-कफ-रक्त (14) वात-पित्त-कफ (15) वात-पित्त-कफ-रक्त। (सु. सू. 21/28)

दोषों के प्रसर के लक्षण :-

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाह धूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति। तत्र तृतीयः क्रियाकालः। (सु. सू. 21/32)

सुश्रुतानुसार प्रकुपित और प्रसरित दोष शरीर में निम्न लक्षणों को प्रकट करते हैं।

(1) वात के कारण :- विमार्गगमन तथा आटोप (उदर में वेदना के साथ गुड़गुड़ शब्द होना)

(2) पित्त के कारण :- ओष, चोष, परिदाह, घूमायन (धुयें के समान श्वास या डकार)

(3) कफ के कारण :- अरोचक, अविपाक, (भोजन का न पचना), अंगसाद (अंग में दर्द), छर्दि (वमन)

आचार्य सुश्रुत ने प्रसर हुए दोषों के अनुसार चिकित्सा का विधान बताया है।

तत्र वायोः पित्तस्थान गतस्य पित्तवत् प्रतिकारः। पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्। कफस्य च वात स्थानगतस्य वातवत्। एष क्रियाविभागः।। (सु. सू. 21/31)

पित्त के स्थान पर पहुँचे हुए वात में पित्त शामक चिकित्सा करनी चाहिए। कफ के स्थान पर पहुँचे हुए पित्त में कफ शामक चिकित्सा करनी चाहिए तथा वात के स्थान पर पहुँचे हुए कफ में वात शामक चिकित्सा का विधान है।

अन्य स्थानगत दोषों की चिकित्सा में पहले स्थान दोष की चिकित्सा करने के पश्चात् आगन्तुज दोष की चिकित्सा करनी चाहिए परन्तु यदि आगन्तुज दोष स्थान दोष की अपेक्षा प्रबल हो तो पहले आगन्तुज दोष की चिकित्सा का विधान है। (कुर्याच्चिकित्सां स्वामेव बलेनान्याभिभाषिषु)।

4. चतुर्थ क्रियाकाल - (स्थान संश्रयावस्था) :-

''स्थान संश्रयं इति दोषदूष्यस्य संश्रयः।।'' (चक्रपाणि, सु. स2. 21/31)

जहाँ दोष-और दूष्य का संश्रय हो जाता है वह ''स्थान संश्रय'' कहलाता है।

दोष प्रसरावस्था के बाद सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करते हैं, भ्रमण के दौरान जिस स्त्रोतस में विगुणता (अवरोध) होती है, उस स्त्रोतस पर रुक जाते हैं तथा वहाँ उपस्थित दूष्य के साथ मिलकर दोष दूष्य समूर्च्छना उत्पन्न करते हैं।

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः ख वैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते।। (सु. सू. 24/10)

दोष दूष्य संमूर्च्छना वहीं होती है जहाँ ख वैगुण्य होता है, ख वैगुण्य की उत्पत्ति निदान के विशिष्ट अंश के कारण होती है, ख वैगुण्य के कारण ही दोष स्त्रोतसों में रुककर स्त्रोतोदुष्टि उत्पन्न करते हैं, अतः स्थान संश्रय की प्रथम स्थिति में ख-वैगुण्य व द्वितीय स्थिति में स्त्रोतों दुष्टि होती है।

दोष दूष्य संमूर्च्छना से ही स्थान अनुरूप व्याधि प्रारम्भ हो जाती है अतः स्थान संश्रय अवस्था भावी व्याधि की पूर्वरूपावस्था है। स्थान संश्रय अवस्था चिकित्सा करने का चौथा अवसर अर्थात् चतुर्थ क्रियाकाल है।

स्थान संश्रय जिन-जिन भागों में होता है उसी के अनुसार रोग उत्पन्न होते हैं।

(1) उदर में - गुल्म, विद्रधि, उदर रोग, अग्निमान्द्य, आध्मान, विसूचिका, अतिसार।

(2) बस्ति प्रदेश में - प्रमेह, अश्मरी, मूत्राघात, अन्य मूत्र रोग।

(3) वृषण में - वृद्धि रोग

(4) मेढ्र (शिश्न) में - निरुद्ध प्रकाश, उपदंश, शूक दोष।

(5) गुद में - भगन्दर, अर्श

(6) जत्रु (ग्रीवा के ऊपर) - ऊर्ध्व जत्रुगत (नासा, नेत्र, कर्ण, मुख) रोग।

(7) मेद में - ग्रंथि, गण्डमाला, अर्बुद, गलगण्ड।

(8) त्वचा, मांस, रक्त में- क्षुद्र कुष्ठ, विसर्प।

(9) अस्थि में- विद्रधि, अनुशयी

(10) पाद में - श्लीपद, वातरक्त, वात कण्टक।

(11) सर्वांग में - वातव्याधि, मेहरोग, पाण्डुरोग, शोष आदि सर्वांग रोग।

5. पञ्चमक्रियाकाल (व्यक्तावस्था) :-

'व्याधेः प्रव्यक्तं रूपं व्यक्तिः' (सु. सू. 21/34 पर डल्हण)

अर्थात् व्याधि का प्रत्यक्त रूप ही व्यक्तावस्था होती है। सुश्रुत के अनुसार व्यक्तावस्था व्याधि की वह अवस्था है जिसमें दोष दूष्य संमूर्च्छना के फलस्वरूप व्याधि के लक्षण या चिह्न प्रकट हो जाते हैं। जैसे शोफ, अर्बुद, विद्रधि, विसर्प, ज्वर, अतिसार, आदि रोगों के लक्षण पूर्व रूप में परिलक्षित होते हैं। इसे चिकित्सा का पंचम क्रिया काल माना गया है।

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः - **शोफार्बुदग्रन्थिं विद्रधि विसर्प प्रभृतीनां प्रत्यक्तलक्षणता, ज्वरातिसार, प्रभृतनाञ्च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः।।** (सु. सू. 29/34)

चक्रपाणि ने भानुमति टीका में ''व्याधि दर्शनम्'' को परिभाषित करते हुए कहा है- **व्यक्तलिङ्गता भवति तद् व्याधिदर्शनम्।** अर्थात् जिससे व्यक्तलिङ्गता (जहाँ स्वरूप स्पष्ट हो) हो, वह व्याधि का दर्शन कहलाता है।

इसे यदि सरल शब्दों में कहा जाये तो जिस अवस्था में प्रत्येक रोग के मुख्य लक्षण प्रकट होते हैं और उन लक्षणों के उत्पन्न होने से रोग किसी विशेष नाम से जाना जाता है, उस अवस्था विशेष को 'व्यक्तावस्था' कहते हैं। उदाहरण के लिए अतिसार में मल निकलना, आध्मान में पेट फूलना, कामला में नेत्र व त्वचा का पीलापन, ज्वर में ताप का होना आदि।

6. षष्ठमक्रिया काल (भेदावस्था) :-

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः।। (सु. सू. 21/35)

महर्षि सुश्रुत के अनुसार यह रोगोत्पत्ति की वह अवस्था है जिसमें व्याधि अनुतीव्र, जीर्ण अथवा असाध्य हो जाती है। इस प्रकार जब शोष, विद्रधि, आदि व्रण रूप को प्राप्त हो जाते हैं तब उस समय चिकित्सा का छठा काल होता है। ज्वर, अतिसार जैसे रोगों में जहाँ शोफ आदि की तरह भेद करना असंभव होता है वहाँ बहुत समय तक रहने के कारण दीर्घकालानुबन्धी हो जाते हैं। क्रिया काल की अन्य अवस्थाओं के विपरीत इस अवस्था में यह विशेषता होती है कि इसमें पहुँचने के पश्चात् रोग जीर्ण हो जाता है और इस समय भी यदि चिकित्सा न की जाय तो रोग असाध्यता की श्रेणी में आ जाता है।

निदान पंचक व षट्क्रियाकाल में सम्बन्ध

- निदान पंचक व्याधि ज्ञान के उपाय है जो रोग की विभिन्न अवस्थाओं के सूचक होते हैं।
- सभी निदान पंचक रोग ज्ञान के साधन होने के कारण स्पष्ट रूप से दृष्टगोचर होते हैं। निदान पंचक का ज्ञान रोग से ग्रसित रोगी में किया जाता है जहाँ पूर्वरुप, रूप, सम्प्राप्तिः, उपशय आदि को प्रश्न, स्पर्शन, दर्शन परीक्षा द्वारा जाना जा सकता है। जिससे रोग का सम्यक् ज्ञान कर चिकित्सा कार्य किया जाता है।
- षट्क्रियाकाल किसी भी व्याधि में चिकित्सा करने के अवसर है।
- निदान पंचक व षट्क्रियाकाल दोनों का उद्देश्य उचित चिकित्सा का निर्धारण करना।
- निदान पंचक व षट्क्रियाकाल एक ही व्याधि को जानने हेतु दो दृष्टिकोण है।
- निदान पंचक व षट्क्रियाकाल एक दूसरे के समरूप ही है केवल व्याधि ज्ञान के संदर्भ में उनका नामकरण निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति के रूप में किया जाता है।

जबकि क्रियाकाल के द्वारा संचय, प्रकोप स्थान संश्रय, व्यक्ति भेद आदि रोगों के स्तर को जान कर चिकित्सा का निर्धारण किया जाता है।

प्रथम क्रिया काल	**द्वितीय (प्रकोप)**	**तृतीय (प्रसर)**	**चतुर्थ**	**पंचम**	**षष्ठम्**
↓			↓	↓	↓
संचय			स्थानसंश्रय	व्यक्त या	उपद्रवादि की
निदानसेवन- दोष प्रकुपित-दोषस्थानच्युत			या	रुपावस्था	अवस्था
			पूर्वरुपावस्था या		
			दोषदूष्य सम्मूर्च्छना		

षट्क्रियाकाल	**निदान पंचक**
आधिदैविक या आधिभौतिक या आध्यात्मिक ↓ ↓ ↓ कफ पित्त वात	निमित्तकारण या व्यञ्जक कारण
	रोगाश्रयगत (पोषितागत) गुप्तकारण प्रकुपित होने वाले।
चयः शरीर में दोष अथवा दोषों का अपने विशिष्ट स्थान में संचित होना।	आमयोत्पित्सु अवस्था पूर्वरूपावस्था जो केवल अव्यक्त लक्षणों से परिलक्षित होती है।
प्रकोपः शरीर में दोष अथवा दोषों का उन्मार्गगमन	

प्रसरः शरीर में दोष अथवा दोषों का निज स्थानों से शरीर के अन्य भागों में फैलना-प्रसर होना।		
संस्थानसंश्रय स्रोतों वैगुण्य के कारण दोष अथवा दोषों का विशिष्ट स्थानों में अवस्थान करके दोषदूष्य संमूर्च्छना उत्पन्न करना।	विशिष्ट पूर्वरूपावस्था	पृथक्करण हेतु
व्यक्तिः अर्थात् व्याधि का अपने विशिष्ट लक्षणों व चिह्नों सहित- रूपावस्था का- प्रकट होना।	रूपावस्था	
भेद : इस अवस्था में रोग या तो पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है अथवा वह जीर्ण रूप लेकर निदानार्थकर-रोग का स्वरूप ले लेता है अथवा रोगी की मृत्यु का कारण होता है।	भेदावस्था	

उपद्रव

आचार्य माधव ने उपद्रवों को पञ्चनिदानों के समान ही रोग विनिश्चय का साधन बताया हैं।

माधवनिदान ग्रंथ का अभिधेय विषय उपद्रव, अरिष्ट, निदान व लिङ्ग हैं। जिनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर अल्प बुद्धि वाले चिकित्सक भी चिकित्सा कार्य में सफल हो सकते हैं।

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।

सोपद्रवारिष्ट निदान लिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्।। (मा. नि. 1/2)

'उप समीपे द्रवति इति।' जो व्याधि के समीप गमन करता है उसे उपद्रव संज्ञा दी जाती हैं।

परिभाषा

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायते इत्युपद्रवसंज्ञः।

(च. चि. 21/40)

उपद्रव उसे कहा जाता है, जो रोग होने के उत्तरकाल में उत्पन्न हो, रोग के आश्रित हो, उसको रोग ही कहा जाता है, वह छोटा या बड़ा हो किन्तु रोग के बाद होने से उसे उपद्रव कहा जाता हैं।

उपद्रवः संज्ञानिरुक्तिः पश्चाज्जायते इति व्याध्युत्पाद समीपे उपद्रवतीति उपद्रव इति निरुक्तेः।

(च. चि. 21/40 चक्रपाणि टीका)

रोग आरम्भ दोष की अधिकता से रोग के लक्षणों के उत्पन्न होने के पश्चात् जो कोई रोग उत्पन्न हो उसे उपद्रव कहा जाता है।

तत्रौपसर्गिक नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति, स तन्मूल एवोपद्रव सज्ञः।

(सु. सू. 35/21)

जो प्रथम उत्पन्न हुई व्याधि के उत्तरकाल में उत्पन्न होता है तथा उसी के साथ मिलता हैं तथा प्रथम व्याधि के मूल में ही जिसका मूल है वह औपसर्गिक या उपद्रवसंज्ञक व्याधि होती हैं।

तत्र उपद्रवों रोगारम्भक दोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः। (मा. नि. 1/2 मधुकोश टीका)

रोग को उत्पन्न करने वाले दोषों के अत्यन्त प्रकोप से उत्पन्न होने वाले लक्षणों के अतिरिक्त अन्य विकार ही उपद्रव नाम से जाना जाता है।

व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते।।

(मा. नि. 1/2 मधुकोश टीका)

जिस दोष से व्याधि उत्पन्न हो उसी दोष से मुख्य व्याधि के पश्चात् उत्पन्न होने वाला विकारान्तर ही उपद्रव कहा जाता हैं। प्रधान रोग के शांत हो जाने पर अप्रधान उपद्रव का शमन स्वयं हो जाता हैं। उपद्रव की चिकित्सा भिन्न नहीं होती अर्थात् प्रधान रोग की चिकित्सा से ही उपद्रव शमन हो जाता है।

तत्र प्रधानो व्याधिः व्याधेर्गुणभूत उपद्रवः, तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्, तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधते। (च. चि. 21/40)

प्रधान रोग होता है और रोग का अप्रधानभूत उपद्रव होता हैं। प्रधान रोग के शांत हो जाने पर अप्रधान उपद्रव की शांति स्वयं ही हो जाती हैं। यह उपद्रव शरीर में अधिक पीड़ा करने वाला होता हैं, क्योंकि प्रधान रोग के द्वारा शरीर के जर्जरित हो जाने के बाद उत्पन्न होता हैं। शरीर के दुर्बल होने पर जो भी उपद्रव होते हैं वह कष्टकारी अवश्य ही होते हैं, इसलिए उपद्रव की चिकित्सा शीघ्र ही करनी चाहिए।

महत्त्व

उपद्रव के विषय में निम्नलिखित तथ्य सर्वदा ध्यान रखना चाहिये जिससे चिकित्सा कार्य में बाधा न हो:-

(1) आचार्य चरक ने कहा है कि प्रधान व्याधि के कारण शरीर जर्जर हो जाने के बाद उत्पन्न होने से उपद्रव अधिक कष्टकारक होता हैं। यदि उपद्रव प्रधान व्याधि से सबल न हो तो सर्वप्रथम प्रधानव्याधि की चिकित्सा करनी चाहिये तदोपरान्त उपद्रव करनी चाहिये।

यदि दोनों की चिकित्सा एक साथ करना आवश्यक हो तो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि प्रधान व्याधि तथा उपद्रव दोनों की चिकित्सा परस्पर विरोधी न हो।

(2) उपद्रव प्रधान व्याधि का अवश्यम्भावी परिणाम नहीं है अर्थात् कि उपद्रव का उत्पन्न होना आवश्यक नहीं हैं।

(3) साध्यासाध्यता में उपद्रव का विशेष महत्त्व हैं क्योंकि उपद्रव उत्पन्न होने पर सुखसाध्य व्याधि भी कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य हो जाती हैं।

(4) चरक के अनुसार लक्षण भी यदि चिरकाल अनुबन्धी हों तो उन्हें भी उपद्रव कहा जाता हैं। ऐसी परिस्थिति में उन लक्षणों की चिकित्सा उपद्रव के समान करनी चाहिए।

(5) उत्पादक दोष अति बलवान होने पर कई रोग उपद्रवों के साथ ही उत्पन्न होते हैं, प्रधान व्याधि के साथ उत्पन्न होने पर भी उन्हें उपद्रव कहा जाता हैं, लक्षण नहीं।

(6) आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में एक रोग हो जाने के बाद दूसरा रोग उत्पन्न होने पर उसे उपद्रव (Complication) कहते हैं। यद्यपि इन दोनों रोगों में परस्पर साक्षात् संबंध होना आवश्यक नहीं मानते है।

जैसे - आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) हो तब श्वसनिक ज्वर (Pneumonia) हो जाना परवर्ती रोग (आन्त्रिक ज्वर) का उपद्रव कहा जाता हैं।

उदर्क

व्यत्पत्ति पुल्लिङ्ग (उत् + ऋच् + घञ्)

1. उदर्क फलमुत्तरम्।

कृष्णमित्रटीका - उदर्क्यते। अर्क स्तवने। उत्तरं भाविकर्मफलम्।।

अर्थ- अंत/समाप्ति/क्रिया आदि का परिणाम या फल/भविष्यत्काल/मीनार

2. उत्तरकालोद्भवफलम् भविष्यत्कालः

3. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।

व्याधि का भविष्यकालिक रूप उदर्क कहलाता है। यह सुखदायी अथवा दु:खदायी हो सकता हैं। जब व्याधि अपने अंतिम स्वरूप को प्राप्त करती है तो या तो उपर्युक्त चिकित्सा के द्वारा व्याधि पूर्ण रूप से शान्त हो जाती है अथवा चिकित्सा संतोषप्रद नहीं होने पर व्याधि उत्तरकाल में उपद्रवों को उत्पन्न करती है।

अत: उदर्क का तात्पर्य Prognosis है यदि व्याधि शान्त होने लगती है तो व्याधि का उदर्क सुख फल को दर्शाता है अर्थात् Good prognosis है व्याधि प्रबल हो जाये तो व्याधि का उदर्क दुखात्मक पक्ष को दर्शाता है। अर्थात् Poor Prognosis को दर्शाता है।

इसे व्याधि का Immediate consequence कहते हैं। षडक्रियाकाल में रूपावस्था के क्रमिक विकास द्वारा भेदावस्था उत्पन्न होती है, व्याधि के इस भविष्यकाल को उदर्क कहते है।

अरिष्टः

निरुक्तिः- नियत मरण ख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्।

निश्चित मृत्युसूचक लक्षणों को अरिष्ट कहते हैं। आचार्य भावमिश्र का कथन हैं कि रोगी में जो लक्षण अवश्यम्भावी मृत्यु को प्रकट करें उन्हें 'अरिष्ट' या 'रिष्ट' कहा जाता हैं।

परिभाषा

पुष्पं यथापूर्वरूपं फलस्येदं भविष्यतः। तथालिङ्गमरिष्ठाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः।। (च. ई. 2/3)

जिस प्रकार पुष्प भावी फल का सूचक पूर्वरूप होता है उसी प्रकार से अरिष्ट लक्षण भी रोगी की मृत्यु का सूचक पूर्वरूप होता हैं।

रोगिणोमरणं यस्मादवश्यम्भावि लक्ष्यते। तल्लक्षणमरिष्टं स्याद्रिष्टं चापि तदुच्यते।। (भा. प्र. पू.)

भावमिश्र के अनुसार रोगी में जो लक्षण अवश्यम्भावी मृत्यु को प्रकट करते हैं उन्हें अरिष्ट या रिष्ट कहा जाता है।

क्रियापथमतिक्रान्ता: केवलं देहमाप्लुता: । चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ।। (च. इ. 12/29)

चरक के अनुसार जो बढ़े हुए दोष चिकित्सा के फल को विफलकर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होने के बाद जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं उन्हें अरिष्ट कहा जाता हैं।

शीलप्रकृतिशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत् । त्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ।। (सु. सू. 30/3)

सुश्रुत के अनुसार जिस मनुष्य के शरीर में शील (आचरण) और प्रकृति इनमें सहसा विकार उत्पन्न हो जाये यही अरिष्ट हैं।

अरिष्ट का महत्त्व -

1. चिकित्सा स्थान का वर्णन करने से पूर्व आचार्य चरक ने इन्द्रिय स्थान का वर्णन किया। इन्द्रिय शब्द का अर्थ-

इन्द्रः प्राणस्तस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । या इन्द्रोऽन्तरात्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियं रिष्टम् । या इन्द्रियस्य रिष्टस्य स्थानमिन्द्रियस्थानमिति । इन्द्र अर्थात् प्राण अथवा अन्तरात्मा, जब शरीर से अलग हो जाती है तब शरीर मृत्यु को प्राप्त होता हैं। इन मृत्युसूचक लक्षणों का वर्णन इन्द्रियस्थान में किया गया हैं, अत: आयु परीक्षा हेतु इन्द्रिय स्थान का वर्णन किया गया। यदि आयु शेष है तो रोग साध्य होने के कारण चिकित्सा योग्य होता हैं, जबकि मरणसूचक लक्षण उपस्थित होने पर चिकित्सा नहीं करनी चाहिए। अत: चरक ने चिकित्सा करने से पूर्व इन्द्रिय स्थान में वर्णित आयु परीक्षार्थ विषयों का विस्तृत विवेचन किया।

2. **अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनानुबन्धि यत् । फलं चापि भवेत् किञ्चिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ।।**
न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणाहते । मरणं चापि तन्नास्ति यत्रारिष्टपुरः सरम् ।।

(च. इ. 2/5)

फल का पूर्वरूप फूल होता हैं परन्तु ऐसी भी बहुत से फूल होते हैं जिनके बाद फल भी नहीं लगता (जैसे चमेली) तथा ऐसे बहुत से फल भी होते हैं जिनके पूर्व फूल नहीं आते (जैसे गुलर)। पर शरीर में उत्पन्न हुए अरिष्ट का नाश मृत्यु के बिना नहीं होता, तथा ऐसी कोई मृत्यु भी नहीं होती जिसके पूर्व में अरिष्ट लक्षण नहीं होते।

3. जो वस्तुत: अरिष्ट नहीं है पर अरिष्ट सदृश हैं उसे वैद्य के द्वारा अरिष्ट समझना अथवा रोगी के मृत्यु के पूर्व वैद्य का अरिष्ट को ज्ञान न होना प्रज्ञापराधजन्य ज्ञान हैं, अत: प्रज्ञापराध के कारण वैद्य अरिष्ट के ज्ञान में सक्षम नहीं हो पाता हैं।

विकृति - विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च, लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानुरूपा च ।। (च. इ. 1/6)

विकृति - 1. लक्षणनिमित्त 2. लक्ष्यनिमित्त 3. निमित्तानुरूप, यह 3 प्रकार की विकृति होती हैं।

1. लक्षणनिमित्ता-

तत्र लक्षणनिमित्ता नाम सा यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति दैवात्, लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि भवन्ति, यानि हि तस्मिंस्तस्मिन् काले अधिष्ठानमासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति ।।

(च. इ. 1/6,)

इनमें लक्षणनिमित्ता विकृति वह हैं जिससे शरीर में पूर्वजन्मकृत कर्म के अनुसार कारण के सदृश अरिष्ट लक्षण ही उत्पन्न होते हैं। ये कुछ लक्षण शरीर से संबंधित रहते हैं जो विकृति उत्पादक समय में शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेश में अपना स्थान बनाकर विकृति (रोग) उत्पन्न करते हैं।

2. लक्ष्यनिमित्ता-

लक्ष्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तं निदानेषु।। (च. इ. 1/6, 2)

लक्ष्यनिमित्ता विकृति उसे कहते हैं जिसका कारण प्राप्त होता हैं।

जैसा कि निदान स्थान में कहा हैं (1) रुक्ष, शीत, लघु, खर आहार-विहार से वात प्रकोप होता है। (2) उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु आहार-विहार से पित्त का प्रकोप होता है। (3) गुरु, शीत, मधुर, स्निग्ध आहार-विहार से कफ का प्रकोप होता है।

3. निमित्तानुरूपा-

निमित्तानुरुपा तु निमित्तार्थानुकारिणी या, तामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिङ्गानुरूपां, यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः। यां चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मूमूर्षतां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः। इत्युद्देशः। (च. इ. 1/7)

जो निमित्त (हेतु) के अर्थ (कार्यजननरूप या कार्य रोग बोधनरूप) को अनुकरण करने वाली हो उस विकृति को निमित्तानुरुपा कहते हैं। यह विकृति रोगोत्पत्ति की निमित्त नहीं होती पर आयु के प्रमाण-ज्ञान में वह निमित्त होती है। यह वात चिकित्सक मानते है। जिस विकृति का आश्रय लेकर मरणोन्मुख पुरुष के शरीर में उत्पन्न होने वाले लक्षणों का उपदेश किया जायेगा। मृत्यु की ज्ञापिका व आयु के क्षय आदि सभी विकृतियाँ संक्षेप में निमितानुरूपा विकृतियाँ कही जाती है।

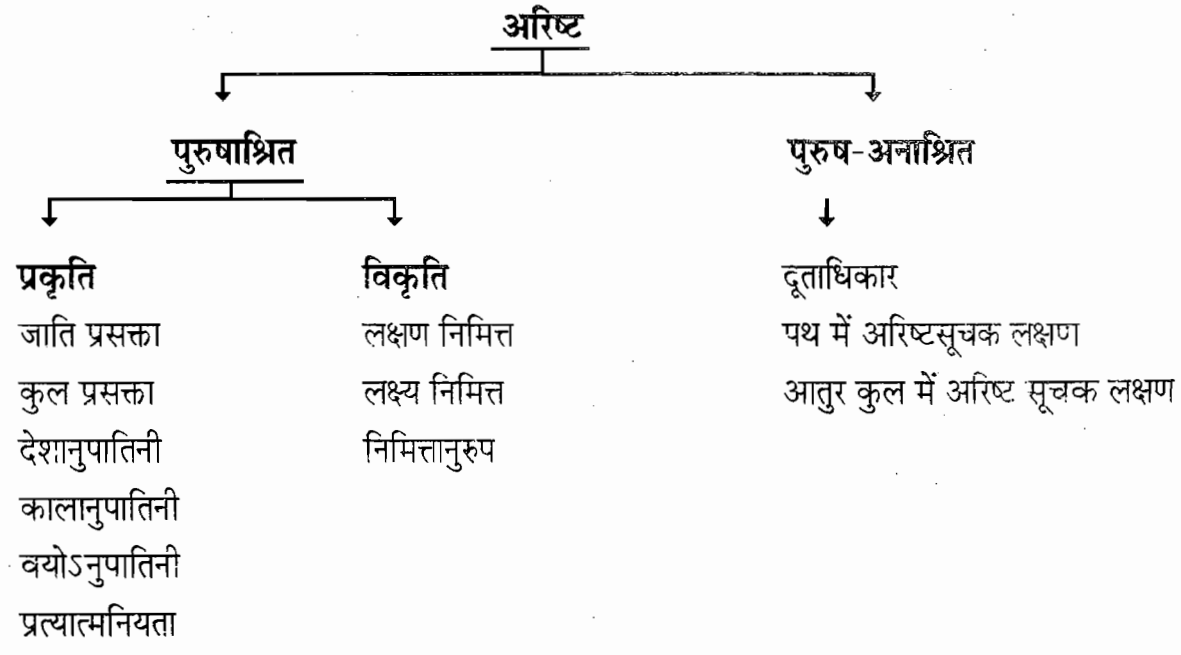

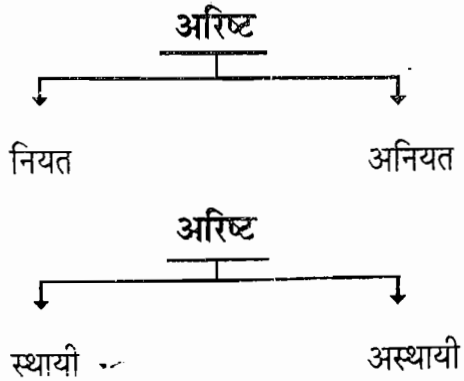

प्रकृति- तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च, कुलप्रसक्ता च, देशानुपातिनी च कालानुपातिनी च, वयोऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता चेति। जातिकुलदेशकालवयः प्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति।। (च. इ. 1/5)

इनमें प्रकृति 1 जातिप्रसक्ता 2. कुलप्रसक्ता 3. देशानुपातिनी 4. कालानुपातिनी 5. वयोऽनुपातिनी 6. प्रत्यात्मनियता, इन 6 भेदों वाली होती हैं। उन-उन पुरुषों के वे-वे वर्णस्वरादि भाव जाति, कुल, देश, काल, वय और प्रत्यात्मनियता (प्रतिपुरुष में रहने वाली प्रकृति) से विभिन्न पाये जाते हैं।

अरिष्ट भेद

द्विविधं हि रिष्टं-नियतं चानियतं च, तत्र नियतं 'मृतमेव तमात्रेयो व्याचक्षेपुनर्वसुः' इत्यादि, अनियतं यथा- संशयप्राप्तमार्त्रयो मन्यते तस्य जीवितम्। (चक्रपाणि टीका)

चक्रपाणि, डल्हण तथा भट्टारहरिशचन्द्र ने अरिष्ट के दो भेद माने है।

1. नियत अरिष्ट - ये नियत मरणख्यापक होने से नियत अरिष्ट कहे जाते हैं।

2. अनियत अरिष्ट - अनियत अरिष्ट कभी-कभी चिकित्सा करने से टल जाते हैं, जैसे-

(अ) दैवत्यपाश्रय चिकित्सा- मंत्र, पूजा, पाठ, दान आदि।

(ब) रसायन चिकित्सा- आचार रसायन तथा रस औषधि प्रयोग।

(स) प्रारब्ध अनुकूल हों।

कुछ आचार्यों ने अरिष्ट के स्थायी तथा अस्थायी भेद भी माने हैं।

आचार्य चरक के अनुसार अरिष्ट के भेद-

तत्र तु खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित् पुरुषमनाश्रितानि, कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि। तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तान्युपदेशतो युक्तिश्च परीक्षेत, पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितो विकृतितश्च।। (च. इ. 1/4)

1. पुरुषाश्रित - रोगी में पाये जाने वाले भाव पुरुष आश्रित कहे जाते हैं इनकी परीक्षा दो प्रकार से होती हैं-

(अ) प्रकृतितः (ब) विकृतितः

2. पुरुषमनाश्रित - देहव्यतिरिक्त रोगों से संबंधित अन्य भावों में पाया जाने वाला पुरुष अनाश्रित कहा जाता हैं। इनकी परीक्षा दो प्रकार से होती हैं-

(अ) आप्तोपदेश (उपदेश) (ब) युक्ति

तानि सौक्ष्म्यात् प्रमादाद्वा तथैवाशु व्यतिक्रमात्। गृह्यन्ते नोद्गतान्यज्ञैर्मुमूर्षैर्न त्वसम्भवात्।।

(सु. सू. 28/4)

मरने वाले पुरुष के शरीर में उत्पन्न हुये ये अरिष्ट सूक्ष्म होने से, वैद्य के प्रमाद (अज्ञान) से तथा शीघ्र ही इनमें व्यतिक्रम (उलट फेर) हो जाने से अज्ञ वैद्यों द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं। असम्भव या उत्पन्न नहीं होने से नहीं जाने जाते हैं यह बात नहीं है।

फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा। ख्यापयन्ति भविष्यत्त्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम्।।

(सु. सू. 28/3)

भविष्य में होने वाले फल, अग्नि और जलवर्षा का ज्ञान जैसे पुरुष, धूम और मेघों द्वारा होता हैं उसी प्रकार अरिष्ट लक्षण भविष्य में होने वाली मृत्यु के सूचक हैं।

रिष्टाभास-

दोषाणामपि बाहुल्याद्रिष्टाभासः समुद्भवेत्। स दोषाणां शमे शाम्येत्स्थाय्यवश्यं तु मृत्यवे।।

(अ. हृ. शा. 5/3-4)

वात आदि दोषों की अधिकता हो जाने के कारण जो रिष्ट जैसा लक्षण दिखलायी देता हैं, वह रिष्टाभास कहा जाता हैं। क्योंकि ऐसा वह लक्षण दोषों की शांति हो जाने पर स्वयं शांत हो जाता हैं और जो स्थायी लक्षण मृत्यु होने के पहले प्रकट होता हैं, उससे मृत्यु अवश्य होती हैं।

रिष्टाभावः-

रूपेन्द्रियस्वरच्छायाप्रतिच्छायाक्रियादिषु। अन्येष्वपि च भावेषु प्राकृतेष्वनिमित्ततः।

विकृतिर्या समासेन रिष्टं तदिति लक्षयेत्।। (अ. हृ. शा. 5/4-5)

रूप (स्वरूप-गौर और श्याम), इन्द्रिय, स्वर, छाया, प्रतिच्छाया (प्रतिम्बि), क्रियाएँ तथा अन्य स्वाभाविक भावों में बिना किसी कारण-विशेष के जो विकार उत्पन्न हो जाय उसे रिष्ट समझना चाहिए।

यह विकृति रोगोत्पत्ति की निमित्त नहीं होती पर आयु के प्रमाण-ज्ञान में वह निमित्त होती हैं, उसे चिकित्सक गण मानते है। आयु के क्षय के कारणभूत, मरणोन्मुख पुरुष के मृत्यु की ज्ञापिका होती है।

इस प्रकार की विकृति निमित्त न होते हुये भी निमित्त के कार्यफल को देने वाली होती है जैसे- रुक्षादि वस्तुएँ वात्त कोपक होती है पर रुक्षादि वस्तुएँ वातशामक होने लगे अर्थात् किसी के शरीर में वात बढ़ा हुआ है और वातशामक औषधों से शांत नहीं होता पर यदि वातवर्द्धक रुक्षादि वस्तुओं का सेवन कराया गया तो उससे वात का शमन हो जाता हैं, इस प्रकार के कारण को निमित्तानुरुपा विकृति कहा जाता हैं। क्योंकि यहाँ वातशमन के लिए रुक्षादि निमित्त (हेतु) नहीं है पर निमित्त के अर्थ (वातशमन रूप अर्थ) का अनुकरण करता हैं।

इन्द्रिय विषयक अरिष्ट

1. वर्ण (Complexion) विषयक अरिष्ट-

प्राकृत वर्ण - कृष्णः, श्यामः, श्यामावदातः, अवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति।

(च. इ. 1/8)

1. कृष्ण (काले), 2. श्याम (सांवले), 3. श्यामावदात (श्याम-गौर) 4. अवदात (गौर) ये चार शरीर के प्राकृत वर्ण हैं।

वैकारिक वर्ण - नीलश्यावताम्रहस्तिशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिक भवन्ति, यांश्चापरानुपेक्षमाणो विद्यात् प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान् इति प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्त्युक्ताः शरीरस्य।। (च. इ. 1/9)

1. नील 2. श्याव 3. ताम्र, 4. हरित 5. शुक्ल ये शरीर के वर्ण वैकारिक कहे जाते हैं।

'प्राग्विकृत' शरीर में जो श्याम गौरादि वर्ण जन्म से हो पर बाद में सहसा वर्णन का परिवर्तन हो जाये उसे वैकारिक वर्ण कहा जाता हैं।

'अभूतोत्पन्नान्' जो वर्ण पहले शरीर में न हों सहसा बाद में उत्पन्न हो जाये उन्हें वैकारिक वर्ण कहा जाता हैं।

प्राकृतिक और वैकृतिक वर्ण आधे शरीर में पाये जाते हैं अर्थात् आधे शरीर में सीमा निर्धारित कर वैकारिक वर्ण हों तो इस प्रकार प्राकृतिक और वैकृतिक दोनों वर्णों का होना अरिष्ट समझा जाता हैं। इस प्रकार सीमा से विभक्त प्राकृतिक और वैकृतिक वर्ण अरिष्ट होता हैं।

रोगी के मुख में पिप्लु (छोटी फुन्सियाँ), व्यङ्ग, तिलकालक, बड़ी-बड़ी फुन्सियों में किसी एक का होना अप्रशस्त अशुभ अरिष्ट होता हैं।

Modern science के अनुसार रक्त में प्राणवायु की कमी होने पर नील तथा श्याव वर्ण मिलता हैं। संखिया (As), कार्बन मोनोक्साइड (Co) आदि विषों के कारण त्वचा का वर्ण श्याव तथा ताम्र वर्ण हो जाता हैं। मूत्रविषमयता (Ureamia), अम्लोत्कर्ष (Acidosis), रक्त विषमयता (Toxemia) आदि गम्भीर अवस्थाओं में शरीर का वर्ण ताम्र तथा श्याव हो जाता हैं।

सतत ज्वर, गर्भाक्षेपक (Eclampsia), ग्रहणीरोग, विसूचिका, मधुमेह, शोथ, शिरोभिघात (Brain injury) आदि रोगों में शरीर का वर्ण मरणासन्न स्थिति में नील, श्याव या श्वेत हो जाता हैं।

2. स्वर (Voice) विषयक अरिष्ट-

प्राकृत स्वर-

स्वराधिकारस्तु - हंसक्रौञ्चनेमिदुन्दुभिकलविङ्ककाककपोतजर्जरानुकाराः प्रकृतिस्वरा भवन्ति।

(च. इ. 1/14)

प्राकृतिक स्वर हंस, क्रौञ्च पक्षी, नेमि (रथविषयक शब्द), दुन्दुभि (नगाडा), कलविङ्क (चटक), काक, कबूतर, झर्झर इनके स्वरों के तुल्य स्वर कहे जाते हैं।

वैकारिक स्वर-

एडककलग्रस्ताव्यक्तगद्गदक्षामदीनानुकीर्णास्त्वातुराणां स्वरा वैकारिका भवन्ति। (च. इ. 1/15)

रोगियों के एडक (भेड़), कल (सूक्ष्म), ग्रस्त (सर्वथा अनुच्चारित), अव्यक्त, गदगद, क्षाम (क्षीण), दीन (दुःखी की तरह), अनुकीर्ण (एक वाक्य के बाद दूसरा वाक्य बोलते रहना, कहीं भी रुकना नहीं) स्वर वैकारिक कहे जाते हैं।

फिरङ्गज व्रण (Perforation of palate) कुष्ठ (नासिका शोथ), स्वर भेद (स्वर यंत्र शोथ) आदि रोगों में भेड़ के समान सानुनासिक स्वर हो जाता हैं।

अर्दित, सन्निपात ज्वर, शिरोभिघात, मानस रोग, हिक्का, श्वास रोग आदि तथा जीर्ण व्याधि जन्य शारीरिक दुर्बलता होने पर गदगद, क्षाम, सूक्ष्म, दीन, अव्यक्त आदि विकृत स्वर मिलते हैं।

उन्माद आदि मानस रोगों में अनुकीर्ण स्वर मिलता हैं।

प्राकृत स्वर में सहसा परिवर्तन होना अरिष्टसूचक होता हैं।

3. रस विषयक अरिष्ट-

यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसंभवः।

स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम्।। (च. इ. 2/18)

प्रकतिस्थ (स्वस्थ) मनुष्यों के शरीर में जो रस उत्पन्न होता हैं वही रस अन्तकाल (मृत्यु के समय) दो प्रकार से विकृति को प्राप्त होता हैं-

1. एक विकार वह जिसमें मुमूर्ष पुरुष का रस अत्यन्त विरस हो जाता हैं।

2. दूसरा विकार वह हैं जिसमें वही रस किसी के शरीर में अत्यन्त मधुर हो जाता हैं। जैसे- मधुमेह

मरणोन्मुख मनुष्य का शरीर जब विरस हो जाता हैं तो उसके शरीर से मच्छर, मक्षिका, यूका, खटमल (काटने वाले जन्तु) अलग हो जाते हैं।

जिसका मृत्युकाल समीप आ गया हैं ऐसे मनुष्य का शरीर अत्यन्त मधुर हो जाने पर उसे स्नान कराकर सुगन्धित चन्दन, केशर आदि का लेप करने पर भी उसके सम्पूर्ण शरीर से मक्खियाँ लगने लगती हैं।

4. गन्ध विषयक अरिष्ट-

गंध विषयक अरिष्ट दो प्रकार के हैं-

(अ) जिस गंध का रोगी अनुभव करे, इसके 2 भेद हैं-

(1) सुगन्ध को दुर्गन्ध या दुर्गन्ध को सुगन्ध अनुभव करना।

(2) गन्ध का बिल्कुल अनुभव न करना।

(ब) रोगी के शरीर से निकलने वाली गन्ध का चिकित्सक आदि दूसरा व्यक्ति अनुभव करें।

पुष्पित अरिष्ट-

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम्। पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमल तावत:।।

तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणै:। स ना संवत्सराद् देहं जहातीति विनिश्चय:।। (च. इ. 2/9)

नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं से युक्त फूले हुए जङ्गल (पुष्पवाटिका) की तरह जिस पुरुष के शरीर से रात-दिन नाना प्रकार के पुष्पगन्ध के समान गन्ध निकलती रहती है, धीर (विद्वान) पुरुष उस गन्धयुक्त पुरुष को मृत्यु के लक्षणों से युक्त होने के कारण पुष्पित कहते हैं।

यह निश्चित है कि वह मनुष्य एक वर्ष के अन्दर मर जाता हैं। इस प्रकार जिस पुरुष के शरीर से फूल के समान सुगन्ध या दुर्गन्ध निकलती है वह पुरुष पुष्पित कहा जाता हैं।

Modern science के अनुसार शरीर से Sweet smell or fruity smell एसीटोन की वृद्धि होने पर आती हैं। इसके विपरीत फुफ्फुसशोथ (Empyema) फुफ्फुस विकृति (Lung abcess), कोथ (Gas-grene), बद्धगुदोदर (Intestinal obstruction), मूत्र विषमयता (Ureamia) आदि रोगों में शरीर से अत्यधिक दुर्गन्ध आती हैं।

5. स्पर्श विषयक अरिष्ट-

स्पर्श परीक्षा द्वारा निम्नलिखित अरिष्टों का निश्चय करना चाहिए-

(अ) सर्वदा स्पन्दन करने वाले अंगों में स्पन्दन का न होना।

(ब) सर्वदा उष्ण रहने वाले शरीर के प्रदेशों का शीतल होना।

(स) संधियों का स्रंस, भ्रंश, च्यवन (स्थानच्युत) होना।

(द) चिकने प्रदेशों का सहसा खर (खुरदरा) हो जाना तथा स्निग्ध अंगों का रुक्ष होना।

(य) मृदु अंगों का सहसा कठोर होना।

(र) जो अंग जिस प्रदेश में स्वाभाविक रहते हैं उनका उन स्थानों में न रहना।

(ल) स्वेद का अधिक आना, अंगों में जकड़ाहट अधिक हो जाना।

6. त्वक् विषयक अरिष्ट-

(अ) उष्ण वस्तु को शीतल समझना

(ब) रुक्ष को चिकना समझना

(स) स्पर्श योग्य वस्तु को स्पर्श कर विपरीत ज्ञान करने वाले रोगी को मुमूर्ष समझना चाहिए।

आकस्मिक उपघात (Shock), हृदयस्तम्भ (Heart block), तीव्र अनवधानिक प्रबल अवसाद (Paralysis) आदि रोगों में शरीर के उष्ण प्रदेश शीतल हो जाते हैं तथा स्वेद अधिक आता हैं।

7. नेत्र विषयक अरिष्ट-

जो व्यक्ति दृश्य है उसे नहीं देख पाना और अदृश्य वस्तु को देखना-ऐसे विपरीत देखने वाला निश्चित ही मारा जाता हैं। जो व्यक्ति आकाश को घनीभूत और पृथ्वी को आकश की तरह शून्य देखता हैं, इस तरह विपरीत देखने वाले रोगी मर जाते हैं। जो रोगी जागते हुए प्रेतों, राक्षसों अथवा अन्य अद्भुत वस्तुओं को देखता है उसे मुमूर्ष समझना चाहिए।

रात्रि में सूर्य को, दिन में चमकते हुए चन्द्रमा को, बिना अग्नि के धूम को और रात्रि के समय अग्नि को प्रभाहीन देखने वाला व्यक्ति मुमूर्ष होता हैं। जो अरुन्धती तारे को नेत्र में रोगों के न होने पर भी नहीं देख पाता हैं, वह एक वर्ष के अंतिम भाग में निश्चित ही मर जाता हैं।

8. कर्ण विषयक अरिष्ट-

जो रोगी शब्दों के न होने पर भी शब्दों को सुनता हैं और शब्दों के रहने पर नहीं सुनता अरिष्टसूचक होता हैं। जो रोगी अपने दोनों कानों को अङ्गुलियों से बंद कर जठराग्नि के शब्द को नहीं सुनता हो उसे बुद्धिमान् वैद्य गतायु समझकर चिकित्सा न करें।

मस्तिष्क की विविध विकृतियों में (मस्तिष्कार्बुद, शिरोभिघातादि) में कर्ण विषयक अरिष्ट मिलते हैं क्योंकि श्रवण केन्द्र विकृत हो जाता है या नष्ट हो जाता हैं।

इस प्रकार इन्द्रियों के स्वस्थ रहने पर भी इन्द्रिय जन्य ज्ञान का बिना कारण ही विपरीत होना मृत्यु का लक्षण हैं।

पूर्वरुपीय अरिष्ट :-

पूर्वरूपीय अरिष्ट के अन्तर्गत उन सभी पूर्वरूपों का (सामान्य और विशिष्ट) अलग-अलग रोगानुसार वर्णन किया गया हैं जिससे विभिन्न असाध्य रोगों का ज्ञान हो जाता हैं।

1. ज्वरविषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

पूर्वरुपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरः सरः।।

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरुपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्।।

(च. इ. 5/4-5)

सामान्यतः ज्वर-प्रकरण में जितने ज्वर के पूर्वरुप बताये हैं, उन सभी अधिकतर पूर्वरूपों के साथ ज्वर जिस मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट होता हैं उस रोगी का अधिक पूर्वरूप होने से ज्वर के कारण मृत्यु हो जाती हैं।

जिस व्यक्ति के उदर में शूल, आटोप, आन्त्रकूजन, अधिक मात्रा में दुर्बलता, नख-मूत्र-पुरीष नेत्र आदि की विवर्णता के बाद गुल्म रोग उतपन्न होता है, तो उसकी मृत्यु उसी रोग से होती हैं।

जो स्वप्न में यह देखता है कि मेरे हृदय के ऊपर भयंकर काँटेदार लता उत्पन्न हो गई है वह व्यक्ति असाध्य गुल्म रोग से आक्रान्त होकर मर जाता हैं।

2. यक्ष्माविषयक पूर्वरूपीय अरिष्ट-

बलं च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्धते। तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते।। श्वभिरूष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम्। स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति।।

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना। सुघोरं ज्वरमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति। (च.इ.5/7,8,9)

जिस यक्ष्मा के रोगी का बल घटता है और प्रतिश्याय बढ़ता जाता है और रोगी स्त्री प्रसङ्ग में अधिक आसक्त होता है तो उस रोगी का यक्ष्मा रोग उसका नाश कर देता है।

यदि स्वस्थ मनुष्य या रोगी स्वप्नावस्था में कुत्ते, ऊँट और गधे की सवारी पर या इनके साथ दक्षिण दिशा को गमन करता है तो वह मनुष्य यक्ष्मा रोग से पीड़ित होकर अपने जीवन को नष्ट कर देता है।

- जो यक्ष्मा का रोगी स्वप्न में भूत-प्रेतों के साथ मदिरा पीता है और कुत्ते के द्वारा दक्षिण दिशा में घसीटा जाता है वह यक्ष्मा का रोगी भयंकर ज्वर से पीडित होकर मर जाता है।

3. रक्तपित्त विषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

लाक्षारक्ताम्बराभंयः पश्यत्यम्बरमन्तिकात्। स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते।।

रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन्। यः स्वप्ने ह्रियते नार्या स रक्तं प्राप्य सीदति।।

(च.इ. 5/10-11)

जो व्यक्ति अपनेसमीप से ही आकाश को लाख के रंग में रंगे हुए वस्त्र के समान रक्तवर्ण का देखता है वह रक्तपित्त रोग को प्राप्त कर उसी के द्वारा मारा जाता है।

जो व्यक्ति स्वप्न में रक्तवर्ण की माला को धारण किया हुआ, सम्पूर्ण रक्त अंग वाला, रक्तवर्ण का वस्त्र धारण किया हुआ, बार-बार हँसता हुआ स्त्री के द्वारा दक्षिण दिशा में ले जाया जाता है। वह मनुष्य रक्तपित्त से पीड़ित होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

4. गुल्मविषयक पूर्वरूपीय अरिष्ट-

शूलाटोपान्त्रकूजाश्च दौर्बल्य चातिमात्रया। नखादिषु च वैवर्ण्यं गुल्मेनान्तकरो ग्रहः।।

लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते। स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम्।।

(च. इ. 5/12-13)

- जिस व्यक्ति के उदर में शूल, आटोप, आन्त्रकूजन, अधिक मात्रा में दुर्बलता, नख-मूत्र-पुरीष-नेत्र आदि की विवर्णता के बाद गुल्म रोग उत्पन्न होता है तो उसकी मृत्यु उसी रोग से होती है।
- जो स्वप्न में यह देखता है कि मेरे हृदय के ऊपर भयंकर काँटेदार लता उत्पन्न हो गई है। वह व्यक्ति असाध्य गुल्म रोग से आक्रान्त होकर मर जाता है।

5. कुष्ठविषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्यते। क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम्।।

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम्। पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः।।

(च. इ. 5/14-15)

जिस मनुष्य के शरीर पर तृण आदि किसी भी वस्तु से थोड़ा भी कठिन स्पर्श मात्र से ही क्षत हो जाये और अधिक बढ़ जाये तथा चिकित्सा करने पर भी क्षत स्थान भरे नहीं, इसके बाद होने वाला कुष्ठ उस व्यक्ति को मार देता है।

जो व्यक्ति स्वप्न में यह देखता हैं कि मैं नग्न हूँ, अपने सम्पूर्ण शरीर में घृत लगाया हुआ हूँ और जिस अग्नि में ज्वाला नहीं है उस अग्नि में हवन कर रहा हूँ, हवन करते समय मेरी छाती पर कमल का फूल उत्पन्न हो गया वह व्यक्ति कुष्ठ रोग से मर जाता हैं।

6. प्रमेहविषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृधनन्ति मक्षिकाः। स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते।।

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सहः यः पिबेत्। बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः।।

जिस व्यक्ति के स्नान और चन्दन का लेपकर लेने पर भी मक्खियाँ आकर अधिक संख्या में उसके शरीर पर बैठती है तो, वह व्यक्ति प्रमेह रोग से पीड़ित हो मर जाता हैं।

जो व्यक्ति स्वप्न में चण्डालों के साथ अनेकों प्रकार के स्नेहों (घृत, तैल, वसा, मज्जा आदि) को पीता हैं। उस व्यक्ति को प्रमेह होता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती हैं।

7. उन्माद विषयक पूर्वरूपीय अरिष्ट-

ध्यानायासौ तथोद्वेगौ मोहश्चास्थानसंभवः। अरतिर्बलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः।।

आहारद्वेषणं पश्यन् लुप्तचित्तमुदर्दितम्। विद्याद्धीरो मुमूर्षं तमुन्मादेनातिपापिता।।

क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम्। मूर्च्छापिपासाबहुलं हन्त्युन्मादः शरीरिणम्।।

नृत्यनूरक्षोगणैः साकं यः स्वप्नेऽम्भसि सीदति। स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम्।।

(च. इ. 5/18-19-20-21)

जो व्यक्ति सर्वदा ध्यानावस्थित रहता हो, श्रम न करने पर भी थका हुआ प्रतीत होता है तो, बिना कारण उद्वेग (बेचैनी होना), मोह करता हो, चित्त अस्थिर रहता हो, उत्तम भोजन करने पर भी बल क्षय हो रहा हो उस व्यक्ति की मृत्यु उन्माद रोग होने से होती हैं।

जो व्यक्ति अन्न द्वेषी हो, चित्त स्थिर न हो, उदर्द रोग से पीडित हो वह व्यक्ति अतिपाति (भविष्य में) उन्माद रोग से मर जाता हैं।

जो व्यक्ति सहसा क्रोधी स्वभाव को हो जाये, सदा भयभीत रहता हो, एक बार मुख पर हँसी आती हो, मूर्च्छा एवं प्यास से अधिक पीड़ित रहता हो ऐसे व्यक्ति को होने वाला उन्माद उसे मार देता हैं।

जो व्यक्ति स्वप्न में राक्षसों के साथ नाचता है और जल में डूब जाता है वह व्यक्ति भयंकर उन्माद रोग से आक्रान्त होकर मर जाता हैं।

8. अपस्मार विषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

असत्तमः पश्यति यः शृणोत्यप्यसतः स्वनान्। बहून् बहुविधाञ् जाग्रत् सोऽपस्मारेण वध्यते।।

मत्तं नृत्यन्तमाविध्यं प्रेतो हरित यं नरम्। स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरः सरः।। (च. इ. 5/22-23)

जो व्यक्ति जागते हुए अंधकार के न रहने पर भी अंधकार को देखता हैं।

शब्दों के न रहने पर भी अनेक प्रकार के शब्दों को सुनता हैं। ऐसा व्यक्ति अपस्मार रोग से मारा जाता हैं।

जो व्यक्ति स्वप्न में देखता हैं कि, मैं मतवाला होकर नाच रहा हूँ, ऐसी दशा में मेरे शिर को नीचे करके प्रेत ले जा रहा है, उस व्यक्ति के प्राण को अपस्मार उत्पन्न होने के बाद मृत्यु ले जाती हैं।

9. बहिरायाम विषयक पूर्वरुपीय अरिष्ट-

स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनू मन्ये तथाऽक्षिणी। यस्य तं बहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम्।।

शष्कुलीर्वाऽप्यपूपान् वा स्वप्ने खादति यो नरः। स चेत्तादृक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति।।

(च. इ. 5/24-25)

जिस व्यक्ति का शयन करके उठने के बाद दोनों हनु, दोनों मन्या, दोनों नेत्र जकड़ जाते हों उस व्यक्ति की मृत्यु बहिरायाम रोग से होती हैं।

जो व्यक्ति स्वप्न में शष्कुली (पूड़ी तद्रुप भोज्य पदार्थ) या अपूप (मालपूआ) खाता हैं और जागने पर वैसे ही शष्कुली और अपूपयुक्त वमन करता है तो वह रोगी शीघ्र ही मर जाता हैं।

स्वप्न विषयक अरिष्ट-

स्वप्न के भेद -

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः।। (च. इ. 5/43)

स्वप्न के 7 भेद हैं-(1) दुष्ट (2) श्रुत (3) अनुभूत (4) प्रार्थित (5) कल्पित (6) भाविक (7) दोषज

इनमें से प्रारम्भिक चार (दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित) अफलीभूत होते हैं और अंतिम तीन (कल्पित, भाविक, दोषज) फलीभूत होते हैं।

इसी प्रकार जो स्वप्न दिन में देखा गया हो, बहुत ही छोटा हो या बहुत लम्बे स्वप्न को कभी भी देखें तो उसका फल नहीं होता।

जो स्वप्न रात्रि के प्रथम प्रहर में देखा जाता हैं वह एक वर्ष में फल देने वाला होता हैं।

जिसको देखकर पुनः शयन न किया जाए अर्थात् जो प्रातः काल का स्वप्न है वह महान फल को देता हैं।

प्रातः काल स्वप्न देखने के बाद यदि पुनः शयन न किया जाय तब उसका फल सद्यः और महान् होता हैं।

अशुभ स्वप्नों को देखने के बाद यदि उस समय पुनः सौम्य और शुभ स्वप्न देखा जाए तो उसका फल शुभ ही होता हैं।

रूपगम्य अरिष्टः-

छाया-

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः। (च. इ. 7/10)

आकाश आदि पञ्चमहाभूतों की भिन्न-भिन्न लक्षण वाली पाँच प्रकार की छाया होती हैं-

1. नाभसी छाया 2. वायवी छाया 3. आग्नेयी छाया 4. आम्भसी छाया 5. पार्थिवी छाया

1. नाभसी छाया- नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च। (च. इ. 7/10)

नाभसी छाया निर्मल (स्वच्छ), नीलवर्ण, चिकनी और प्रभा की तरह आभासित होती हैं।

2. वायवी छाया- रुक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा। (च. इ. 7/11)

जो छाया रुक्ष, श्याव (काले), अरुण वर्ण की प्रभाहीन होती है वह वायवी छाया हैं।

3. आग्नेयी छाया- विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया। (च. इ. 7/11)

जो छाया शुद्ध रक्तवर्ण की चमकदार कांतिवाली और देखने में प्रिय होती हैं वह आग्नेयी छाया होती हैं।

4. आम्भसी छाया- शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता। (च. इ. 7/12)

जो छाया शुद्ध वैदूर्यमणि की तरह स्वच्छ, चिकनी होती हैं वह आम्भसी (जलीय) छाया होती हैं।

5. पार्थिवी छाया- स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी। (च. इ. 7/12)

जो छाया स्थिर, चिकनी, घनी, श्लक्ष्ण, श्याम वर्ण और श्वेत होती है वही पार्थिवी छाया हैं।

इन छायाओं में वायवी छाया अशुभ होती है और मृत्यु या क्लेश का कारण होती हैं। शेष चार छायाएँ शुभ फल देने वाली होती हैं।

प्रतिच्छाया-

प्रतिप्रमाणसंस्थान जलादर्शातपादिषु। छाया या सा प्रतिच्छाया च्छाया वर्णप्रभाश्रया।। (च. इ. 7/9)

प्रत्येक देह के प्रमाण और आकृति के अनुसार जल में, शीशे में और धूप आदि (जैसे दीप प्रकाश, चन्द्रमा का प्रकाश) में जो छाया दिखाई पड़ती है उसे प्रतिच्छाया कहा जाता है।

छाया शरीरगत वर्ण और प्रभा के आश्रित होती हैं।

जिस व्यक्ति के नेत्र में प्रतिच्छाया स्वरूप कुमारिका नष्ट हो गई हो उसे देखकर उसकी चिकित्सा नहीं करनी चाहिए।

संस्थान-

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च सा। मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम्।। (च. इ. 7/8)

संस्थान शब्द आकृति का बोधक हैं। वह आकृति सुषमा (Symmetrical) और विषमा (Asymmetrical) होती है। देह का प्रमाण 3 प्रकार का होता हैं -

1. मध्यम 2. अल्प 3. महान्

प्रभा-

स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता। रक्ता पीता सिता श्याव हरिता पाण्डुराऽसिता।।

तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः। ताः शुभा रुक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः।।

(च. इ. 7/14, 15)

सभी प्रभाएँ तेज (पित्त) से उत्पन्न होती हैं और सात प्रकार की होती है-

1. रक्त, 2. पीत 3. श्वेत 4. श्याव 5. हरित 6. पाण्डुर 7. काली

इन प्रभाओं में जो प्रभा विकसित, स्निग्ध होती है वह शुभ और जो प्रभा रुक्ष, मलिन और संक्लिष्ट होती है वह अशुभ फल देने वाली होती हैं।

छाया और प्रभा में अन्तर-

छाया (Reflection)	प्रभा (Lustere)
• छाया वर्ण को आच्छादित करती हैं।	• प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती हैं।
• छाया नजदीक आने पर दिखाई पड़ती हैं	• प्रभा दूर से ही दिखाई पड़ती हैं।
• छाया के 5 भेद होते हैं।	• प्रभा के 7 भेद होते हैं।
• छाया की उत्पत्ति प्रत्येक महाभूत की प्रधानता से होती हैं।	• प्रभा की उत्पत्ति तेजस महाभूत से होती हैं।
• छाया वर्ण और प्रभा पर आश्रित हैं।	• प्रभा स्वतंत्र हैं।

सद्योमरणीय अरिष्ट

- सुश्रुत के अनुसार सद्यः का तात्पर्य सात दिन हैं।
- जिस रोगी के हृदय में अत्यन्त बड़ी कठोर गोलाकार वाताष्ठीला उत्पन्न हो जाती है और उस काल में रोगी प्यास से अधिक पीड़ित रहता हैं तो उस रोगी के प्राण शीघ्र ही चले जाते हैं।
- जिस रोगी के शरीर में चलती हुई वायु पिण्डलियों को शिथिल कर और नासिका को टेढ़ाकर शरीर में चलती हैं वह शीघ्र ही उसका जीवन समाप्त कर देती हैं।
- जिस व्यक्ति की भौंहे अपने स्थान से च्युत (Drooping of eyebrow) हो गई है, शरीर के भीतरी भागों में भयंकर दाह हो रहा हैं ऐसी दशा में यदि रोगी में हिक्का रोग हो जाय तो वे शीघ्र ही जीवन को नष्ट कर देते हैं।
- जिस रोगी का रक्त मांस क्षीण हो गया हो और उसके शरीर में उर्ध्वगति करती हुई वायु दोनों मन्याओं में एक ही समय कष्ट उत्पन्न करें तो रोगी शीघ्र ही जीवन को समाप्त कर देता है।
- जिस व्यक्ति के आमाशय प्रदेश में कैंची से काटने के समान पीड़ा हो और अतिसार हो साथ ही प्यास बढ़ी हुयी हो तो वह रोगी शीघ्र ही अपने जीवन को समाप्त कर देता हैं।
- किसी भी रोग से आक्रान्त रोगियों में (अ) तृष्णा (ब) श्वास (स) शिरोरोग (द) मूर्च्छा (य) दौर्बल्य (र) कूजन (गले से साफ शब्द न निकलना)। ये उपद्रव दृष्टिगोचर होते हों और उस रोगी को पतला मल निकलता हो वह शीघ्र ही प्राण त्याग देता हैं।

संख्यासूचक अरिष्ट-

1. एक वर्ष का अरिष्ट- जिस व्यक्ति के सारे शरीर की कांति अल्प हो गयी हो या जठराग्नि बिल्कुल मन्द हो गयी हो। रोगी का चित्त अस्थिर रहता हो। शरीर की छाया सुन्दर न प्रतीत हो। ऐसा व्यक्ति एक वर्ष के भीतर परलोक चला जाता हैं।

जिस पुरुष के शरीर से रात-दिन नाना-प्रकार के पुष्पगंध के समान गन्ध निकलती रहती हैं, उसे पुष्पित कहते हैं। यह निश्चित हैं कि वह मनुष्य एक वर्ष के अन्दर शरीर को छोड़ देता हैं।

जिस व्यक्ति की शोभा शरीर का उपचय एवं धन सहसा बिना किसी हेतु के नष्ट हो जाता हैं उसका जीवन वर्ष के अंत में समाप्त हो जाता हैं।

2. बलिविषयक अरिष्ट- जिस व्यक्ति द्वारा दी हुई बलि कौए, कुत्ते आदि नहीं खाते वह व्यक्ति एक संवत्सर के भीतर परलोक में जाकर श्राद्ध दिये हुए पिण्डों को खाता हैं। अर्थात् एक वर्ष के अन्दर मर जाता हैं।

3. अरुन्धती तारा विषयक अरिष्ट- जो पुरुष सप्त ऋषियों के समीप में रहने वाले अरुन्धती नामक तारे को नहीं देखता वह वर्ष के अंत में महा अंधकार को देखता हैं। अर्थात् एक वर्ष में मर जाता हैं।

4. छः मास का अरिष्ट – जिस व्यक्ति की भक्ति, शीलता, स्मरण शक्ति, त्याग शक्ति, बुद्धि और बल बिना किसी हेतु के नष्ट हो जाते हैं वह 6 मास में मर जाता है।

जिस पुरुष के मस्तक पर जो पहले से नहीं है ऐसी धमनियों का सुन्दर जाल दिखाई पडे उस व्यक्ति की 6 मास में निश्चित मृत्यु हो जाती है।

जिस व्यक्ति के ललाट के ऊपर चन्द्रमा की तरह टेढ़ी रेखाओं का समुदाय दिखाई पड़ता है उस व्यक्ति की आयु 6 मास में समाप्त हो जाती है।

5. एक मास का अरिष्ट- जिस रोगी का शरीर बिना कारण ही कम्पन कर रहा हों, सम्मोह होता हो, जिसकी गति और वचन मतवाले पुरुष की तरह हो वह व्यक्ति एक मास तक भी जीवित नहीं रहता।

जिस मनुष्य के हाथ, पैर और मुख शोष को प्राप्त हो गये हों और मध्य शरीर अपने स्वाभाविक रूप में हो तो वह व्यक्ति एक मास तक जीवित नहीं रहता।

जिस व्यक्ति के ललाट पर और बस्ति के ऊपरी भागमें चन्द्रमा की तरह कुटिल नील रेखायें प्रतीत होती हों वह 1 मास से अधिक जीवित नहीं रहता।

जिस व्यक्ति के वीर्य, मूत्र और पुरीष जल में डालनेसे डूब जाते हों और वह व्यक्ति स्वजनों (परिवार, मित्र) से द्वेष करता हों तो वह एक मास में मृत्यु रूपी जल में डूब जाता हैं।

जिस मनुष्य के मस्तक पर सूखे गोबर के चूर्ण के समान चूर्ण स्नेह के साथ गिरता हो अर्थात् स्पर्श द्वारा प्रतीत होता हो और पुनःनष्ट हो जाता हो तो उस व्यक्ति की आयु एक मास के अन्त में नष्ट हो जाती हैं।

6. अर्धमास का अरिष्ट- जिस पुरुष का स्नान कर चन्दन लगाने के बाद सबसे पहले छाती का भाग अत्यन्त सूख जाता है और शरीर का अन्य सभी भाग गीला ही रहता हैं तो वह मनुष्य पन्द्रह दिन तक जीवित नहीं रहता।

दूताधिकार-

(अ) वैद्यस्थिति विषयक अरिष्ट- यदि दूत निम्न समय पर वैद्य के पास आ जाये तो यह वैद्य सम्बन्धित अरिष्ट के द्योतक है।

- वैद्य अपने केशों को खोले हुए अथवा नग्न स्थिति में हो।
- अग्नि में हवन करते समय अथवा पितरों को पिण्ड दान देते समय वैद्य के पास दूत आये।
- जब वैद्य किसी अप्रशस्त बात को कहता हो या सोच रहा हो।
- उपरोक्त समय पर दूत आ जाये तो अरिष्ट होता है।

(ब) स्वयंदूत विषयक अरिष्ट-

- भयभीत, दौड़कर, घबरा कर और मलिन वेष में आते हुए दूत को देखकर रोगी को मरणासन्न समझे।
- गदहे, ऊँट की सवारी या उसी पर बैठकर दूत आया हो।

- जिसका कोई अंग व्यसनी हो (लँगडे, काने, बहरे आदि)
- विकार के समान गुण, देश अथवा काल में आये हुए दूत को देखकर वैद्य उस रोगी की चिकित्सा न करें।

प्रशस्त दूत के चिह्न-

- जिसका आचरण सुन्दर हो, यशस्वी हो तथा श्वेत वस्त्र धारण किये हो।
- जिसका शिर मुण्डा हुआ न हो और न ही जटाधारी हो।
- ऊँट, गधे की सवारी पर बैठकर, दारुण एवं उग्र नक्षत्रों में न आया हो।
- चतुर्दशी, रिक्ता तिथि, राहुकाल तथा अर्धरात्रि में न आया हो।

(स) पथ में अरिष्टसूचक लक्षण-

- रोगी निरीक्षण के लिए यात्रा करते समय रास्ते में निम्न अशुभ लक्षणों को देखकर रोगी के घर वैद्य कभी न जाये।
- टोक लग जाना, निन्दा का शब्द सुनना, दुपट्टे या पगड़ी का किसी काँटे में फंस जाना।
- छाते का टूट जाना, छींक, मरे हुए मुर्दे के संबंधियों को दुखी देखना।
- बिल्ली, कुत्ता अथवा सर्प के द्वारा रास्ते को काट देना।

शुभ शकुन द्रव्य-

- दही, अक्षत, ब्राह्मण, अग्नि, कन्या।
- जल से भरे हुए घड़े, सफेद घोड़े, कच्चा फल, सफेद फूल, चन्दन।
- मृदंग और शंखों का शब्द सुनना, पुण्याहवाचन का शब्द, वेदाध्ययन का शब्द।
- दक्षिण भाग से सुखकारी वायु का बहना, उत्तम गंधों को सूँघना।
- इन वस्तुओं को मार्ग में, ग्रह में प्रवेश करते समय देखना आरोग्यसूचक लक्षण हैं।

साध्य असाध्यत्व

साध्यासाध्याविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः। काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्।।
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्। प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपचारेत्।।

(च. सू. 20/7-8)

रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने से पूर्व वैद्य को परीक्षा कर लेनी चाहिए कि रोग साध्य है या असाध्य ? रोग साध्य हो, चिकित्सक को उपचार का समग्र ज्ञान हो तथा चिकित्सा समय पर की जाए तभी रोग को सिद्ध (शान्त) करने में चिकित्सक को सफलता मिलती है। जो वैद्य असाध्य रोगो की चिकित्सा करता है। वह निश्चित रूप से अर्थ की हानि, विद्या की अप्रतिष्ठा, यश की हानि प्राप्त करता है, निन्दा का पात्र होता है, एवं रोगियों का संग्रह नहीं कर पाता।

साध्य असाध्य के आधार पर रोगों का वर्गीकरण :-

सुखसाध्यं मतं साध्यं कृच्छ्रसाध्यमथापि च। द्विविधं चाप्यसाध्यं स्याद्याप्यं यञ्चानुपक्रमम्।।
साध्यानां त्रिविधश्चत्पमध्यमोत्कृष्टतां प्रति विकल्पो न त्वसाध्यानां नियतानां विकल्पना।।

(च. सू. 10/9-10)

साध्यासाध्यता के प्रकार - साध्य रोगों के दो भेद होते हैं।

(1) सुख साध्य और (2) कृच्छ्रसाध्य। असाध्य रोगों के भी दो भेद होते हैं। (1) याप्य और (2) अनुपक्रम। पुनः साध्य रोगों के तीन भेद होते हैं। (1) अल्प उपाय साध्य (2) मध्य उपाय साध्य (3) उत्कृष्ट उपाय साध्य।

जो रोग निश्चित रूप से असाध्य होते हैं। उनका कोई भेद नहीं होता।

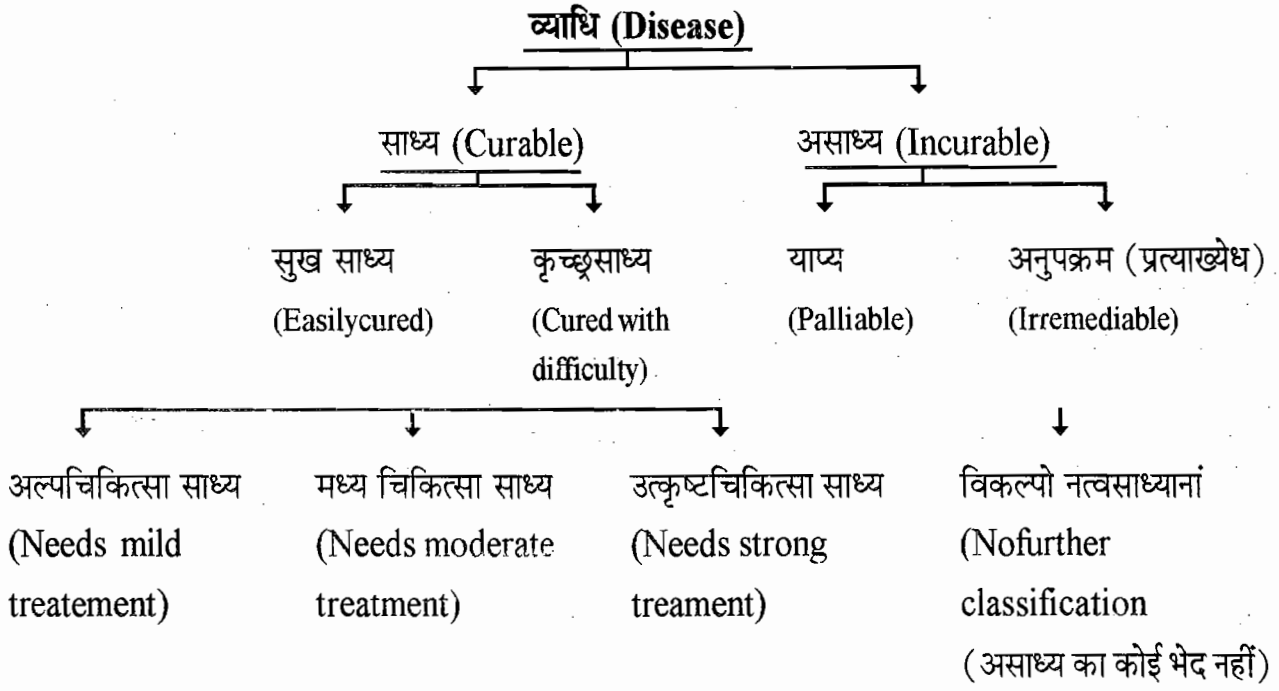

सुख साध्य रोगों का स्वरूप :-

हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य च। न च तुल्य गुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्।।
न च कालगुणैस्तुल्यो न देशो दुरूपक्रमः। गतिरेका नवत्वं च रोगस्योपद्रवो न च।।
दोषश्चैकः समुत्पत्तौ देहः सर्वौषधक्षमः। चतुष्पादोपपत्तिश्च सुख साध्यस्य लक्षणम्।।

(च. सू. 10/11-13)

सर्वौषधक्षये देहे युनः पुंसो जितात्मनः। अमर्मगोऽल्पहेत्वग्रहरूपरूपोऽनुपद्रवः।।
अतुल्य इष्यदेशर्तुप्रकृतिः पादसम्पदि। ग्रहेष्वनुगुणेष्वेकदोषमार्गो नवः सुखः।। (अ. हृ. सू. 1/30-31)

अष्टांग संग्रह के अनुसार उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य सुख साध्य के लक्षण वर्णित किए हैं :-

सुख साध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।। (अ. स. सू. 1/29)
देश प्रकृतिसात्म्यर्तुविपरीतोऽचिरोत्थितः। सम्पत्तौ भिषगादीनां बलसत्वायुषां तथा।।

(सु. सू. 35/54-55)

(1) हेतु व पूर्वरूप अल्प होने पर - जैसे :- सन्निपातिक ज्वर के लक्षण "क्षणेदाहक्षणेशीतं" आदि लक्षण अल्प संख्या में हों अथवा कोई भी लक्षण अल्प बलवाला हो, इसी प्रकार अल्प निदान सेवन से रोग उत्पन्न हुआ हो। जैसे :- ज्वर वात या पित्त या कफ प्रकोपक आहार विहारों में से किसी एक दोष के प्रकोपक आहार विहार के सेवन से उत्पन्न हो।

(2) दोष दूष्य के आपस में तुल्य गुण नहीं होना। जैसे :- कफ दोष से दूषित रक्त सुख साध्य होता है। क्योंकि कफ दोष प्रकृति से शीतल होता है और रक्त प्रकृति से उष्ण होता है। ऐसी स्थिति में रोग सुख साध्य होगा।

(3) दोष तथा प्रकृति का आपस में तुल्यगुण न होना, जैसे :- वातिक प्रकृति वाले पुरुष को कफज या पित्तज रोग, पित्त प्रकृति वाले को कफज या वातज रोग, कफ प्रकृति वाले को पित्तज या वातज रोग हो तो ये सब सुखसाध्य होंगें।

(4) दोष तथा काल के गुणों का तुल्य न होना जैसे- शरद में कफज और वातज, हेमन्त में वातज या पित्तज रोग हो तो यह सब सुखसाध्य होगा। (ज्वर में अपवाद स्वरूप प्राकृत ज्वर साध्य अप्राकृत ज्वर असाध्य है।)

(5) दुरुपक्रम देश में उत्पन्न ना हो- देश अर्थात् रोगी जिस स्थान या भूमि पर रहता है, वह चिकित्सा करने में कठिनाई उत्पन्न करने वाला न हो। जैसे- वातकफप्रधान आनूप देश में पित्तज रोग, वातपित्त प्रधान जाङ्गल देश में कफज रोग सुख साध्य होते हैं। शारीरिक देश, जैसे :- मर्मस्थान के रोग न हों।

(6) सर्वौषधिक्षम देह - रोगी तीक्ष्ण, मृदु, मध्य द्रव्यों और तीक्ष्ण, मृदु, मध्य, संशोधन, संशमन या अपतर्पण, संतर्पण आदि के प्रयोगों से विचलित न होने वाला हों।

(7) गतिरेका - दोष एक ही मार्ग में प्रसृत हों। जैसे :- उर्ध्वगत रक्तपित्त साध्य होता है। जबकि उभयमार्गगत रक्त पित्त असाध्य होता है।

(8) नवत्वम् :- रोग तरुण अथवा अचिरोत्पन्न अथवा नवीन हो। रोग का प्रादुर्भाव हुए एक वर्ष न बीता हो। तरुण रोग का अर्थ है जिसे हुए एक वर्ष से न्यून समय हुआ हो इसके पश्चात् रोग जीर्ण हो जाता है।

जैसे :- नवीन अर्श सुखसाध्य होता है।

(9) रोगस्योपद्रवो न च:- रोगोपद्रवो से रहित हो, क्योंकि हेतु, पूर्वरूप और रूप के अल्प होने पर सुखसाध्य रोग में कदापि उपद्रव नहीं होगें।

(10) दोषश्चैक: समुत्पत्तौ - रोगोत्पादक दोष एक हों, जैसे- केवल वातिक ज्वर सुखसाध्य होता है।

(11) चतुष्पादोपपत्तिश्च - चिकित्सा के चारों पाद (वैद्य, औषध, परिचारक, रोगी) अपने गुणों से युक्त हो तो वह रोग सुखसाध्य रोग होता है।

(12) आचार्य वाग्भट के अनुसार वर्णित अन्य लक्षण **गृहेष्वनुगुणे** रोगी के सूर्यादि नव गृह अनुकूल हो। अनुकूल राशियों में स्थित हो, तथा उत्तम स्थानों में स्थित हो जिससे इसकी आयु शेष हों।

(13) आचार्य सुश्रुत के अनुसार बल सत्वायुषां - रोगी बल, सत्व व आयु प्रकृष्ट होने पर रोग सुखसाध्य होता है। जैसे :- बलवान रोगी में अर्श सुखसाध्य होता है।

कृच्छ्रसाध्यरोगों का स्वरूप:-

निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले। कालप्रकृति दूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च।।
गर्भिणीवृद्ध बालानां नात्युपद्रवपीडितम्। शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानामनवं कृच्छ्रदेशजम्।।
विद्यादेकपथं रोगं नातिपूर्णचतुष्पदम्। द्विपथं नातिकालं वा कृच्छ्रसाध्यं द्विदोषजम्।।

(च. सू. 10/14-15-16)

शस्त्रादिसाधनः कृच्छ्रः सङ्करे च ततो गदः। (अ. हृ. सू. 1/32)

कृच्छ्रैरूपायैः कृच्छ्रस्तु महद्भिश्च चिरेण च। असाध्यलिङ्गसङ्कीर्णस्तथा शस्त्रादिसाधनः।।

(अ. स. सू. 3/30)

---- **कृच्छ्रो व्यामिश्रलक्षणः।।** (सु. स. सू. 36/55)

(1) निमित्त, पूर्वरूप, रूप के मध्यम बल होने पर - शास्त्रों में वर्णित किसी व्याधि के निदान पूर्वरूप व रूप यदि सुखसाध्य रोगों के समान मृदु अथवा अल्प संख्या वाले न हो तथा असाध्य रोगों के समान दारुण भी न हो।

(2) काल (ऋतु), प्रकृति, दुष्य इनमें से कोई एक ही रोगारम्भक दोष के समान हो।

(3) गर्भिणी वृद्ध बालानाम् - रोगी यदि गर्भिणी वृद्ध या बालक हो क्योंकि बालक, वृद्ध आदि सभी औषधों को ग्रहण करने में सक्षम नहीं होते हैं।

(4) नात्युपद्रवपीडितम् - रोग के उपद्रव तो हो परन्तु वो अत्यधिक संख्या में न हो। जैसे :- अरूचि के उपद्रव, मूर्च्छा, प्रलाप, वमथु आदि में से कुछ ही उपद्रव उपस्थित हो तो।

(5) शस्त्रक्षाराग्निकृत्यानाम् - शस्त्र, क्षार, अग्नि के द्वारा चिकित्सित रोग कृच्छ्रसाध्य होते हैं, क्योंकि क्षार व अग्नि का अधिक प्रयोग करने से व्याधि शान्त होने की बजाय वृद्धि को प्राप्त होती है।

(6) अनवम् - एक वर्ष पुराना रोग अनव या जीर्ण कहलायेगा। जैसे :- एक वर्ष पुराना अर्श कृच्छ्रसाध्य होता है।

(7) कृच्छ्रदेशजम् - कठिन देशों में उत्पन्न रोग कृच्छ्र साध्य होते हैं। जैसे:- कुक्षि, स्तन, सेवनी, नाभि आदि स्थानों पर स्थित व्रण कृच्छ्रता से साध्य होते हैं।

(8) विद्यादेकपथं नति पूर्णचतुष्पदम् कोई भी रोग आभ्यान्तर रोगमार्ग अथवा बाह्य रोगमार्ग अथवा मध्यम रोगमार्ग में किसी एक रोगमार्ग का ही अनुकरण करते हुए उत्पन्न हो परन्तु चिकित्सा के चारों पाद प्रशस्त ना हो तो रोग सुख साध्य होते हुए भी कच्छ्रसाध्य हो जाता है।

(9) द्विपथं नातिकालम् - उपरोक्त तीनों रोगमार्गों में से दो रोगमार्गों में गया हुआ हो किन्तु अधिक पुराना न हो जैसे :- आभ्यान्तराश्रित विसर्प कृच्छ्र साध्य होता है।

(10) द्विदोषज -जो रोग दो दोषों से उत्पन्न हो जैसे द्विदोषज अर्श कृच्छ्रसाध्य होता हैं।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार- साध्य व असाध्य रोगों के मिश्रित लक्षणों को कृच्छ्रसाध्य रोगों का लक्षण जाना जाता है।

याप्य रोगों का स्वरूप :-

शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया। लब्धाल्पसुखमल्पेनहेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम्।।

गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम्। नित्यानुशायिनं रोगं दीर्घकालमवस्थितम्।।

विद्याद् द्विदोषजम् (च. स. सू. 10/17-18)

शेषत्वादायुषो याप्यः पथ्याभ्यासाद्विपर्यये। (अ. हृ. सू. 1/32)

शेषत्वादायुषः पथ्यैर्याप्यः प्रायो विपर्यये। दत्त्वाऽल्पं सुखमल्पेन हेतुना स प्रतन्यते।।

याति नाशेषतां रोगः कर्मजो नियतायुषः। प्रपतन्निवः विष्कम्भैर्धार्यतेऽत्रातुरो हितैः।।

(अ. स. सू. 3/31-32)

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्। क्रियायां तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति।।
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्। प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधुयोजितः।।

(सु. स. सू. 23/10-11)

(1) उचित क्रिया (चिकित्सा) जिस रोगी को उस रोग से अधिक पीड़ित न होने देती हो तथा धारित किये रहे किन्तु उस चिकित्सा के छोड़ देने पर रोगी शीघ्र मर जाता हो, उस रोगी को याप्य जानना चाहिए। जिस प्रकार उचित रूप से लगाया हुआ खम्भा गिरते हुए मकान को रोक देता है। उसी प्रकार प्रारम्भ की हुई उचित चिकित्सा याप्य रोग से पीडित रोगी को धारण किये रखती है। कुछ आयु के शेष रहने पर तथा जिसे कर्मफल भोगना हो उसे याप्य रोग होता है।

(2) याप्य रोग में साध्य व्याधि से अधिक असाध्य व्याधि के लक्षण होते हैं। परन्तु आयु के शेष होने के कारण तथा आहार-विहार के पथ्य से रोग याप्य हो जाता है। यह याप्य रोग थोड़े समय के लिए शान्त होकर रोगी को आराम देता है परन्तु फिर जल्दी ही थोड़े से कारण से उठ खड़ा होकर फैल जाता है। इस प्रकार का रोग कभी भी मूल से नष्ट नहीं होता। क्योंकि पापकृत्यों से उत्पन्न रोग न तो रोगी को मारता है और न स्वयं नष्ट होता है। अपितु मृत्यु पर्यन्त रोगी को पीड़ित करता रहता है।

(3) **शेषत्वादायुषो याप्यमसाध्यं पथ्यसेवया लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशुप्रवर्तकम्**- आयु के शेष रहने के कारण पथ्य आहार विहार के सेवन से थोड़ा अच्छा होकर पुनः थोड़े ही कारण से जो रोग भयानक रूप से बढ जाय।

(4) गम्भीरं बहुधातुस्थं मर्मसन्धिसमाश्रितम् - इनमे दोष गम्भीर धातु में स्थित होते है, अर्थात् दोष उत्तरोत्तर धातुओं में पहुँचता हुआ मेद आदि पर्यन्त अनुप्रविष्ट हुआ होता है। वह अनेक धातुओं में स्थित होता है। रोग का स्थान संश्रय मर्मो और अस्थि सन्धियों में होता है।

(5) नित्यानुशायिनं - कर्म के प्रबल होने से रोग ठीक नहीं होता है और आयु के शेष होने से रोगी की मृत्यु भी नहीं होती है। चिकित्सा करने से लाभ होता है, और चिकित्सा छोड़ देने से रोग पुनः पूर्ववत् हो जाता है। जैसे:- प्रमेह अनुषङ्गी होता है, प्रमेह रोग से ग्रसित व्यक्ति जब तक जीवित रहता है तब तक रोग से पीड़ित रहता है।

प्रत्याख्येय/अनुपक्रम रोग का स्वरूप :-

तद्वत् प्रत्याख्येयं त्रिदोषजम्। क्रियापथमतिक्रान्तं सर्वमार्गानुसारिणम्।
औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम्। दुर्बलस्य सुसंवृद्धं व्याधिं सारिष्टमेव च।। (च. सू. 10/19-20)
अनुपक्रम एव स्यात्स्थितोऽत्यन्तविपर्यये। औत्सुक्यमोहारतिकृद् दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः। (अ. हृ. सू. 1/33)
परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते। तस्मादुपेक्ष्य एवासौ स्थितोऽत्यन्तविपर्यये।।
भ्रममोहारतिकरो दृष्टरिष्टोऽक्षनाशनः। अ. सू. सू. (3/33)
अतोऽन्यथा त्वसाध्यः स्यात्-----। (सु. सू. 36/54)

1. त्रिदोषजम् - जो रोग त्रिदोषज हो अर्थात् तीन दोषों से उत्पन्न होने वाली व्याधि असाध्य होती है। जैसे :- त्रिदोषज अर्श असाध्य होता है।

2. क्रियापथमतिकान्तं सर्वमार्गानुसारिणम् - जिस रोग में दोष अपने मार्ग के अतिरिक्त सभी मार्गों में आश्रित हो जाऐ। जैसे :- तिर्यकगत रक्तपित में दोष उर्ध्व मार्ग, अद्योमार्ग के अतिरिक्त सभी छिद्रों से तथा रोम कूपो में प्रवृत्त होने लगता है, तब रोग असाध्य होता है।

3. औत्सुक्यारतिसंमोहकरमिन्द्रियनाशनम् – बार-बार उत्सुकता, अरति, मोह और इन्द्रियों की शक्ति का नाश हो जाता हो।

औत्सुक्य अर्थात् विषय उत्कण्ठा, संमोह, धी, धृति, व्याधि आदि मन के ज्ञानों का नाश। अरति अर्थात् उठने बैठने आदि किसी भी स्थिति में बैचेनी होना।

4. दुर्बल व सुसंवृद्ध व्याधि – अर्थात् पुरुष दुर्बल हो व्याधि की शक्ति प्रबल हो।

5. अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होना।

संक्षेप में प्रत्याख्येय असाध्य के उस भेद का नाम है। जिसमें सर्व प्रकार की चिकित्सा विफल होती है। ऐसे रोगों की चिकित्सा करने से यश, अर्थ आदि की हानि होती है। इसे प्रत्याख्येय अनुपक्रम कहते हैं।

अनुक्त व्याधि का नैदानिक सिद्धान्त

अनुक्त व्याधि का शाब्दिक अर्थ है

अन् + उक्त + व्याधि

- अर्थात् जो व्याधियाँ शास्त्रों में वर्णित नहीं की गयी है उन्हें अनुक्त कहा जाता है। जबकि शास्त्रों में वर्णित व्याधियों को शास्त्रोक्त व्याधि कहा जाता है।
- आचार्य चरक ने चरक निदान में केवल आठ व्याधियों का वर्णन किया तथा चिकित्सा स्थान के 30 अध्यायों में अनेक व्याधियों का वर्णन किया परन्तु आधुनिक वातावरण में व्याधियों का स्वरूप ही बदलता जा रहा है। परिवर्तित स्वरूप वाली इन व्याधियों को शास्त्रों में नहीं देखे जाने के कारण अनुक्त व्याधि कहा जाने लगा।
- चरक विमान स्थान तृतीय अध्याय में बताया गया है त्रेता युग में व्याधि उत्पत्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ अर्थात् सभी व्याधियों का प्रारम्भ त्रेता से हुआ, जो कई युगों में विभिन्न रूपों में परिवर्तित होती हुयी कालान्तर में उन रूपों के साथ दिखाई देती है जो संहिताओं में वर्णित ही नहीं है।
- संहिताकाल में उक्त निदानों के अनुसार शास्त्रोक्त व्याधि हुआ करती थी आधुनिक समय में निदानों के सेवन में ही परिवर्तन आ चुका है तो यह निश्चित है कि व्याधियों के रूपों में भी परिवर्तन आयेगा। यह परिवर्तन तब तक चलता रहेगा जब तक सृष्टि विद्यमान है।
- अनुक्त व्याधि का ज्ञान उसी सिद्धान्त के आधार पर करते है जिस सिद्धान्त के आधार पर शास्त्रोक्त व्याधियों का वर्णन किया गया है।

आचार्य चरक ने त्रिविधरोग विज्ञानीय अध्याय के अन्तर्गत आप्तोपदेश परीक्षा में वर्णित किया कि किसी भी शास्त्रोक्त व्याधि को शास्त्रों में निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत वर्णन किया गया है अतः जो व्याधियाँ शास्त्रों में वर्णित नहीं है उन्हें भी इन्हीं बिन्दुओं के अधीन ही जाना जायेगा।

तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः - रोगमेकैकमेवं प्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेव मधिष्ठानमेवं वेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षय समन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात् तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्ति रित्युपदेशाज्ज्ञायते। (च. वि. 4/6)

किसी भी रोग के निम्न घटकों का वर्णन संहिताओं में मिलता है।

1. ऐसे प्रकोपण वाला
2. एवं योनि – ऐसी प्रकृति वाला
3. एवं उत्थान – ऐसे कारणों वाला
4. एवं आत्मानम् – ऐसे स्वरूप वाला
5. एवमधिष्ठानम – ऐसे स्थान वाला
6. एवमवेदनम् – ऐसी वेदना वाला
7. एवमसंस्थानम् – ऐसे लक्षण वाला
8. एवमशब्दस्पर्शरुपरसगन्ध – ऐसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध वाला
9. एवमुपद्रवं – ऐसे उपद्रवों वाला
10. एवम् वृद्धि, स्थान, क्षय – ऐसे वृद्धि, स्थान व क्षय वाला होता है।
11. एवम् उदर्क – ऐसे भविष्य वाला
12. एवम् नामानाम् – ऐसे नाम वाला
13. एवम् योग – ऐसे योग वाला
14. इस रोग में इसे दूर करने के लिये इस प्रकार की चिकित्सा होगी इस प्रकार जानना चाहिये।
15. प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रत्युपदेशाज्जायते – इस रोग में यह विकृति है यह सभी बाते उपदेश में जानी जाती है।

इस प्रकार किसी भी व्याधि को शास्त्रों में इन घटकों द्वारा जाना जाता है, अत: जो व्याधियाँ शास्त्रों में वर्णित नहीं है उन्हें भी इन्हीं घटकों के रूप में ही जानना चाहिये।

आचार्य चरक ने अनुक्त व्याधि के सन्दर्भ में सूत्रस्थान 18 त्रिशोथीयाध्याय में भी वर्णन किया है। जिसका वर्णन व्याधि नामकरण प्रकरण में हम कर चुके हैं। जो व्याधि का वर्णन शास्त्र में नहीं है उनका नामकरण करने के लिये बोधि त्रय जानना आवश्यक है क्योंकि यह बोधि त्रितय रोग की प्रकृति, विकृति लक्षण नामकरण करने में ही नहीं वरन् व्याधि के सर्वसम्पूर्ण ज्ञान के लिए उपयोगी होते हैं।

तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च। समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्।
यो ह्येतत्रितयं ज्ञात्वा कर्मण्यारभते भिषक्।। (च. सू. 18/46)
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं सकर्मसु न मुह्यति।।

रोग की प्रकृति, अधिष्ठान, समुत्थानविशेष को ठीक-ठीक जानकर ही चिकित्सा कार्य करना चाहिये। जो वैद्य इन तीनों त्रितय को ठीक-ठीक जानकर ज्ञानपूर्वक यथान्याय किसी भी रोग की चिकित्सा करता है तो उसे मोह प्राप्त नहीं होता है।

यह त्रिविध बोध्य संग्रह (विकार प्रकृति, अधिष्ठान, समुत्थान) किसी भी व्याधि के ज्ञान व उसकी सम्यक् चिकित्सा करने के लिये आवश्यक होते हैं।

अत: अनुक्त व्याधि का ज्ञान चरक विमान स्थान में वर्णित विभिन्न घटकों के द्वारा तथा चरक सूत्रस्थान में वर्णित बोधि त्रितय के आधार पर किया जाता है जिससे अनुक्त व्याधि को शास्त्र के अनुसार जानकर चिकित्सा का निर्धारण किया जाये।

उदाहरण स्वरूप - Pleural effusion

Pleural effusion एक अनुक्त व्याधि है उसे उपरोक्त विषयान्तर्गत इस प्रकार समझा जायेगा।

1. एवम् प्रकोपण (Precipitating factor)	Defective body defense mechanism
2. एवम् योनि (Nature of disease)	Pleural disorder with inflammatory exudation
3. एवम् उत्थान (Causative factor)	Infection - T.B., Bronchogenic carcinoma
4. एवम् आत्मानम् (Chief complaints)	Pain inside worse on coughing
5. एवम् अधिष्ठान (Involved organ)	Pleural cavity, Thoracic Region
6. एवम् वेदना - (Pain)	Sharp, stabbing tearing pain
7. एवम् संस्थानम् - लक्षण	Pyrexia, Pleural pain , cough, loss of weight
8. एवम् शब्दस्पर्श रूप रस गन्ध -	
शब्द	Dull note on Auscultation
रूप	Bulging of intercostal space
स्पर्श	Diminished mobility of chest,
रस	Nill
गन्ध	Not specific
9. एवम् उपद्रव (Complication)	Acute pulmonary tuberculosis
10. एवम् वृद्धिक्षय स्थान-	
वृद्धि	Pleural shock, pulmonary oedema
क्षय	Cure the disease
11. एवम् उदर्क -	Either cured or untreatable causes sudden death
12. एवम् नाम -	Pleural effusion
13. एवम् योग-	Treatment
14. चिकित्सा	Rest, fluid drainage, Oral medication
15. विकृति -	Deformity in lungs or pleural cavity

अध्याय-5

परीक्षाविज्ञानम्

परीक्ष्यकारिणो हि कुशला भवन्ति। इसका तात्पर्य है कि रोगी और रोग परीक्षा करने वाला हि कुशल चिकित्सक होता है। परीक्षा कार्य में अकुशलता रखने पर व उपेक्षा दृष्टि रखने से चिकित्सा कार्य में कदापि सफलता नहीं मिल सकती है। जो वैद्य बुद्धिमत्ता से परीक्षा नहीं करता है, वह रोगी के अर्न्तमन में प्रवेश कर चिकित्सा भी नहीं कर सकता है।

परीक्षयास्तु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्तिर्नाम योविकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम्। (च. वि. 8/132)

परीक्षा का प्रयोजन प्रतिपत्ति ज्ञान है। जिस रोग की आयुर्वेद शास्त्र में जिस प्रकार की उत्पत्ति, लक्षण आदि बताये गये हैं, उसे उसी प्रकार जानकर तदनुकूल चिकित्सा का विधान करना प्रतिपत्ति कहलाता है।

रोगी परीक्षा विधियाँ

त्रिविध परीक्षा

(1) प्रमाणों द्वारा रोगी परीक्षा -

(1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) आप्तोपदेश।

(2) वाग्भट के अनुसार त्रिविध परीक्षा-

(1) दर्शन परीक्षा (2) स्पर्शन परीक्षा (3) प्रश्न परीक्षा।

2. चतुर्विध परीक्षा

(1) प्रत्यक्ष (2) अनुमान (3) आप्तोपदेश (4) युक्ति

3. षड्विध परीक्षा

(1) श्रोत्रेन्द्रिय परीक्षा (2) त्वगेन्द्रिय परीक्षा (3) दर्शनेन्द्रिय परीक्षा

(4) रसनेन्द्रिय परीक्षा (5) घ्राणेन्द्रिय परीक्षा (6) प्रश्न परीक्षा

4. अष्टविध परीक्षा

(1) नाड़ी (2) मूत्र (3) मल (4) जिह्वा

(5) शब्द (6) स्पर्श (7) दृक् (8) आकृति

5. दशविध परीक्षा

(1) प्रकृति	(2) विकृति	(3) सार	(4) संहनन
(5) प्रमाण	(6) सात्म्य	(7) सत्त्व	(8) आहार शक्ति
(9) व्यायाम शक्ति	(10) वय		

त्रिविध परीक्षा

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति।

तद्यथा- आप्तोपदेशः प्रत्यक्षम् अनुमानं चेति।। (च. वि. 4/3)

रोगों के ज्ञान के उपाय, साधन या प्रमाण तीन है, आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान।

ये तीन प्रमाण कभी तीनों मिलकर रोग-विशेष का ज्ञान करते है, कभी दो और कभी एक से ही रोग का ज्ञान होता है।

उदाहरण - अग्निमांद्य आदि आभ्यान्तर रोगों में प्रत्यक्ष सदा उपयोग में नहीं आता।

1. आप्तोपदेश -

तत्राप्तोपदेशो नाम आप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभागविदो निष्प्रीत्युपतापदर्शिश्च। तेषामेवंगुणयोगाद्यद्वचनं तत् प्रमाणम्। अप्रमाणं पुनर्मत्तोन्तमत्तमूर्खरक्तदुष्टा-दुष्टवचनमिति। (च. वि. 4/4)

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेन ये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा।।

आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं, वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः।।

(च. सू. 11/18-19)

आप्तोपदेश को 'शब्द' प्रमाण भी कहा जाता है।

आप्त पुरुष के वचन को आप्तोपदेश, आगम या ऐतिह्य प्रमाण कहा जाता है। जिन पुरुषों का ज्ञान तथा वचन राग द्वेष से शून्य हो, जिनके वचन भी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान कराने वाले हो, उन पुरुषों को आप्त कहते है। ऐसे पुरुषों के उक्तगुणयुक्त कथन को आप्त प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरित जिसके स्वभाव में दुष्टता हो, जो धूर्त हो अथवा जो मत्त या उन्मत्त हो, ऐसा पुरुष का कहा वचन आप्त या प्रमाणभूत नहीं समझना चाहिए।

आप्त के पर्याय- शिष्ट, विबुद्ध।

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तापदेशाज्ज्ञानं तथा प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् परीक्षोपपद्यते।

प्रत्यक्ष, अनुमान आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणों में से शास्त्रों में वर्णित रोगों के सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् रोगी पर प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा ही परीक्षा करते है। यदि आप्त वचनों द्वारा प्रथम रोग विषय ज्ञान नहीं प्राप्त किया तो, प्रत्यक्ष और अनुमान किस प्रकार से होगा?

आप्तोपदेश द्वारा ग्राह्य विषय

रोगमेकैकमेवं प्रकोपणमेवंयोनिमेवमुत्थानमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेववेदनमेवंसंस्थानमेवं शब्दस्पर्शरूप रस गन्धमेवमुपद्रवमेवंवृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवं योगं विद्यात्, तस्मिन्नियं प्रतीकारार्था प्रवृतिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते।। (च. वि. 4/6)

बुद्धिनाम वैद्य रोगों की परीक्षा करने के लिए इस प्रकार उपदेश करते है। एक-एक रोग को ऐसे प्रकोपणों वाला, ऐसी प्रकृति वाला, ऐसे कारणों वाला, ऐसे स्वरूप वाला, ऐसे स्थान वाला, ऐसी वेदना वाला, ऐसे लक्षण वाला, ऐसे शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध वाला, ऐसे उपद्रवों वाला ऐसे वृद्धि, स्थान और क्षय वाला,ऐसे भविष्य वाला, ऐसे नाम वाला और ऐसे योग वाला है, इस प्रकार जानना चाहिए। इस रोग में इसे दूर करने के लिए इस प्रकार की चिकित्सा होगी या इस रोग में यह विकृति है, यह सभी बातें उपदेश से जानी जाती है।

इस विषय का विस्तृत वर्णन अनुक्त व्याधि प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है।

2. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते। (च. वि. 4/4)

प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः। शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः। (च. वि. 8/39)

इन्द्रियों के द्वारा तथा अतीन्द्रिय मन के द्वारा किया गया विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है।

जो मन और पंचेन्द्रियों से स्वयं जाना जाता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है। सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रत्यनादि का मन से प्रत्यक्ष होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। इसी विषय में स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य चक्रपाणि ने प्रत्यक्ष के 2 भेद बताए - 1 बाह्य 2 मानस प्रत्यक्ष

1. बाह्य प्रत्यक्ष

स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि तत्प्रत्यक्षमिति बाह्य प्रत्यक्षं गृह्णाति।

प्रत्यक्ष ज्ञान हेतु आत्मा, मन, इन्द्रिय व इन्द्रियार्थो का संयोग होना आवश्यक है अत: विभिन्न इन्द्रियाँ जैसे चक्षु, श्रोत्र आदि के द्वारा किया गया ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष कहलाता है जबकि इसी ज्ञान द्वारा मन को होने वाली अनुभूति मानस प्रत्यक्ष के अन्तर्गत जानी जाती है।

2. मानस प्रत्यक्ष -

मनसा चेत्येनन च मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि तच्च मानसं प्रत्यक्षं गृह्णाति। (चक्र)

सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष आदि मानस विषयों के प्रत्यक्ष ज्ञान को मानस प्रत्यक्ष कहते है।

3. अनुमान प्रमाण-

अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः। (च. वि. 4/4)

युक्ति पूर्वक किसी भी विषय का ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। युक्ति के बिना अनुमान प्रमाण का ज्ञान असंभव है। अत: इस प्रकार अनुमान से जानने योग्य विषय निम्न है-

जैसे पाचन शक्ति से अग्नि की, व्यायाम करने की शक्ति से बल की, शब्दादि विषयों के समुचित ग्रहण से कर्णादि इन्द्रियों का अनुमान।

दर्शनादि त्रिविध परीक्षा

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा स्मृताः। (च. चि. 25/22)

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेत च रोगिणम्। (अ. हृ. सू. 1/22)

अष्टाङ्ग हृदय के अनुसार रोगी की परीक्षा त्रिविध प्रकार से की जा सकती है- दर्शन, स्पर्शन, प्रश्न। आचार्य सुश्रुत के अनुसार भी रोगी के समीप जाते ही दर्शन, स्पर्शन द्वारा रोगी की परीक्षा की जाती है, तदपुरान्त रोगी परीक्षा करनी चाहिए।

1. दर्शन परीक्षा-

वयोवर्णशरीराणामिन्द्रियाणां च दर्शनात्। (च. चि. 25/22)

दर्शन से रोगी का वय, वर्ण, शरीर की परीक्षा करनी चाहिए।

2. प्रश्न परीक्षा-

हेत्वर्तिसात्म्याग्निबलं परीक्ष्यं वचनाद् बुधैः। (च. चि. 25/22)

प्रश्न के द्वारा किसी भी व्याधि विशेष के निदान, वेदना का प्रकार, सात्म्य और जठराग्नि बल आदि का ज्ञान करना चाहिए।

3. स्पर्श- परीक्षा-

स्पर्शान्मार्दवशैत्ये च परीक्ष्ये सविपर्यये। (च. चि. 25/22)

स्पर्श के द्वारा मृदु, शीत आदि लक्षणों का ज्ञान किया जाता है।

चतुर्विधपरीक्षा

चतुर्विध परीक्षा- आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं, युक्तिश्चेति (च. सू. 11/17)

जगत् की सभी वस्तुओं की परीक्षा 4 प्रमाणों द्वारा की जाती हैं।

1. आप्तोपदेश	2. प्रत्यक्ष
3. अनुमान	4. युक्ति

षडविध परीक्षा

षडविधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः। (सु. सू. 10/4)

तद्यथा- पञ्चाभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति।।

आचार्य सुश्रुत के अनुसार रोग ज्ञान के 6 उपाय बताए गए है-

जैसे- श्रोत्र, नेत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा तथा प्रश्न।

1. श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य विषय -

तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणास्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते- तत्र सफेनं रक्तमीरयन्निलः सशब्दो निर्गच्छति इत्येवमादयः। (सु. सू. 10/5)

तद्यथा- अन्त्रकूजनं, सन्धिस्फुटनमङ्गुलीपर्वणां च, स्वरविशेषांश्च, ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्ताञ्छ्रोत्रेण परीक्षेत्। (च. वि. 4/7)

आचार्य चरक ने श्रोत्रेन्द्रिय परीक्षा का वर्णन प्रत्यक्ष परीक्षा के अन्तर्गत किया। जैसे- आंतों में गुडगुडाहट, सन्धियों तथा अंगुलियों के पर्वों का फूटना, तथा स्वर भेद का ज्ञान निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

लक्षण	व्याधि
स्वरभेद	क्षतजकास, वातज कास
गर्दभवत् स्वर	वातज स्वर भेद
खर स्वर	वातज स्वर भेद
भिन्न कास्य स्वर	कास
आन्त्र कूजन	ग्रहणी दोष पूर्वरूप एवं
	गुल्म रोग पूर्वरूप
	सान्निपातिक ग्रहणी रोग

2. स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य विषय -

स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेया: शीतोष्ण श्लक्ष्ण कर्कश मृदु कठिनत्वादय: स्पर्शविशेषाज्वर शोफादिषु।

(सु. सू. 10/5)

स्पर्श च पाणिना प्रकृतिविकृतियुक्तमिति। (च. वि. 4/7)

स्पर्शनेन्द्रिय के द्वारा शीत, श्लक्ष्ण, कर्कश, मृदु कठिन आदि लक्षणों का ज्ञान होता है। इन्हीं के द्वारा शोफ व ज्वर आदि की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञान होता है।

प्रकृति एवं विकृति से युक्त स्पर्श की परीक्षा हाथ से करनी चाहिए।

लक्षण	व्याधि
उदकपूर्णदुतिक्षोभसंस्पर्श भवति	उदकोदर
परिपिण्डितत्वात् स्पर्शोपलभ्य:	गुल्म
बहलं हस्तिचर्मवत्	चर्माख्य कुष्ठ
किण, खर, स्पर्श, परुष	किटिभ कुष्ठ
संस्पर्शासहमुच्यते	चर्मदल

3. चक्षुरेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य विषय -

चक्षुरिन्द्रियविज्ञेया: शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादय:। (सु. सू. 10/4)

वर्णसंस्थानप्रमाणच्छाया:, शरीर प्रकृतिविकारौ चक्षुर्वैषयिकाणि यानि चान्यान्यनुक्तानि तानिचक्षुषा परीक्षेत्। (च. वि. 4/7)

(चक्षुरेन्द्रिय के द्वारा शरीर की वृद्धि और ह्रास, आयु के लक्षण, बल वर्ण और विकार आदि का ज्ञान करते है।)

चक्षुरेन्द्रिय द्वारा परीक्ष्य विषय है- शरीर का वर्ण, आकृति, वृद्धि एवं ह्रास, आयु के लक्षण, बल, मांस, शरीर की द्रष्टव्य प्रकृति और विकृति आदि।

लक्षण	व्याधि
अक्षिरोग	रक्तज अभिष्यन्द
रक्तैकलोचन	छिन्न श्वास
श्वेतपीत लोचन	पाण्डु
कृष्ण नेत्रता	वातज अर्श, कामला (असाध्य), वातज पाण्डु, वातज स्वरेभेद
रक्तपीत शकृन्मूत्र	कामला

4. रसनेन्द्रिय परीक्षा :-

रसनेन्द्रियविज्ञेयाः प्रमेहादिषु रसविशेषाः। (सु. सू. 10/5)

रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत्, न ह्यस्य प्रत्यक्षेण गृहणमुपपद्यते, तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात्, यूकापसर्पणेनत्वस्य शरीरवैरस्यं, मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यं, लोहितपित्तसंदेहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्य-नुमातव्यम्, एवम् न्यानप्यातुरशरीरगता [रसानुनमिभीतः। (च. वि. 4/7)

(1) रसनेन्द्रियों के द्वारा लक्षणों का ज्ञान अनुमान प्रमाण द्वारा तथा प्रश्न द्वारा करना चाहिए। रोगी के जिह्वा के रस का ज्ञान प्रश्न द्वारा किया जाता है।

(2) रोगी के शरीर से यदि जूवें व लीखें आदि जन्तु अलग हो जाए तो शरीर का रस विकृत हो गया है। मक्खियों के शरीर पर अधिक बैठने से शरीर का रस मीठा हो गया है। रक्तपित्त के संदेह होने पर शुद्धरक्त से रक्तपित्त की भिन्नता की परीक्षा करने हेतु, रक्तपित मिश्रित अन्न कुत्ते, कौवे को खिलाया जाता है, तो वह यह अन्न ग्रहण नहीं करता है। यदि शुद्ध रक्त मिश्रित अन्न खिलाया जाऐ तो यह अन्न ग्रहण कर लिया जाता है। इस प्रकार रोगी के शरीर में अन्य रसों की परीक्षा अनुमान द्वारा की जानी चाहिए। रसनेन्द्रिय परीक्षा के उदाहरण निम्न हैं।

लक्षण	व्याधि
अरोचक	हलीमक, कामला, ज्वर
आस्यमाधुर्य	कफज छर्दि, कफज ग्रहणी
जिह्वा उपदेह	प्रमेह

(5) घ्राणेन्द्रिय परीक्षा-

घ्राणेन्द्रिय विज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानाञ्च गन्धविशेषाः। (सु. सू. 10/5)

गंधांस्तु खलु सर्वशरीरगतानातुरस्य प्रकृति वैकारिकान् घ्राणेनपरीक्षेत् ।।

रोगी के सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हुए स्वाभाविक या विकृत गन्धों की परीक्षा घ्राण से करनी चाहिए। घ्राणेन्द्रिय से अरिष्ट लिङ्गों से संबंधित गन्धों का ज्ञान किया जाता है।

घ्राण संबंधित विषयक :-

लक्षण	व्याधि
गन्धनाश	दुष्ट प्रतिश्याय, रक्त प्रतिश्याय
गात्र दौर्गन्ध्य	मेदो रोग
लोह मत्स्यामगन्धि	रक्तपित्त रूप

(6) प्रश्न परीक्षा :-

प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं सात्म्यमातङ्क समुत्पत्तिं वेदना समुच्छ्रायं बलमन्तरग्निं वातमूत्र पुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्। आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात्।।

(सु. सू. 10/5)

वैद्य यदि चक्षुरादि किसी इन्द्रिय से रहित हो तो रोगी की जानने योग्य बातों को उसके समीप रहने वालों से जानकर रोग का ज्ञान करना चाहिये।

प्रश्न परीक्षा द्वारा देश, काल, जाति सात्म्य, व्याधि उत्पत्ति, वेदना, बल, अन्तर अग्नि, वातमूत्र पुरीष की प्रवृत्ति अथवा अप्रवृत्ति और कालप्रकर्ष आदि विषयों का ज्ञान किया जाता है।

अष्टस्थान परीक्षा

योगरत्नाकर में अष्टस्थान परीक्षा का वर्णन किया।

रोगाक्रान्त शरीरस्य स्थानान्यष्टौनिरीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्द स्पर्श दृगाकृति। (योगरत्नाकर)

रोगियों के आठ स्थानों का निरीक्षण करने का विधान है।

1. नाडी	2. मूत्र	3. पुरीष	4. जिव्हा
5. शब्द	6. स्पर्श	7. दृक् अर्थात् दृष्टि	8. आकृति

अष्टविध परीक्षा का महत्व-

1. आचार्य योगरत्नाकर ने अष्टविध परीक्षा में भी नाड़ी परीक्षा पर अधिक ध्यान एकाग्र किया।

दोषों के प्रकुपित होने पर नाड़ी की परीक्षा कर रोग के आदि और अन्त में नाड़ी की स्थिति का पूर्ण ज्ञान करना चाहिये।

2. जिस प्रकार वीणा में लगी हुयी तारें सब रागों को कहती है उसी प्रकार हाथ में लगी हुयी नाडिया सब रोगों को प्रकट कर देती है।

3. आदौ सर्वेषु रोगेषु नाडीजिव्हाक्षिमूत्रतः। परीक्षाकारयेद्वैद्यः पश्चाद्रोगं चिकित्सयेत्।।

(यो. र. अथ रोगिणामष्टस्थाननिरीक्षणम्/5)

सर्वप्रथम सब रोगों में वैद्य नाड़ी, जिह्वा, आँख और मूत्रादि की परीक्षा करें, इसके पश्चात् रोग की चिकित्सा करें।

4. जो वैद्य नाड़ी, मूत्र और जिह्वा आदि के लक्षण नहीं जानता है वह रोगी को शीघ्र मार डालता है और वह वैद्य यश को नहीं प्राप्त करता है।

तथा जो वैद्य देश, काल को लक्ष्य रखकर रोग के बलाबल का ज्ञान करके चिकित्सा करना प्रारम्भ करता है वह यश और कीर्ति को प्राप्त करता है।

नाडी परीक्षा

नाडी परीक्षा का विस्तृत वर्णन योगरत्नाकर ग्रन्थ के साथ-साथ शार्ङ्गधर संहिता में भी मिलता है।

शार्ङ्गधर संहिता में नाड़ी को स्पष्ट करते हुये बताया कि हाथ के अंगुष्ठ के मूल में जो धमनी होती है वह जीवसाक्षिणी है तथा इसकी चेष्टा से जीवन में सुख-दु:ख का ज्ञान किया जा सकता है।

करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। तच्चेष्टया सुखं दु:खं ज्ञेयं कायस्य पण्डितै।।

(शा. सं. पू. 3)

नाडी के पर्यायवाची शब्द -स्नायु, नाड़ी, हंसी, धमनी, धरणी, धरा, तन्तु की और जीवनज्ञाना आदि

नाडी परीक्षा से पूर्व आवश्यक सावधानियाँ

1. वैद्य रोगी की नाडी परीक्षा करते समय अपने दाहिने हाथ से रोगी के दाहिने हाथ के अंगुठे के नीचे जड भाग में स्पर्श करे।

2. नाडी परीक्षा का सर्वोत्तम काल प्रात:काल है जब रोगी शौचादि कार्यों से निवृत्त हो चुका हो तथा उसने भोजन ग्रहण नहीं किया हो।

3. वैद्य रोगी के दाहिने हाथ की नाड़ी को स्थित-चित, शान्त-आत्मा और मन से अंगुलियों द्वारा स्पर्श करें।

4. स्त्रियों के बायें हाथ की नाड़ी तथा पुरुषों के दायें हाथ की नाड़ी की परीक्षा करनी चाहिये।

5. वैद्य नाड़ी की परीक्षा तीन बार करे, नाड़ी पकड़कर छोड़ता जावे तथा मन व बुद्धि से पूर्ण विचार करें।

6. वैद्य अपनी तीनों अंगुलियों से नाड़ी पकड़कर क्रम से वात-पित्तादि तीनों दोषों से होने वाले दोष तथा नाड़ी की मन्द, मध्य व तीक्ष्ण गति तथा तीनों दोषों वाली गति का लक्ष्य करें।

नाड़ी परीक्षा वर्जित

सद्य: स्नातस्य भुक्तस्य तथा स्नेहावगाहिन:। क्षुत्तृषार्तस्य सुप्तस्थ नाड़ी सम्यङ् न बुध्यते।।

(यो.र नाडी परीक्षा/9)

1. तुरन्त स्नान किये हुये
2. भोजन किये हुये
3. तैल मर्दन किये हुये हो
4. भूखा हो
5. तृष्णा से पीड़ित
6. सोये हुये
7. सोकर उठे हुए आदि की नाड़ी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

दोषानुसार नाड़ी गति

नाडी धत्ते मरूकोपे जलौकासर्पयोर्गतिम्। कुलिङ्गकाकमण्डूकगति पित्तस्य कोपत:।।

हंसपारावतगति धत्ते श्लेष्मप्रकोपत:। (शा. पू. 3/213)

सर्पजलौकादिगतिं वदन्ति विबुध: प्रभञ्जने नाडीम्। पित्ते काकलावकमण्डूकादेस्तथा चपलाम्।।

राजहंसमयूराणां पारावतकपोतयो:। कुक्कुटस्थ गतिं धत्ते धमनी कफसङ्गिनी।।

(यो. र. नाडीपरीक्षा /14)

1. वात की नाड़ी की गति= सर्प जलौका वत् टेढ़ी मेढ़ी गति होती है।

2. पित्त की नाड़ी की गति= कुलिंग, काक, लावक और मण्डूकवत् चंचल गति होती है।

3. कफ की नाड़ी की गति = हंस, पारावत, कपोत व कुक्कुट की तरह मन्द गति

4. सन्निपात की नाड़ी की गति= लावतित्तिर के समान (शार्ङ्गधर के मतानुसार) काष्ठकुट् (कठफोडवे) के समान अत्यन्त वेगवान व बीच बीच में रुक जाती है।

विभिन्न रोगावस्था में नाडी गति

ज्वर – उष्ण व वेगवाली	कामक्रोध – वेगवती
चिन्ता भय – क्षीण	मन्दाग्नि व धातुक्षीण – मन्दगामिनी
भूखे मनुष्य – चंचल	भोजन से तृप्त – स्थिर

मूत्र परीक्षा-

मूत्र परीक्षा के द्वारा अनेक रोगों का निदान किया जाता हैं जैसे- मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, प्रमेह के बीसों भेदों का ज्ञान होता है।

मूत्र परीक्षा विधि

निशान्त्ययामे घटिकाचतुष्टये उत्थाप्य वैद्यः किल रोगिणं च।

मूत्रं घृतं काचमये च पात्रे सूर्योदये तत्सततं परीक्षेत्।। (यो. र. मूत्रपरीक्षा /2)

1. वैद्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में चार घड़ी रात्रि शेष रहते रोगी को उठाकर मूत्र करावे और उसी मूत्र की परीक्षा करे।

2. मूत्र को कांच के पात्र में रखें तथा सदैव सूर्योदय होने पर परीक्षा करें।

3. मूत्र की पहली धार को न रखे जबकि मध्य धार (Mid stream) मूत्र का संग्रहण कर उसी मूत्र की सम्यक् परीक्षा करें।

4. वातादि भेद स मूत्र के लक्षण- वात के प्रकोप से रोगी का मूत्र पाण्डु वर्ण का होता है। कफ के प्रकोप से फेनयुक्त, पित्त के प्रकोप से रक्तवर्ण का होता है।

तैलबिन्दु परीक्षा विधि

परीक्षा विधिवत्कार्या रोगिणोमूत्रस्य तत्त्वतः। तृणेन दापयेत्तैलबिन्दुं तत्रातिलाघवात्। विकासितं तैलमथाऽशु मूत्रे साध्यः स रोगी न विकासितं चेत्। स्यात्कष्टसाध्यस्तलगे त्वसाध्यो नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा।

(यो. र. मूत्रपरीक्षा /5-6)

वैद्य रोगी के मूत्र की विधिपूर्वक परीक्षा करें। मूत्र पर तेल तृण से उठाकर बिन्दु करके अर्थात् तेल की बूंद डाले। वह अत्यन्त लांघव होने से यदि मूत्र पर शीघ्र फैल जाये तो रोगी साध्य और यदि नहीं फैले तो कष्टसाध्य रोग और यदि मूत्रतल में बैठ जाय तो असाध्य जानना चाहिये।

1. रोगी को परिक्षार्थ रखे हुये मूत्र में दिया हुआ तैल बिन्दु पूर्व की ओर बढ़े तो समझना चाहिये की रोग शीघ्र नष्ट होगा और रोगी शीघ्र आरोग्य होगा।

2. यदि तैल बिन्दु दक्षिण की ओर बढ़े तो ज्वर का रोग होना ज्ञात होता है और रोग क्रमशः नष्ट होकर आरोग्य होगा।

3. उत्तर की ओर यदि तैल बिन्दु जावे तो निश्चय रोगी आरोग्यता को प्राप्त होता है।

4. पश्चिम दिशा में यदि तैलबिन्दु जाये तो रोगी सुख व आरोग्यता को प्राप्त होता है।

5. यदि तैल बिन्दू ईशान कोण की ओर जाये तो एक मास के अन्दर रोगी की मृत्यु होगी।

6. तैलबिन्दु यदि आग्नेय कोण में जावे तथा यदि नैऋत्य कोण में जावे और फैलने पर उस तैल बिन्दु में छिद्र दिखाई पड़े तो मनुष्य की मृत्यु निश्चित होती है।

7. वायव्य कोण की ओर यदि तैल बिन्दु फैले तो उस पुरुष को यदि अमृत भी पिलाया जाये तो भी वह जिन्दा नहीं रह सकता है।

तैलबिन्दु की आकृति के अनुसार साध्य व असाध्य परीक्षा-

साध्यरोगों में तैल बिन्दु की आकृति-हंस, कारण्ड, तालाब, कमल, छाता आदि तैल बिन्दु की आकृति दिखने पर रोगी आरोग्य को प्राप्त करता है।

असाध्यरोगों में तैलबिन्दु की आकृति- हल, कूर्म, मधुमक्खी के छत्ते के समान शिरोहीन मनुष्य की आकृति दिखा देने पर रोगी की चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

मूत्र पर तैल बिन्दु का आकार सर्वाकार - वातदोष ग्रसित

मूत्र पर तैल बिन्दु का आकार छत्राकार - पित्तदोष ग्रसित

मूत्र पर तैल बिन्दु का आकार मुक्ता - कफदोष समझना चाहिये।

मल परीक्षा

वातान्मले तु दृढ़ता शुष्कता चापि जायते। पीतता जायते पित्ताच्छुक्लता श्लेष्मतो भवेत्।।

श्यामं त्रुटित पीताभं बद्धश्वेतं त्रिदोषतः। (यो. र. मलपरीक्षा /1)

आचार्य योगरत्नाकर के अनुसार मल परीक्षा

वात के कोप से	=	गाढ़ा व सूखा मल प्राप्त
पित्त के कोप से	=	पीलापन युक्त मल
कफ के कोप से	=	श्वेतवर्ण मल
त्रिदोष कोप से	=	काला, टूटा हुआ, पीला, बंधा हुआ, श्वेत वर्ण युक्त मल
आमदोष में	=	कफ जैसा मल

मल की जल निमज्जन परीक्षा-

मज्जत्यामा गुरुत्वद्विट पक्वा तृप्लवते जले। विनाऽतिद्रव संघात शैत्यश्लेष्म प्रदूषणात्।।

(च. चि. 15/94)

आचार्य चरक के अनुसार आम मल के लक्षण-

(1) अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, चिकना मल, जो जल में डालने से डूब जाए, वह आम युक्त होता है।

(2) निराममल - अत्यधिक दुर्गन्धित न हो, स्वभाविक गंध युक्त हो, जल में डालने से तैरता है।

अपवाद स्वरूप-आममल अत्यन्त पतला होने पर जल पर तैरता है, निराम मल गुरु हो तो जल में डूबता है।

जिह्वा परीक्षा

जिह्वा शीता खरस्पर्शा स्फुटिता मारूतेऽधिके। रक्ता श्यामा भवेत्पित्ते कफे शुभ्राऽतिपिच्छिला।।

(यो. र. जिह्वापरीक्षा /1)

वात के कोप से - शीत, स्पर्श, रुक्ष, फटी हुई जिह्वा

पित्त के कोप से - लाल, काली जिह्वा

कफ के कोप से - श्वेत, अत्यन्त पिच्छिल जिह्वा

त्रिदोष के कोप से -- कृष्ण, कण्टक युक्त, शुष्क जिह्वा

शब्द परीक्षा

गुरूस्वरो भवेक्ष्छ्लेष्मा स्फुटवक्ता च पित्तल:। उभाभ्यां रहितो वात: स्वरतश्चैव लक्षयेत्।।

(यो. र. शब्दपरीक्षा /1)

कफ के कोप से - स्वरगुरु

पित्त के कोप से - स्वर स्फुट

वात के कोप से - दोनों लक्षणों से रहित

स्पर्श परीक्षा-

पित्तरोगीभवेदुष्णो वातरोगी च शीतल:। श्लेष्मल: स भवेदार्द्र: स्पर्शतश्चैव लक्ष्येत्।।

(यो. र. स्पर्शपरीक्षा /1)

(1) वात रोग में स्पर्श शीत

(2) पित्त रोग में उष्ण स्पर्श

(3) कफ रोग में आर्द्र स्पर्श

दृक् परीक्षा-

रूक्षा धूम्रा तथा रौद्रा चला चान्तर्ज्वलत्यपि। दृष्टिर्यदा तदा वातरोगं रोगविदो जगु:।।

(यो. र. दृक्परीक्षा /1)

(1) वात रोग से कुपित - रुक्ष, धूमवर्ण, विकराल, चञ्चल, जलते हुए नेत्र

(2) पित्त रोग से कुपित - दीप की ज्योति देखने में असमर्थ, जलते हुए पीले नेत्र

(3) कफ रोग से कुपित - जल पूर्ण, ज्योतिहीन, स्निग्धता युक्त नेत्र

(4) त्रिदोषज रोग से कुपित - श्याम वर्ण युक्त, फटे हुए, तन्द्रा व मोह युक्त विकराल, लाल वर्ण के नेत्र

आकृति परीक्षा

इस परीक्षा के अन्तर्गत रोगी के स्थूल भावों की परीक्षा की जाती है रोगी का वर्ण, छाया, सार, संहनन, प्रमाण आदि की परीक्षा आकृति परीक्षा दर्शन के द्वारा की जाती है।

दशविध परीक्ष्य भाव

ज्ञान पूर्वकं हि कर्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः। (च. वि. 4/68)

कुशलव्यक्ति ज्ञानपूर्वक कार्य करने को प्रशंसित मानते हैं।

करणादि दशविध परीक्ष्य भाव का वर्णन चरक विमानस्थान के अष्टम अध्याय "रोगभिषग्जितीयं" में आया है। कार्य करने से पहले परीक्षा कर लेनी चाहिये। इसके बाद कार्य में प्रवृत्त होना श्रेष्ठ माना जाता है। अतः चिकित्सा के इच्छुक वैद्य, चिकित्सा कार्यारंभ के पहले प्रत्यक्ष, अनुमान व आप्तोपदेश परीक्षा के द्वारा परीक्षा करने वाले विषयों की परीक्षा कर कर्म करना प्रारम्भ करें।

ज्ञात्वा हि कारण-करण-कार्य-कार्ययोनि-कार्य-कार्यफला-नुबन्ध-देश-काल प्रवृत्त्युपायान् सम्यगभिनिर्वर्त्तमानः कार्याभिनिर्वृत्ताविष्ट फलानुबन्धं कार्यमभिनिर्वर्तयत्यनतिमहता यत्नेन कर्ता।।

(च. वि. 8/68)

1. कारण	2. करण	3. कार्ययोनि	4. कार्य
5. कार्यफल	6. अनुबन्ध	7. देश	8. काल
9. प्रवृत्ति	10. उपाय		

दशविध परीक्ष्य भाव के ज्ञान का महत्त्वः- इन्हें ठीक-ठीक रूप में जानकर कार्य की उत्पत्ति में प्रवृत्त कर्त्ता अधिक प्रयास के बिना (अल्पप्रयत्न से ही) कार्य की सिद्धि में मन के अनुकूल इष्ट फल की प्राप्ति कर लेता है।

1. कारण

तत्र कारणं नाम तद् यत् करोति, स एव हेतुः, स कर्ता।। (च. वि. 8/69)

कारण - जो वैद्य चिकित्सा करता है, वह कारण होता है। उसी को हेतु भी कहते हैं। और वही कर्त्ता भी है।

कार्य प्राप्तौ कारणं भिषक्। (च. वि. 8/84)

कार्यप्राप्ति अर्थात् चिकित्सा द्वारा धातुओं को सम करने में कारण वैद्य होता है।

कारणं भिषगित्युक्तमग्रे, तस्य परीक्षा- भिषङ्नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थ प्रयोगकुशलः यस्य चायुः सर्वथा विदितं यथावत्। स च सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादितः परीक्षेत गुणिषु गुणतः कार्याभिनिर्वृत्तिं पश्यन्, कश्चिदहमस्म कार्यस्याभिनिर्वर्तने समर्थो न वेतिः तत्रेमे भिषग्गुणा यैरुपपन्नो भिषग्धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थो भवति। तद्यथा पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्टकर्मता, दाक्ष्यं, शौचं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता, चेति।। (च. वि. 8/86)

चिकित्सा कर्म का कारण चिकित्सक होता है जो निम्न गुण सम्पन्न होना चाहिये।

1. **योभिषजयति**- चिकित्सा द्वारा रोग को दूर करता है।

2. **सूत्रार्थप्रयोगकुशलः**- जो आयुर्वेद के सूत्रों का अर्थ जानने और प्रयोग करने में कुशल है।

3. **सर्वथा विदित** - ठीक-ठीक प्रकार से आयु का ज्ञान हो।

4. **सर्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्नात्मानमेवादिपरीक्षेत**- वह सभी धातुओं की समता रखने की इच्छा से अपनी आत्मा की ही पहले परीक्षा करे।

5. गुणिषुगुणतः कार्याभिनिर्वृति यश्यन्- गुणवान् वस्तु में गुण का निर्धारण करने के पश्चात् ही उसे उपयोग में लाना।

6. पर्यवदातश्रुतता- जो शास्त्रों के ज्ञान से परिष्कृत हो।

7. परिदृष्टकर्मता - प्रत्येक कार्य को देखकर करने वाला हो।

8. दाक्ष्य - कुशल हो।

9. शुचि - पवित्र हो।

10. जितहस्त - हाथों का यशस्वी होना।

11. उपकरणवान - सभी उपकरणों (सामग्रियों) से युक्त हो।

12. सर्वेन्द्रियोपपन्न- सभी इंद्रियों से युक्त हो।

13. प्रकृतिज्ञा- प्रकृति को समझने वाला।

14. प्रतिपत्तिज्ञा - युक्ति को समझना या जिस रोग को जैसे समझना चाहिए उसे हेतु आदि के द्वारा उसी प्रकार से समझने की शक्ति रखना या तत्काल शुद्धि का उदय होना।

2. करण :-

(1) करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्त्तुः कार्याभिनिर्वृत्तौ प्रयतमानस्य।। (च. वि. 8/70)

करण - कार्य को सम्पादन करने के लिए कार्य में प्रवृत्त होने वाले कर्त्ता के साधन स्वरूप में जो होता है, उसे कारण कहते हैं।

(2) करणं पुनर्भेषजं (च. वि. 8/84)

करण - औषध को कहा जाता है। क्योंकि स्वधातुसाम्यरूपी चिकित्सा में कारण वैद्य के सहायक भूत औषध होता है।

(3) करणं पुनर्भेषजम्। भेषजं नाम तद्यदुपकरणायोपकल्पते भिषजो धातुसाम्याभिनिर्वृतौ प्रयतमानस्य विशेषतश्चोपायान्तेभ्यः। तद् द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्- दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपाश्रयं चेति। तत्र दैवव्यपाश्रयं- मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चितोपवास स्वस्त्ययनप्राणिपातगमनादि, युक्तिव्यपाश्रयं- संशोधनोपशमने चेष्टाश्च दृष्टफलाः। एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधं-द्रव्यभूतम्, अद्रव्यभूतं च। तत्र यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनविस्मारण क्षोभणहर्षणभर्त्सनवधबन्धस्वप्नसंवाह- नादिरमूर्तो भावविशेषो यथोक्ताः सिद्धयुपायाश्चोपायाभिप्लुता इति। यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति। तस्यापीये परीक्षा-इदमेव प्रकृत्येवं गुणमेवं प्रभावमस्मिन् देशे जातमस्मिन्नृतावेवंगृहीतमेवंनिहितमेवमुपस्कृतमनया च मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवंविधस्य पुरुषस्यैव तावन्तं दोषमपकर्षत्युपशमयति वा, यदन्यपि चैवंविधं भेषजं भवेत्तच्चानेन विशेषेण युक्तमिति।। (च. वि. 8/87)

चिकित्सा करने में तत्पर वैद्य को धातुसाम्यता उत्पन्न करने के लिये जो भी सामग्री की आवश्यकता होती है उसे भैषज कहा जाता है।

आश्रय भेद से भेषज के दो प्रकार है।

(1) दैवव्यपाश्रय- इनमें मन्त्र, औषध, मणिधारण, मङ्गलपाठ, बलि, उपहार, होम, नियम, प्रायश्चित, उपवास, स्वस्त्ययनपाठ, प्रणिपात, गमन आदि क्रिया द्वारा जो चिकित्सा होती है उसे दैवव्यपाश्रय औषध कहते हैं।

(2) युक्तिव्यपाश्रय- संशोधन, उपशमन, और प्रत्यक्ष फल देने वाली सभी क्रियाओं को युक्तिव्यपाश्रय भेषज कहते हैं।

अङ्गभेद से भेषज दो अन्य भेद है :-

(1) अद्रव्यभूत - भय दिखाना, विस्मापन, विस्मारण, क्षोभण, हर्षण, भर्त्सन, वध, बाँधना, शयन कराना, संवाहन आदि अमूर्त क्रियाओं को और भी जो ठीक ठीक सिद्धि के उपायों के साधन है, उन सभी को उपाय कहा जाता है।

(2) द्रव्यभूत भेषज:- इसका उपयोग वमन-विरेचन आदि क्रियाओं में होता है। द्रव्य की परीक्षा निम्न आधार पर की जाती है:-

(1) द्रव्य की प्रकृति (2) द्रव्य का गुण

(3) प्रभाव (4) द्रव्य की उत्पत्ति जिस देश में हुई हो

(5) जिस ऋतु में द्रव्य की उत्पत्ति हुई हो (6) ऋतु अनुसार ग्रहण किया गया

(7) विधि से निहित (द्रव्य संग्रहण) (8) संस्कार

आदि द्वारा परीक्षा कर ही औषध का प्रयोग द्रव्यभूत चिकित्सा के लिए किया जाता है।

3. कार्य योनि:-

कार्ययोनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्यत्वमापद्यते।। (च. वि. 8/71)

कार्ययोनि उसे कहते हैं जो भिन्न-भिन्न परिवर्तनों को प्राप्त होते हुए कार्य रूप में परिणत होता है।

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं (च. वि. 8/84)

रोग की योनि धातु है तथा धातु का विषम होना कार्ययोनि है।

कार्ययोनिर्धातुवैषम्यं, तस्य लक्षणं विकारागमः। परीक्षा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चैवोनातिरिक्तङ्गविशेषावेक्षणं विकारस्य च साध्यासाध्य मृदुदारूणलिङ्ग विशेषावेक्षणमिति।। (च. वि. 8/88)

कार्ययोनि की परीक्षा :- धातुओं का विषम होना, कार्ययोनि है उसका लक्षण रोगों का उत्पन्न होना है। इसकी परीक्षा हेतु :-

(1) रोग की परीक्षा अर्थात् रोग अधिक लक्षणों से युक्त है अथवा कम लक्षणों से।

(2) रोग के साध्य-असाध्य, मृदु, दारुण लक्षणों की परीक्षा की जाती है।

4. कार्य :-

कार्यं तु तद्यस्याभिनिर्वृत्तिमभिसन्धाय कर्त्ता प्रवर्तते।। (च. वि. 8/72)

कार्य - अपने ईतिकर्तव्य को निश्चित करने के बाद, जिस प्रयोजन से कर्त्ता क्रिया में लगता है, उसे कार्य कहा जाता है।

कार्यं धातुसाम्यं (च. वि. 8/84)

धातुओं के विषम होने पर उत्पन्न रोगों में धातुओं को सम कर रोग नाश करना ही कार्य है।

कार्यं धातुसाम्यं, तस्य लक्षणं विकारोपशमः। परीक्षा त्वस्य-रुगुपशमनं स्वरवर्णप्रसादः, शरीरोपचयः, बलवृद्धिः, अभ्यवहार्याभिलाषः, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरणं, निद्रालाभो यथाकालं, वैकारिकाणां च स्वप्नानामदर्शनं, सुखेन च प्रतिबोधनं, वातमूत्रपुरीषरेतसां मुक्तिः, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणां चाव्यापत्तिरिति।। (च. वि. 8/89)

कार्य की परीक्षा :-

धातुओं को सम करना वैद्यो का कार्य होता है, रोगों का शान्त हो जाना उसका लक्षण है। इसकी परीक्षा निम्न प्रकार से की जाती है :-

(1) वेदना का शांत होना (2) स्वर्ण और वर्ण का ठीक होना

(3) शरीर एवं बल की वृद्धि (4) भोजन करने की इच्छा

(5) आहार में रुचि का होना (6) समय पर खाये हुये आहार का उचित समय से ठीक पच जाना।

(7) समय से निद्रा का आना (8) बुरे स्वप्नों को ना देखना

(9) सुख पूर्वक समय से सोकर उठ जाना

(10) वात, मूत्र, पुरीष, शुक्र का अच्छी प्रकार से बिना किसी कष्ट के निकल जाना।

(11) मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों का सभी तरह से कष्टरहित होना अर्थात् शारीरिक या मानसिक रोगों से पीडित न होना।

उपरोक्त सभी धातुसाम्य (स्वस्थ मनुष्यों के) कार्य की परीक्षा है।

5. कार्यफल

कार्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजना कार्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते।। (च. वि. 8/73)

जिस प्रयोजन के लिए कार्य प्रारंभ किया जाता है वह कार्यफल है।

कार्यफलं सुखवाप्तिः (च. वि. 8/84)

सुखप्राप्ति है और इसी के द्वारा वैद्यों को अर्थ प्राप्ति और यशोलाभ भी होता है। अतः अर्थप्राप्ति, यशप्राप्ति के साथ-साथ सुखप्राप्ति कार्यफल है।

कार्यफल सुखवाप्तिः, तस्य लक्षणं मनोबुद्धीन्द्रियशरीरतुष्टि।। (च. वि. 8/90)

चिकित्सा रूपी कार्य का फल सुख की प्राप्ति है।

मन-बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर में संतोष रहना उसका लक्षण है।

6. अनुबन्ध

अनुबन्ध- खलु स यः कर्तारमवश्यमनुबध्नाति। कार्यादुत्तरकालं कार्यनिमित्तः शुभो वाऽप्यशुभो भावः।। (च. वि. 8/74)

अनुबन्ध :- जो कार्य करने के बाद, कार्य के ही द्वारा अच्छा या बुरा फल कर्ता को अवश्य भोगना पड़ता है, उसे अनुबन्ध कहते हैं।

अनुबन्धः खल्वायुः (च. वि. 8/74)

कार्यफल के बाद आयु का ठीक रहना ही अनुबन्ध है।

अनुबन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लक्षणं - प्राणैः सह संयोगः।। (च. वि. 8/91)

आयु को अनुबन्ध कहते हैं। प्राणों के साथ मन, बुद्धि, शरीर का संयोग होना ही उसका लक्षण है।

7. देश

देशस्त्वधिष्ठानम् (च. वि. 8/75)

देश- रोग या औषध द्रव्यमात्र का जो अधिकरण होता है उसे देश कहते है।

देशोभूमिरातुरश्च। (च. वि. 8/84)

देश दो प्रकार के होते हैं :-

(1) भूमि देश (2) देह-देश

देह देश से संबंधित दशविध परीक्षा का वर्णन आगे किया जायेगा।

8. कालः-

काल पुनः परिणामः।। (च. वि. 8/76)

काल- जो ऋतु, मास, अयन एवं वर्ष आदि में स्वयं परिणाम (परिवर्तन) शील है, उसे काल कहते हैं।

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। (च. वि. 8/84)

काल पुनः दो प्रकार का होता है:-

(1) संवत्सर (2) आतुर अवस्था

कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। तत्र संवत्सरो द्विधा त्रिधा षोढ़ा द्वादशधा भूयश्चाप्यतः प्रविभज्यते तत्तत्कार्यमभिसमीक्ष्य। अत्र खलु तावत् षोढ़ा प्रविभज्य कार्यमुपदेक्ष्यते-हेमन्तो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्णवर्षलक्षणास्त्रय ऋतवो भवन्ति, तेषामन्तरेष्वितरे साधारण लक्षणास्त्रय ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः, तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः।। (च. वि. 8/125)

काल को दो भागों में विभक्त किया गया है:-

(1) संवत्सर (2) आतुर अवस्था

(1) संवत्सर :- एक संवत्सर छः ऋतुओं में विभक्त रहता है।

हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा यह तीन ऋतुएं क्रम से शीत, उष्ण, वर्षा लक्षण वाली होती है। इन ऋतुओं में अधिक सर्दी, गर्मी व वर्षा होने के कारण दुःखकर होती है और शरीर और औषधियों के लिए उपद्रव करने वाली होती हैं।

हेमन्त ऋतु में अतिमात्र शीत से पीड़ित होने के कारण शरीर सुखी नहीं होता और अत्यन्त शीतल वायु से परिपूर्ण होता है। ऐसे शरीर में जब उष्ण स्वभाव वाली औषध को संशोधन के लिए प्रयोग किया जाता है, तो उसका भी प्रभाव अधिक शीत से पीड़ित होने के कारण मन्दवीर्य हो जाता हैं यदि उससे उत्तम रीति से संशोधन नहीं होता और शरीर भी वात के उपद्रवों से युक्त हो जाता है क्योंकि जब औषध अपना सम्यक् योग नहीं कर पाती तो वह वायु को कुपित कर देती है जिससे शरीर में अनेक प्रकार के वायु जन्य रोग हो जाते हैं।

ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त गर्मी से पीडित होने के कारण शरीर असुखी हो जाता है। उष्ण वायु और धूप से पूर्ण हो जाने से शरीर अधिक शिथिल हो जाता है, और दोष शरीर में अत्यन्त लीन हो जाते हैं, उष्ण स्वभाव वाले संशोधन के लिए प्रयोग की गयी औषध उष्ण शरीर और उष्ण संशोधन के संयोग से अतियोग कारक हो जाती जिससे शरीर उपद्रव से युक्त हो जाता है।

वर्षाकाल में आकाश बादलों से धिरा होता है अत: सूर्य, चन्द्रमा और तारे छिपे रहते हैं और आकाश मंडल धाराओं से व्याप्त होता है। पृथ्वी कीचड़ और जल के समूह से व्याप्त रहती है, इसीलिए मनुष्य का शरीर भी अत्यन्त गीला होता है और सम्पूर्ण औषधियों का स्वभाव भी पृथ्वी आदि के गीले होने से तथा जल और मेघ से दूषित वायु के लगने से नष्ट हो जाता है, इसीलिए वमनकारक औषधियाँ भारी स्वभाव वाली हो जाती हैं। उनका प्रयोग इस ऋतु में किया जाये तो न वे स्वयं अच्छी प्रकार निकलती है, और न दोषों को उचित रूप से निकालती है और शरीर भी रोगों के लिए गुरु समुत्थ हो जाता है। अत: इन ऋतुओं में संशोधन विधियों का प्रयोग नहीं किया जाता है, जब तक कि कोई हानिकारक ऐसा रोग न हो जिसमें वमन इत्यादि कराना अनिवार्य हो।

2. आतुर अवस्था

आतुर अवस्था के आधार पर काल के दो विभाग किए गए हैं।

(1) काल (2) अकाल

भैषज्य अवस्था काल में औषध का ग्रहण करने पर उचित लाभ की प्राप्ति होती है।

किन्तु अकाल में ली गयी औषध से लाभ की प्राप्ति नहीं होती।

9. प्रवृत्ति:-

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था; सैव क्रिया, कर्म, यत्न:, कार्यसमारम्भश्च।। (च. वि. 8/77)

कार्य के लिए जो चेष्टा होती है उसे प्रवृत्ति कहते हैं, इसे क्रिया, कर्म, यत्न, एवं कार्य-समारम्भ भी कहा जाता है।

प्रवृत्ति: प्रतिकर्मसमारम्भ: (च. वि. 8/84)

प्रति रोगियों की चिकित्सा के लिए जो कार्य का आरंभ किया जाता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं।

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्मसमारम्भ:। तस्य लक्षणं भिषगौषधातुरपरिचारकाणां क्रिया समयोग:।।

(च. वि. 8/129)

प्रत्येक के प्रति चिकित्सा का आरम्भ करना ही प्रवृत्ति कहा जाता है। उसका लक्षण है- वैद्य, औषध, रोगी, सेवक, इनकी उचित क्रियाओं का उचित रूप में संयोग होना अर्थात् इन चारों का अपनी क्रियाओं में लग जाना ही प्रवृत्ति है।

10. उपाय :-

उपाय: पुनस्त्रयाणां कारणादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक् कार्यकार्यफलानुबन्धवर्ज्यानां, कार्याणामभिनिर्वर्तक इत्यतस्तूपाय: कृते नोपायार्थोऽस्ति, न च विद्यते तदात्वे, कृताच्चोत्तरकालं फलं, फलाच्चानुबन्ध इति।। (च. वि. 8/78)

उपाय - कारण, करण व कार्ययोनि का सौष्ठव (अर्थात् कार्य के अनुरूप या अनुगुण होना) और अभिविधान (कार्योत्पादक अवस्थिति) का सम्यक् रूप से होना उपाय कहा जाता है, कार्य, कार्यफल और अनुबन्ध को छोड़कर करण, कारण और कार्ययोनि का कार्योत्पादक होना उपाय कहा जाता है, क्योंकि कारण आदि तीनों का सौष्ठव और अभिविधान कार्य का उत्पादक होता है, इसीलिए वह उपाय है। कार्य की उत्पत्ति के बाद उपाय का कोई प्रयोजन नहीं होता। जिस समय कार्य की उत्पत्ति होती है, उस समय भी उपाय की कोई आवश्यकता नहीं होती हैं। कार्य के उत्पन्न हो जाने पर उसका फल होता है, फल के बाद अनुबन्ध होता है। इसीलिए कारण, करण, कार्ययोनि इन तीनों को सुन्दर रूप से सम्पादन करने को ही उपाय माना जाता है।

उपायः पुनर्भिषगादीनां सौष्ठवमभिविधानं च सम्यक्। तस्य लक्षणं-भिषगादीनां यथोक्तगुणसंपद् देशकालप्रमाणसात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धकारणैः सम्यगुपपादितस्यौषधस्यावचारणमिति।। (च. वि. 8/130)

वैद्य आदि चारों पादों की उत्तमता को उपाय कहते हैं।

वैद्य आदि चारों का अपने-अपने गुणों से युक्त होना, तथा देश, काल, प्रमाण, सात्म्य और क्रिया आदि सिद्धि कारणों से युक्त हो और औषधि उचित रूप से तैयार की गयी हो।

दश विध आतुर परीक्षा

आचार्य चरक द्वारा दशविध परीक्ष्य भावों में देश को दो भागों में विभक्त करते हुए देह देश में दशविध परीक्षा का वर्णन किया है।

दश विध आतुर परीक्षाः-

तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायाम शक्तितश्च, वयतश्चेति, बल प्रमाणविशेष ग्रहणहेतोः।। (च. वि. 8/94)

रोगी के विशेष रूप से बल के प्रमाण को जानने के लिए दश विध आतुर परीक्षा का वर्णन किया जाता है जिसके अंतर्गत निम्न बिंदु हैं :-

(1) प्रकृति	(2) विकृति	(3) सार	(4) संहनन
(5) प्रमाण	(6) सात्म्य	(7) सत्व	(8) आहारशक्ति
(9) व्यायामशक्ति	(10) वय शक्ति		

प्रकृति :-

तत्र प्रकृत्यादीन् भाविननुव्याख्यास्यामः। तद्यथा- शुक्रशोणितप्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिमातुराहारविहार प्रकृतिं महाभूतविकारप्रकृतिं च गर्भ शरीरमपक्षते। एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनै केनानेकेन वा समनुबद्धयन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबद्धयते, ततः सा या दोष प्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृता।

(च. वि. 8/95)

प्रकृति परीक्षा :- गर्भ-शरीर शुक्र और आर्त्तव-प्रकृति की, काल और गर्भाशय-प्रकृति की, माता के आहार विहार प्रकृति की, महाभूत विकार प्रकृति की अपेक्षा रखता है। एक दोष के या दो दोष के या अनेक दोष के आधिक्य से होने पर उन्हीं दोषों से गर्भ भी संबंधित हो जाता है इसके बाद गर्भकाल से ही लेकर मनुष्यों की जो प्रकृति बनती है उसे दोष प्रकृति कहते हैं। अतः कुछ मनुष्य प्रकृति से निम्न प्रकृति वाले होते हैं।

(1) वातल	(2) पित्तल	(3) श्लेष्मल
(4) द्वन्द्वज	(5) समदोषज	

श्लेष्म प्रकृति के लक्षण :-

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीत विज्जलाच्छः। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः, स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्र व्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचित परिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहार व्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भ क्षोभविकाराः, गुरुत्वात् सारार्धिष्ठितावस्थितगतयः, शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णा संतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विधावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति।

(च. वि. 8/96)

श्लेष्म प्रकृति के लक्षण -

कफ स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार, सान्द्र, मंद, स्तिमित, गुरु, शीत, पिच्छिल और स्वच्छ होता है। कफ के इन्हीं लक्षणों के अनुरुप कफ प्रकृति के मनुष्य के लक्षण होते हैं :-

कफ के लक्षण		**श्लेष्म प्रकृति के लक्षण**
1. स्निग्ध	-	मनुष्य स्निग्ध अंगवाला
2. श्लक्ष्ण	-	मनुष्य श्लक्ष्ण अंग युक्त होता है।
3. मृदु	-	मनुष्य, सुन्दर, सुकुमार, गौर वर्ण वाला
4. मधुर	-	मनुष्य अधिक शुक्र वाले, अधिक मैथुन करने में समर्थ और अधिक सन्तान वाले
5. सार	-	संगठित और स्थिर शरीर वाला मनुष्य
6. सान्द्र	-	मनुष्य के सभी अंग पुष्ट और परिपूर्ण
7. मन्द	-	मनुष्य मन्द चेष्टा, अल्प आहार विहार करने वाला
8. स्तिमित	-	किसी भी कार्य को शीघ्र नहीं करते
9. गुरु	-	मनुष्य की गति दृढ़ और निश्चित होती है।
10. शीत	-	मनुष्य को भूख, प्यास, ताप, पसीना, और दोष कम कष्ट देते हैं।
11. पिच्छिल	-	मनुष्य सुश्लिष्ट सार संधि बंधन वाला और बलवान होता है।
12. अच्छ	-	मनुष्य के वर्ण दृष्टि, मुख स्वर प्रसन्न एवं स्निग्ध

उपरोक्त गुणों से युक्त होने कारण श्लेष्म प्रकृति वाले मनुष्य-बलवान्, धनी, ओजस्वी, शांत और दीर्घायु होते हैं।

पित्त प्रकृति के लक्षण -

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहा, उष्णमुखाः, सुकुमारावदातगात्राः प्रभूतविप्लु व्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः। प्रायोमृदुल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाश्चः तैक्ष्ण्यान्तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः, द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसन्धिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेद मूत्रपुरीषाश्च; विस्रत्वात् प्रभूतपूतिर्कक्षास्य शिरः

शरीरगन्धाः, कटवम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः, त एवं गुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति।। (च. वि. 8/97)

पित्त प्रकृति के लक्षण :- पित्त उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र, अम्ल, कटु, गुणयुक्त होता है। इन गुणों के अनुरुप पित प्रकृति के लक्षण होते हैं।

	पित्त के लक्षण		पित्त प्रकृति के लक्षण
(1)	ऊष्ण	-	मनुष्य का उष्ण वातावरण में रहना असह्य होता है।
			मनुष्य सुकुमार ओर गौर वर्ण युक्त होते हैं।
			मनुष्य का शरीर तिल, पिडिका, व्यङ्ग एवं पिप्लु युक्त होता हैं।
			मनुष्य वलि, पलित, खलित युक्त होता है।
			केश, लोम, श्मश्रु मृदु, अल्प और कपिल वर्ण के होते हैं।
(2)	तीक्ष्ण	-	मनुष्य पराक्रमी, तीक्ष्ण जठराग्नि वाले, कष्ट असह्य, तीव्र क्षुत्पिपासा वाले, होते हैं।
(3)	द्रव	-	मनुष्य की संधियाँ व मांसपेशियाँ शिथिल और कोमल होती है।
			मनुष्य अतिस्वेदी, व अत्यधिक मल मूत्र का त्याग करने वाले होते हैं।
(4)	विस्र	-	मनुष्य की कक्ष, मुख, शिर, और शरीर अत्यधिक दुर्गन्धित होती है।
(5)	कटु और अम्ल रस युक्त	-	मनुष्य अल्प शुक्र, अल्प मैथुन शक्ति और अल्प पुत्र वाले होते हैं।

उपरोक्त गुणों से युक्त होने से मनुष्य मध्य बल, मध्य आयु, मध्य ज्ञान, विज्ञान, धन एवं उपकरण वाले हाते हैं।

(3) वात प्रकृति के लक्षण :-

वातस्तु रुक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद्वातलाद रूक्षापचितात्पशरीराः प्रनतरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च भवन्ति, लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः, चलत्वादनवस्थित सन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठ जिह्वाशिरः स्कन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद्बहुप्रलाप कण्डरासिराप्रतानाः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासराग विरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्याच्छीतासहिष्णवः प्रततशीत कोद्वेपकस्तम्भाः, पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रु रोमनखदशनत्रदनपाणिपादाः, वैशाद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सतत सन्धिशब्दगामिनश्च भवन्तिः, त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्प साधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति।। (च. वि. 8/98)

वात प्रकृति के लक्षण :-

वायु रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत परुष, विशद, गुणयुक्त होता है। इन गुणों के अनुरुप ही वात प्रकृति के मनुष्य के गुण होते हैं।

	वात के गुण	वातल मनुष्य के गुण
1.	रुक्ष	- मनुष्य का शरीर रुक्ष, कृश, छोटा होता है। स्वर रुक्ष, क्षाम, भिन्न, मन्द, सक्त, जर्जर होता है।
2.	लघु	- गति, चेष्टा, आहार लघु और चंचल होते हैं। भोजन अल्प व निरंतर करने वाले होते हैं।
3.	चल	- मनुष्य की संधि, अस्थि, भ्रू, हनु, जिह्वा, ओष्ठ, हस्त व पाद चञ्चल होते हैं।
4.	बहुगुण	- बहुत अधिक बोलने वाले शरीर कण्डरा और शिराओं से प्रसारित होती है।
5.	शीघ्र	- सभी कार्यों को शीघ्र करने वाले मनुष्य के मन में शीघ्र ही क्षोभ उत्पन्न होता है। शीघ्र भय, प्रेम, वैराग्य से युक्त होते हैं। - शीघ्र ही सुनी हुई बात को ग्रहण करने वाला तथा भूलने वाला।
6.	शीत	- शीतलता के प्रति असह्य निरन्तर शीतजन्य विकार कंप, स्तम्भ होता है।
7.	पुरुष	- केश, लोम, श्मश्रु, नख, दाँत, हस्त, पाद परुष अर्थात् खुरदरे होते हैं।
8.	विशद	- अंग व प्रत्यङ्ग कटे हुए होते हैं। संधियों से निरंतर शब्द होते हैं।

उपरोक्त गुणों के कारण वात प्रकृति वाला मनुष्य प्राय: अल्पबल वाला, अल्प आयु और अल्प संतान वाला तथा अल्प साधन सामग्री वाला दरिद्र होता है।

4. संसर्ग प्रकृति

संसर्गात् संसृष्ट लक्षणा:।। (च. वि. 8/99)

उपरोक्त वर्णित भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के लक्षण यदि एक ही पुरुष में मिल जाये या दो-दो प्रकृतियों के लक्षण मिल जाए तो उसे द्वन्द्वज प्रकृति वाला कहा जाता है।

उदाहरण स्वरूप :- वात -पित्त, पित्त - कफ, वात - कफ

5. सन्निपात प्रकृति

सर्वगुणसमुदितास्तु समधातव:।

इत्येवं प्रकृतित: परीक्षेत।। (च. वि. 8/100)

उपरोक्त वर्णित तीनों दोषों की प्रकृतियों के लक्षण यदि एकत्र पाये जाऐं तो उन्हें सम दोषज प्रकृति वाला कहा जाता है।

इस प्रकार प्रकृति द्वारा रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

(2) विकृति परीक्षा-

विकृतिश्चेति विकृतिरुच्यते विकार:। तत्र विकारं हेतु-दोष-प्रकृति-देश-काल-बल-विशेष लिङ्गतश्च परीक्षेत, न ह्यन्तरेण हेत्वादीनां बल विशेषं व्याधिबलविशेषोपलब्धि:। (च. वि. 8/101)

विकृति परीक्षा:-

(i) विकृति से तात्पर्य है- विकार

(ii) विकृति की परीक्षा हेतु-दोष-दूष्य-काल-बल-देश इन भेदों से तथा इनके लक्षणों के द्वारा की जाती है।

(iii) हेतु आदि के बल से ही व्याधि के बल का ज्ञान होता है।

(iv) बलवान व्याधि- जिस व्याधिके दोष-दूष्य-प्रकृति-देश-काल-बल समान होते हैं और हेतु और लक्षण का बल अधिक होता है, वह व्याधि बलवान होती है।

(v) दुर्बल व्याधि- दोष-दूष्य-प्रकृति-देश, काल समान न हो और हेतु और लक्षण बहुत कम हो तो व्याधि दुर्बल होती है।

(vi) मध्यम बल व्याधि- जिस व्याधि के दोष-दूष्य-प्रकृति-देश--काल इसमें कुछ की समानता हो और कुछ की असमानता हो और कारण तथा लक्षणों का मध्य बल हो तो वह रोग मध्य बल वाला होता है।

(3) सार परीक्षा- 'सार' शब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते।। (चक्र. च.वि. 8/102)

आचार्य चक्रपाणि के अनुसार सार धातु के विशुद्धतर रूप को कहा जाता है। सार की परीक्षा आतुर के बल का प्रमाण तथा आयु जानने के लिए करनी चाहिए। 'सार' अर्थात् रस, रक्तादि, धातुओं की सर्वश्रेष्ठ विशुद्धि को कहते हैं। महर्षि चरक द्वारा आठ सारों का विस्तृत वर्णन हुआ है। धातुओं के सात सार तथा आठवाँ सत्व सार होता है। देह में जो धातु पुष्ट एवं अति विशुद्ध है इसका ज्ञान- 'सार परीक्षा' के द्वारा करना चाहिए। जो व्यक्ति आठों सारों से युक्त होते हैं वे अधिक बलवान, परमसुखी, कष्ट, सह्य, सभी कार्यों में आत्मविश्वास रखने वाले, स्थिर मन वाले, शीघ्र जरावस्था को प्राप्त न होने वाले, दृढ़-सुसंगठित शरीर वाले, स्निग्ध, गंभीर स्वर वाले, कम बीमार पड़ने वाले, श्रेष्ठ सन्तान वाले, दीर्घायु, सुख-ऐश्वर्य तथा सम्मान वाले होते हैं।

सारतश्चेति साराण्यष्टौ पुरुषाणां बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते,, तद्यथा त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुसत्वानीति।। (च.वि. 8/102)

सार पुरुष के बल का प्रमाण जानने हेतु आठ प्रकारों के सार की परीक्षा की जाती है।

(1) त्वक् सार (2) रक्तसार (3) मांससार (4) मेदसार

(5) अस्थिसार (6) मज्जसार (7) शुक्रसार (वीर्यसार) (8) सत्वसार

(1) त्वक् सार

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदुप्रसन्न सूक्ष्माल्पगंभीर सुकुमार लोमा सप्रभेव च त्वक् त्वक्साराणाम्। सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्य प्रहर्षणान्यायुष्यत्वं चाचष्टे।। (च.वि. 8/103)

त्वक् सार पुरुष के शारीरिक लक्षण:-

त्वक् सार पुरुष की त्वचा-स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न, सूक्ष्मा अल्प, गहरे और सुकुमार लोम युक्त होती है, त्वचा प्रभा (कांति) युक्त होती है।

त्वक् सार पुरुष के मानसिक लक्षण:- सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग बुद्धि, विद्या, आरोग्य, हर्ष, आयु से युक्त होते है।

(2) रक्तसार :-

कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणिपादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद्भाजिष्णु रक्तसाराणाम्। सा सारता सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासहिष्णुत्वं चाचष्टे।।

(च.वि. 8/104)

रक्तसार पुरुष के शारीरिक लक्षण:- व्यक्ति के अक्षि, कर्ण, जिह्वा, नाक, मुख, ओष्ठ, हस्त-पाद के तलवे, नख, ललाट, शिश्न चिकने, रक्तवर्ग युक्त, शोभा युक्त, कांति युक्त होते हैं।

मानसिक एवं सामाजिक लक्षण:- सुखी, श्रेष्ठ मेधा युक्त, मनस्वी, सुकुमार, अधिक बल युक्त, गर्मी को सहन न करने वाला होता है।

(3) मांस सार:-

शङ्खललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवा स्कन्धोदरकक्ष वक्ष: पाणि पाद सन्धय: स्थिरगुरुशुभमांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सरता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्त विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे।।

(च.वि. 8/105)

मांस सार पुरुष के शारीरिक लक्षण:- ऐसे पुरुष के शंख, ललाट, ग्रीवा का पृष्ठ भाग, हनु, स्कन्ध, ग्रीवा, नेत्र उदर, कक्षा, वक्ष, हस्त एवं पाद की सभी संधियाँ-स्थिर, गुरु, मांसपुष्ट होती है।

मानसिक लक्षण:- क्षमा, धैर्य, अलोभी, विद्या युक्त, धन युक्त, सुखी, सरल, आरोग्य, दीर्घायु, बलवान होता है।

(4) मेद सार:-

वर्ण स्वरनेत्र केश लोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेष: स्नेहो मेद: साराणाम्। सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे।। (च.वि. 8/106)

शारीरिक लक्षण:- मेद सार पुरुष के स्वर, नेत्र, केश, रोग, नख, दन्त, ओष्ठ, मूत्र, मल मे अत्यधिक चिकनापन पाया जाता है।

मानसिक लक्षण:- मेद सार पुरुष धन, ऐश्वर्य, सुख, उपभोग, दानशीलता, सरलता, कोमलता, सेवाभाव के सूचक होते हैं।

(5) अस्थि सार :-

पार्ष्णिगुल्फजान्वरन्तिजत्रुचिबुकशिर: पर्वस्थूला: स्थूलास्थि नख दन्ताश्चास्थिसारा:। ते महोत्साहा: क्रियावन्त: क्लेशसहा: सारस्थिशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च।। (च.वि. 8/107)

शारीरिक लक्षण- अस्थि सार पुरुष के एडी, टखने, घुटने, अरत्नि, जत्रु, चिबुक, शिर, अस्थि, अस्थि-संधियाँ, नख व दाँत स्थूल होते हैं।

मानसिक लक्षण:- उत्साही, क्रियाशील, क्लेश सह्य, सुदृढ़ शरीर युक्त, दीर्घायु होते हैं।

(6) मज्जा सारः-

मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्ध्यश्च मज्जसाराः।

ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतवित्तविज्ञानापत्यसंमान भाजश्च भवन्ति।। (च. वि. 8/108)

शारीरिक लक्षण :- मृदुअंग युक्त, बलवान, स्निग्ध वर्ण एवं स्वर युक्त, विशाल तथा वृत्त संधियों से युक्त होता है।

मानसिक लक्षण :- दीर्घायु, बलवान, ज्ञान-विज्ञान, धन, संतान, सम्मान युक्त होते हैं।

(7) शुक्र सारः

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्त सारसमसंहतशिखरदशनाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियोभोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्त-संमानापत्यभाजश्च भवन्ति।। (च. वि. 8/109)

शारीरिक लक्षण :- सौम्य दृष्टि युक्त, अधिक कामोत्तेजना वाले, स्निग्ध, वृत्त, दृढ़, संहत, उन्नतागत दाँत युक्त, प्रसन्न, कांतियुक्त, स्निग्ध-सुसंगठित-श्वेतवर्ण युक्त अस्थि व दंत युक्त, विशाल नितम्ब युक्त वाले होते हैं।

मानसिक लक्षण :- स्त्रियों के प्रिय, भोग प्रिय, बलवान, सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, धनयुक्त, संतान युक्त होते हैं।

(8) सत्व सार-

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षाधीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः सव्यवस्थितगति गंभीर बुद्धि चेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्व साराः। तेषां स्वलक्षणैरेव गुणा व्याख्याताः।। (च. वि. 8/110)

मानसिक लक्षण :- स्मृतिवान, भक्तिवान, कृतज्ञ, विद्वान, पवित्र, महोत्साही (अत्यधिक उत्साह से युक्त), चतुर, धीर, पराक्रमी, सुव्यवस्थित गति वाले, गंभीर बुद्धि तथा चेष्टावान, शुभ कार्यों में आसक्त

(ii) सार परीक्षा के आधार पर पुरुष को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है।

(अ) सर्वसार पुरुष (ब) असार पुरुष (स) मध्यमसार पुरुष

(अ) तत्र सर्वैः सारैरुपेताः पुरूषाः भवन्त्यतिबलाः परमसुखयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्धगम्भीरमहास्वराः सुखैश्वर्यपित्तोपभोगसंमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्य गुणविस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च।।

(च. वि. 8/111)

शारीरिक लक्षण :- अधिक बलवान्, गौरव सम्पन्न, क्लेश सह्य, आत्मविश्वासी, सतत् कल्याणकारी कार्यों में निपुण, चलते समय ठीक गति रखने वाला, स्वर चिकना, गम्भीर तथा महान् होता है।

मानसिक लक्षण :- सुखवान, ऐश्वर्यवान, धन-उपभोगी, आदर-सम्मान के पात्र।

(ब) असार-पुरुष

अतोविपरीतास्त्वसाराः।। (च. वि. 8/112)

असार पुरुष में उपरोक्त कहे आठ सारों में से कोई भी सार नहीं पाया जाता। अतः वे इनसे विपरीत गुणों से युक्त होते हैं।

(स) मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति।। (च. वि. 8/113)

मध्यमसार से युक्त पुरुष में उपरोक्त कहे आठ-सारों के कुछ लक्षण पाये जाते हैं और कुछ नहीं।

सार परीक्षा का प्रयोजन

अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्प बल इति, दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः, तत्र पिपीलिकाभारहरण वत् सिद्धि।। (च. वि. 8/115)

मात्र शरीर को देखने से वैद्य समुदाय निम्न भावों से मोह में पड जाता हैं:-

(1) रोगी का शरीर मांस से पुष्ट, बलवान, विशाल होने से रोगी बलवान है।

(2) रोगी का शरीर पतला, दुर्बल, छोटा होने से रोगी अल्प बलवान है।

उपरोक्त भाव वैद्य को भ्रमित करते हैं। जबकि छोटे तथा अल्प शरीर से युक्त होने पर भी मनुष्य बलवान होता है। जैसे चींटी छोटी और पतली होते हुए भी अपने से अनेक गुना भार उठा लेती है। उसी प्रकार दुर्बल और छोटे शरीर वाले पुरुष भी अधिक बलयुक्त होते हैं। तथा साथ ही मोटे व विशाल काय वाले भी हीन बल युक्त होते हैं।

(4) संहनन परीक्षा

संहननश्चेति संहनन, संहतिः, संयोजनमित्येकोऽर्थः। तत्र समसुविभक्तास्थि, सुबद्धसन्धि, सुनिविष्ट-मांसशोणितं, सुसंहतं शरीरमित्युच्यते। तत्र सुसंहतशरीराः पुरुषा बलवन्तः, विपर्ययेणाल्पबलाः मध्यत्वात् संहननस्य मध्यबला भवन्ति।। (च. वि. 8/116)

शरीर की परीक्षा संहनन से की जाती है :-

पर्याय - संहनन, संहति, और संयोजन।

(1) जिसके शरीर की अस्थियाँ सम और अलग-अलग उचित रूप में विभक्त हो, मांस और रक्त अपने स्थानों में सु-अवस्थित हो ऐसे शरीर को सुसंगठित कहा जाता है।

(2) सुसंगठित शरीर वाले व्यक्ति बलवान होते हैं।

(3) जिनका शरीर सुसंगठित नहीं होता वह अल्प बल वाले होते हैं।

(4) जो उत्तम संहनन और हीन संहनन दोनों से युक्त ना हो मध्य बल वाले होते हैं।

प्रमाणतश्चेति शरीरप्रमाणं पुनर्यथा स्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेध विस्तारायामैर्यथाक्रमम्। तत्र पादौ चत्वारि षट् चतुर्दशाङ्गुलानि, जङ्घे त्वष्टादशाङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे च, जानुनी चतुरङ्गुले षोडशाङ्गुलपरिक्षेपे, त्रिंशदङ्गुलपरिक्षेपावष्टा दशाङ्गुलावूरू, षडङ्गुल दीर्घौ वृषणावष्टाङ्गुलपरिणाहौ, शेफः षडङ्गुलदीर्घं पञ्चाङ्गुल परिणाहं, द्वादशाङ्गुलिपरिणाहो भगः, षोडशाङ्गुलविस्तारा कटी, दशाङ्गुलं बस्तिशिरः, दशाङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलमुदरं, दशाङ्गुल विस्तीर्णे द्वादशाङ्गुलायामे पार्श्वे, द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरं, द्वयाङ्गुलं स्तनपर्यन्तं, चतुर्विंशत्यङ्गुलविशालं द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुरः, द्वयाङ्गुलं हृदयम्, अष्टाङ्गुलौ स्कन्धौ, षडङ्गुलावंसौ, षोडशाङ्गुलौ प्रबाहू, पञ्चादशाङ्गुलो प्रपाणी, हस्तौ द्वादशाङ्गुलौ, कक्षावष्टाङ्गुलौ, त्रिंक द्वादशाङ्गुलोत्सेधम्, अष्टादशाङ्गुलोत्सेधं पृष्ठं, चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुल परिणाहा शिरोधरा, द्वादशाङ्गुलोत्सेधं चतुर्विंशत्यङ्गुला परिणाहमाननं, पञ्चाङ्गुलमास्यं चिबुकौष्ठ कर्णाक्षिमध्यनासिका ललाटं चतुरङ्गुलं, षोडशाङ्गुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्गुलपरिणाहं शिरः, इति पृथक्त्वेनाङ्गा वयवानां मानमुक्तम्। केवलं पुनः शरीरमङ्गुलि पर्वाणि चतुरशीतिः। तदायामविस्तार समं समुच्यते। तत्रायुर्बलमोजः सुखमैश्वर्यं वित्तमिष्टा श्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमाणवति शरीरे, विपर्ययस्त्वतो हीनेऽधिके वा।। (च.वि. 8/117)

	ऊँचाई	लंबाई	चौड़ाई	परिधि	अन्य (अवर्णित)
1. पाद	4	14	6	–	–
2. जंघा	–	18	–	16	–
3. जानू	–	4	–	16	–
4. उरू	–	18	–	30	–
5. वृषण	–	6	–	8	–
6. शेफ	–	6	–	5	–
7. भग	–	–	–	12	–
8. कटि	–	–	16	–	–
9. बस्तिशिर	–	–	–	–	10
10. उदर	–	12	10	–	–
11. पार्श्व	–	12	10	–	–
12. स्तनों के बीच भाग	–	–	–	–	12
13. स्तन पर्यन्त	–	–	–	2	–
14. उर	12	–	24	–	–
15. हृदय	–	–	–	–	2
16. स्कन्ध	–	–	–	–	18
17. अंस	–	–	–	–	6
18. प्रबाहु	–	–	–	–	16
19. कुहनी से कलाई तक भाग (प्रपाणि)	–	–	–	–	15
20. हस्त	–	–	–	–	20
21. कक्षा	–	–	–	–	8
22. त्रिक	12	–	–	–	–
23. पृष्ट	18	–	–	–	–
24. शिरोधरा (ग्रीवा)	4	–	–	22	–
25. आनन	12	–	–	24	–
26. आस्य	–	–	5	–	–
27. चिबुक	–	–	–	–	4

28. ओष्ठ	–	–	–	–	4
29. कर्ण	–	–	–	–	4
30. अक्षिमध्य	–	–	–	–	4
31. नासिका	–	–	–	–	4
32. ललाट	–	–	–	–	4
33. शिर	16	–	–	32	–
34. संपूर्ण शरीर	84	–	84	–	–

(6) सात्म्य परीक्षा:-

सात्म्यतश्चेति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते। तत्र ये धृत क्षीर तैलमांसरससात्म्या: सर्वरससात्म्यश्च ते बलवन्त: क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्ष सात्म्या: पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबला: अल्पक्लेश सहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबला: सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति।। (च.वि. 8/118)

- सात्म्य से तात्पर्य है- सुखानुबन्ध होना।
  अर्थात् जो आहार निरंतर सेवन करने से देह प्रकृति के अनुकूल हो जाये।
- इसमें जो मनुष्य घृत, दूध, तेल, मांस, रस अथवा सभी षट् रसों को सात्म्य कर चुके हैं, वे पुरुष बलवान्, क्लेश सह्य, तथा दीर्घायु होते हैं।
- इसके विपरीत जो व्यक्ति रूक्ष वस्तुओं, केवल एक ही रस को, सात्म्य कर चुके हैं अल्प बल युक्त तथा क्लेश असह्य होते हैं।
- जो व्यक्ति दो अथवा तीन रसों को सात्म्य कर चुके हैं वे मध्यम बल युक्त होते हैं।

7. सत्व परीक्षा-

सत्त्वतश्चेति सत्त्वमुच्यते मन:। तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्म संयोगात्। तत्त्रिविधं बलभेदेन-प्रवरं, मध्यमम्, अवरं चेति। अतश्च प्रवर मध्यावरसत्त्वा: पुरुषा भवन्ति। तत्र प्रवर सत्त्वा: सत्त्वसारास्ते सारेषूदिष्टा:, स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीड़ा स्वव्यथादृश्यन्ते सत्त्वगुणवैशेष्यात्, मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वाऽपि संस्तभ्यन्ते, हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परै: सत्त्वबलं प्रति शक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वाल्पानामपि वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्र भैरवद्विष्टबीभत्स विकृतसंकथास्वपि च पशु परूषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्यमूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति।। (च. वि. 8/119)

सत्व परीक्षा - सत्व का तात्पर्य 'मन' से है सत्व व आत्मा संयुक्त रूप में शरीर का नियमन करते हैं।

बल भेद से सत्व 3 प्रकार का होता है:-

(1) प्रवर (2) मध्यम (3) अवर

अत: पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं:-

(1) प्रवर सत्व (2) मध्यम सत्व (3) अवर सत्व

इनमें प्रवर सत्व युक्त मनुष्य सत्व सार कहलाते हैं। सत्व सार मनुष्य सत्व गुण की अधिकता के कारण किसी व्याधि (निज अथवा आगन्तुज) से घबराता नहीं है।

मध्य सत्व वाले पुरुष दूसरों से आश्वासन पाकर अथवा दूसरों को अपने में रखकर स्वयं को अवलम्बित कर कार्य करते हैं।

हीन सत्व वाले पुरुष न स्वयं और ना ही दूसरों की साध्यता पर अपने मन के वेग को रोक पाता है, अपितु विपरीत स्थिति आने पर विलाप करता है। हीन सत्व वाला मनुष्य चाहे कितने ही विशाल शरीर वाला ही क्यो न हो किन्तु छोटी सी विपत्ति का भी सामना करने में असमर्थ होता है। ऐसा मनुष्य सदा लोभ, मोह, भय, शोक अंहकार से ग्रस्त रहता है।

8. आहार परीक्षा

आहारशक्तिश्चेति आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्त्या जरणशक्त्या च परीक्ष्याः बलायुषी ह्याहासयत्ते।।

(च. वि. 8/120)

बल और आयु आहार के अधीन होते हैं। आहार शक्ति की परीक्षा भोजन करने की शक्ति से अथवा पचाने की शक्ति को देखकर की जाती हैं।

9 व्यायाम परीक्षा

व्यायामशक्तिश्चेति व्यायामशक्तिरपि कर्मशक्त्या परीक्ष्या।

कर्मशक्त्या ह्यनुमीयते बलत्रैविध्यम्।। (च. वि. 8/121)

व्यायाम परीक्षा

कार्य करने की शक्ति के द्वारा व्यायाम शक्ति की परीक्षा की जाती हैं।

कार्य करने की क्षमता द्वारा ही उत्तम, मध्यम और अवर बल का ज्ञान किया जाता है।

अतः कार्य करने की क्षमता के आधार पर व्यायाम बल 3 प्रकार के होते हैं :-

1. उत्तम - अधिक कार्य करने की शक्ति से उत्तम बल का ग्रहण किया जाता है।
2. मध्यम - मध्य कार्य करने की शक्ति से मध्यम बल का अनुमान लगाते हैं।
3. अवर - अल्प कार्य करने की शक्ति से हीन बल का ज्ञान होता है।

10. वयपरीक्षा

वयस्तश्चेति कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी हि शरीरावस्था वयोऽभिधीयते। तद्वयो यथा स्थूलभेदेन त्रिविधं बालं, मध्यं, जीर्णमिति। तत्र बालमपरिपक्व धातुमजात व्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबलं श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्ष, विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्व मात्रिंशद्वर्षमुदिष्टं; मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्य पौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचन विज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वम विशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम्, अतः परं हीय मानधात्विन्द्रिय बलवीर्य पौरुष पराक्रमग्रहणधारणस्मरण वचन विज्ञानं भ्रश्यमान धातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम्, वर्षशतम् खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले, सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः, तेषां विकृतिवर्ज्यैः प्रकृत्यादिबलविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्।। (च. वि. 8/122)

काल प्रमाण के विशेष की अपेक्षा रखने वाली शरीर की अवस्था को वय कहा जाता है। वह स्थूल रूप से भेद करने पर तीन प्रकार की होती है।

(1) बाल (2) मध्य (3) जीर्ण

(1) बालावस्था

बाल अवस्था उसे कहते हैं जिसमें शरीर की धातुऐं पूर्ण रूप से पकी न हो, शरीर में मूँछ आदि चिह्न उत्पन्न न हुए हों, शरीर कोमल हो, क्लेश को सहने करने में असमर्थ हो, सभी प्रकार से शरीर में बल की वृद्धि न हुई हो, शरीर में कफ की प्रधानता हो और 16 वर्ष तक की अवस्थाहो।

बाल्यावस्था के दो भेद किये गये हैं :-

(1) 1 से 16 वर्ष तक जिसमें कफ की प्रधानता होती है।

(2) रसादि धातुओं के बढ़ने और मन के अस्थिर रहने पर तीस वर्ष तक।

(2) मध्यावस्था

इस अवस्था में अपनी उचित मात्रा में शरीर में बल, वीर्य, पौरुष पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण और वचन एवं विज्ञान की शक्ति आ गई हो और सभी धातुओं के गुण जिसके शरीर से नष्ट नहीं हुए हों और पित्त धातु की प्रधानता हो ऐसे 60 वर्ष की अवस्था तक मध्यम वय माना गया है।

(3) जीर्णावस्था

इसके बाद शरीर, धातु, रक्त आदि इन्द्रियों का बल, वीर्य, पुरुषार्थ पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान की शक्तियाँ घटने लगती हैं और धातुओं के गुण नष्ट होने लगते हैं। वायु गुण की प्रधानता हो जाती है। 100 वर्ष तक की अवस्था को जीर्णावस्था कहते हैं। 100 वर्ष की आयु इस काल में मानी जाती है। पर कुछ मनुष्य ऐसे भी होते है जो इससे कम या इससे अधिक काल तक भी जीते हैं। उन लोगों के लिए विकृति को छोड़कर प्रकृति आदि बल के भेदों की परीक्षा से और आयु के लक्षण से आयु का प्रमाण निश्चय कर उसी के अनुसार आयु का तीन भाग करना चाहिए।

ECG (Electro cardiography)

- It is discovered by Einthoven
- It used to measure heart electric activity.
- **Purpose**–Support diagnosis of chest pain, diagnosis the cause of breathlessness etc.
- **Leads** – 12 leads are used in ECG

Two type of leads

1. Limb leads
2. Chest leads

Limb leads – Two Type

a. Bipolar limb leads –

lead I – between the right arm and left arm

lead II – between right arm and left leg

Lead III – between left arm and left leg

b. Unipolar limb lead –

aVR- Rt arm

aVL – left arm

aVF – left Foot

Chest lead – 6

V_1 - Right fourth intercostal space

V_2 - Left fourth intercostal space

V_3 - At the Mid point V_2 and V_4

V_4 - Lt fifth intercostal space and midclavicular line

V_5 - left fifth intercostal space anterior axillary line

V_6 - Left fifth intercostal space mid axillary line

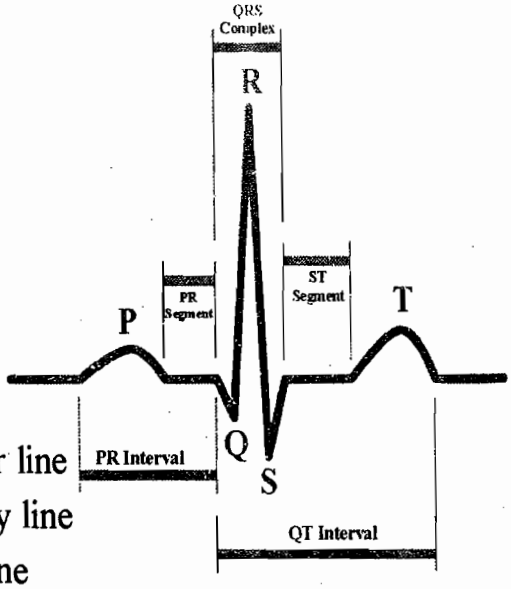

ECG paper – Have Two axis -

1. X axis denote time-Speed of paper movement–25 mm/min so 1mm takes .04 sec time
2. Y axis denote Voltage - every small division show .1 mv

Horizontally 1 small square = .04 sec one large square = .20 sec

Verticaly 1 small square = .1mv

Normal ECG one wave = P, Q, R, S, T

Each wave represent the heart activity like.

P wave = denote atrial activity, upward deflection

QRS complex = ventricular depolarization,

Q wave =downward deflection

R wave = upward deflection

T wave = Ventrical mass repolarization, Upward deflection

Heart rate = 60/min

ECG reporting based on –

1. Rhythm
2. Conduction intervals
3. Axis
4. QRS complex
5. ST segment and T wave

Normal wave morphology

P wave duration = 1 sec.

PR interval duration = .12 - .2 sec

QRS complex duration =.11 sec

Abnormalities

- **P wave greater** = Atrial hypertrophy
- **QRS more** = Bundle branch block, ventricular hypertrophy

- **ST segment elevation** = Myocardial infarction
- **Depressed ST segment** = Myocardial ischaemia
- **Mechanism of ECG**

(1) Depolarization- Myocardium (heart muscle) is made up of cardiac muscle fibers, when the muscle fiber is excited through the electrical activity, it is Depolarization. The depolarisation starts at atrium and spreads all over the heart and ends at the apex of the heart.

(2) Repolarization- After complete excitation (depolarization) of the heart, the heart muscle will be relaxed for a while, This is called as repolarization (relaxation). Each and every muscle fiber will be relaxed after the excitation. This is essential for the next depolarization.

Therefore, depolarization is followed by repolarization in every heart fibre muscle fiber as a continuous process. Normally it starts at the SA node in atria; from there is spreads through every muscle fiber one by one up to the apex.

(3) Conduction pathway- To under stand the electrocardiogram it is important to know from where the heart beat starts and how it spreads.

Normally, the impulse starts at Sino Atrial node in atria and reaches to Atrio Ventricular node, then through bundle of His via right and left bundle branches it spreads to ventricles. This is the normal conduction pathway.

Diagram shows the normal conduction pathway inside the heart.

SA node→to→AV node→to→Bundle of His→to→RBB & LBB→to→Ventricles.

The impulse should follow this pattern to spread to entire heart, then it is considered as normal conduction pathway. Other than this it is considered as abnormal conduction.

(4) Heart beat- One complete depolarization of the heart muscle indicates one heart beat. So, number of depolarizations are equal to number of heart beats.

For example, in a normal adult if the heart rate is 80, the number of depolarizations occurring per minute is also 80.

The depolarization has some phases;

It starts from SA node in the atria, and spreads to the AV node.

In this phase, P wave is seen in ECG.

From AV node, the depolarization spreads to the rest of the heart.

Then QRS complex is seen in ECG.

SA node→→→AV node==P wave, show electic conduction from SA to AV node shows electric conduction between AV node to bundle of hiss.

AV node→→→Bundle of His & RBB, LBB==QRS Complex,

Ventricular relaxation casuses T wave.

So, directly

P wave represents the atrial depolarization (Contraction).

QRS represents ventricular depolarization (Contraction).

CT-SCAN (Computed tomography)

This is modified radiological technique discovered by Hounsefield & Ambrose. This technique is used to detect the abnormal structures and minor pathologies which could not be detected thorugh other investigatory techniques.

Computed tomography is a new method of forming images from X-rays. This is a multi directional scanning of the human body. By this, multiple data is collected, calculated and finally imaged.

When the X-rays are subjected to body tissue, some X-rays are absorbed and remaninig rays are taken by detectors as we see in simple X-rays but the difference here is, multi directional X-rays are taken in CT scan.

Equipment of computed tomography

The technique-

X-ray source & X-ray detector are placed on either side of the patient and also opposite to each other.

X ray source-

It is a thin source from which X-rays are ejected. When they pass thorugh the tissues of the body at a particular plane, some of these X-rays are absorbed by the tissues. and the remaining X-rays are recieved by the detector which is opposite side to the X-ray source.

The detector-

This is placed opposite to the X-ray source to receive the unabsorbed X-rays at a particular plane.

The source of X-rays and detector move with orientation circularly to complete the circular movement around the slice of the body part. After a complete circular movement of the slice, the quantum of absorbed X-rays and reveiced X-rays are calculated.

Calculation-

Each small square in a slice in a particular plane is measured to find out how much X-ray absorption has taken place. Depending on the absorption, the absorption coefficient is assigned.

Form this absorption coefficient each small square is assigned a number, called Hounsefield number.

The visual image on the screen-

The composite picture on the screen is because of the collection of small absorbed and non absorbed squares with different hounsefield numbers with each hounsefield number being assigned in a specific shade of grey.

On the Hounsefield scale,

Air	(-1000)H.U,
Bone	(+1000) H.U,

Air is densely white and bone is densely black, when viewed on the film.

Various other tissues are seen, between these values.

Fat	100 to -50 Hounsfield units
Water	0 H.U
White matter	22 to 32 H.U
Grey matter	36 to 46 H.U
Clotted blood	60 to 80 H.U
Calcification	70 to 1000 H.U

Contrast CT-

To differentiate the similar structures exactly and to visualize the exact pathology, the contrast CT is done.

- Intravenous contrast is given after the routine scan. Again the scan is repeated.
- Then comparing the films before and after CT, Certain tissues show some enhancement in their density. Some pathological structures can take up their contrast. Then they are visualized more clearly.
- CT does involve exposure to radiation in the form of X-rays, but the benefit of an accurate diagnosis for outweighs the risk. the effective radiation dose from this procedure is about 10mSv, which is about the same, as the average person receives from background radiation in three years.
- Special care is taken during X-ray examinations to ensure maximum safety for the patient by shielding the abdomen and pelvis with a lead apron, with the exception of those examinations in which the abdomen and pelvis are being imaged. Women should always inform their doctor or X-ray technologist if there is any possibility that they are pregnant.
- Nursing mothers should wait 24 hours after contrast injections before resuming breast feeding.
- The riks of serious allergic reaction to iodine containing contrast material is rare, and radiology departments are well equipped to deal with them.

Advantages-

- Unlike other imaging methods, CT scan offers detailed images of many types of tissue including the bones, soft tissues and blood vessels.
- CT scan is noninvasive, painless and accurate.
- Diagnosis made by CT can avoid the exploratory surgeries and surgical biopsies.
- CT scanning can identify normal and abnormal structures, making it a useful tool to guide radiotherapy, needle biopsies and other minimally invasive procedures.
- Even though it is not cost effective, it is accurate and extremely minute pathologies are also detected.
- The radiation applied to the part is very low.

- CT scan will be taken in various planes, in various sections, so scanning of the entire of the entire part is possible.
- All soft tissue abnormalities like brain, lungs, and abdomen can be scanned thoroughly.

MRI (MAGNETIC RESONANSE IMAGE)

MRI is an exciting advance in radiology. Since a few decades it occupied a significant place in advanced radiology.

- High resolution multi plane 3D image
- Superior contrast resolution.

The principle-

It is based on the principle that any nuclei with unpaired protons behave like magnet when they spin. When these nuclei are subjected to a strong magnetic field, they release some energy in the form of radio signal. The radio signal is converted in to image.

Hydrogen nuclei are particularly suitable, because they have a single proton and neutron in nucleus and also abundant in human body in the form of water. 70% of total body weight is water only.

The procedure-

The tissue to be imaged is subjected to a strong magnetic filed. The instrument is equipped with high power magnets which can produce strong magnetic fields. When the body is subjected to this magnetic field the hydrogen nuclei which are present in the tissues tend to align themselves along the line of force of the filed from their random position, because it also has a small magnetic field around it.

To get the image of a particular tissue, the tissue nuclei should be stimulated. To do so, a strong magnetic pulse is applied. The magnetic pulse is the high power magnetic energy released by the instrument. Then the protons present in the tissues absorb the energy and are excited.

When they are excited they increase some energy, that energy is received by the detector in the instrument. After releasing the energy, The protons come back to the normal state when the stimulating pulse is stopped.

The energy released by excited protons is called as radio signals. The image is based on these radio signals by the tissues.

The intensity of radio signal indicates the concentration of the protons in the tissue which is subjected for image. This is the base for the image. The radio signal which is received, will be processed with many calculations by the computer, like how much energy is released and absorbed. After that the final image on film is obtained.

Therefore the image is formed by frequency pulse, which excites the protons with magnetic energy, and same energy is returned from the excited protons in the form of radio signal. Based on the radio signal intensity, the image will show black and white shades.

By changing the pulse sequence, the wanted tissue can be shown in different aspects with different clarities.

MRI began as a study restricted to the brain and spine because of limited hardware and software capabilities. As time went on, the improved techonology allowed imaging the musculoskeletal and abdominal areas also. Newer techniques have recently been developed to assess acute brain stroke, tumors, renal and peripheral vasculature. One of the most exciting applications recently being developed can assess not only heart structure, but also function.

In general, most MRI scans take between 20-60 minutes and patients will experience no discomfort. They will, howerver, hear a loud knocking or tapping sound when the scanner is actually acquiring information.

Advantages-

It do not have ionizing radiation, so it is said to be safe

- It gives high intrinsic contrast
- In any plane the image can be taken with out changing patient's position
- No known biological hazards.

Disadvantages-

- Imaging time is long
- This is operator dependent
- Extremely expensive Patient with pacemaker and any other metal implants can not be scanned.

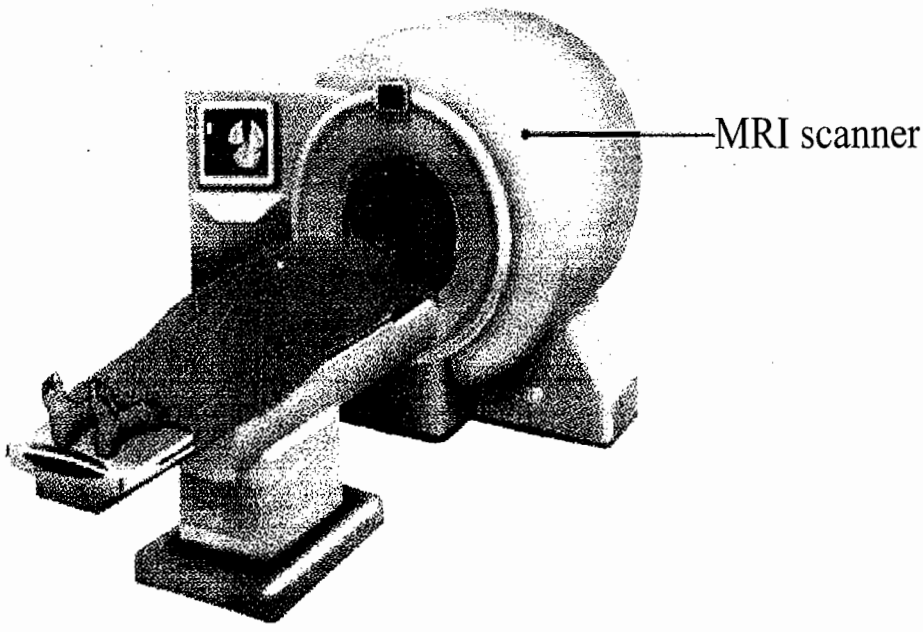

चित्र - 10 MRI

Introduction-

यह Wilnelm konrad roentgen जर्मनी के भौतिक शास्त्री (1895) द्वारा खोजी गई यह शरीर के आन्तरिक अंगों के चित्र लेने की पुरानी विधि है।

इस तकनीक द्वारा शरीर के आन्तरिक अंगों की Images प्राप्त की जाती है। निदान तथा उपचार के लिए X-ray का अध्ययन Radiology कहलाता है।

क्ष–किरणों का मापन एन्गस्ट्राम इकाई (Angstrom) से किया जाता है। चिकित्सा विज्ञान में प्रयोग में लाई जाने वाली क्ष–किरणों की इकाई 0.50 से 0.125 A^0 तक होती है। ये किरणें शरीर की सभी रचनाओं में से, रचना की विकिरण अपार्यता के अनुसार ही विभिन्न शक्ति वेध करती हैं जैसे–

(i) गैस (वायु इत्यादि) कम रेडियो अपार्य (Less radiopaque) होती है।

(ii) वसा गैस से अधिक रेडियो अपार्य (more radiopaque)होती है।

(iii) शरीर की अन्य रचनायें वसा से भी अधिक रेडियो अपार्य (more radiopaque) होती हैं।

(iv) अस्थि शरीर की सबसे अधिक रेडियो अपार्य (more radiopaque)रचना है।

Production of X-rays - X- rays are produced in the x-rays tube, which is vaccum created by glass bulb, having a cathod and anode. There is tungsten wire filament towards cathod side which emit electron, when heated. This electron strike over a rectangular tungsten plate, mwhich is lying at 20 angle towards anode side, consequently more amount of heat energy amd less amount of Xrays are produced at tungsten plate . The xrays produced and passed through a lead shielded tube. The heat energy produced in the target is dessipated through a copper bar attached to the target. The copper bar is cooled by three method- air cool method, oil cool method, oil and water cooled method. The number of X-rays are controlled by regulating the temprature of filament. Filament is given 4-8 ampere of current from a low voltage step down transformer.

उपयोगिता–

1. X-Ray के द्वारा Bone fractures, dislocation हृदय तथा फेंफड़ों से सम्बन्धित रोग का अध्ययन किया जाता है।

2. Barium meal, Barium enema - Barium sulphate is used. It is radioopaque substance used for taking the X-rays of gastro intestinal tract.

3. Endoscopic retrograde cholangiopancreatography (ERCP)- is a technique that combines the use of endoscopy and fluoroscopy to diagnose and treat certain problems of the biliary or pancreatic ductal systems.

Intravenous pyelography (IVP). These x-rays of the urinary tract use a contrast medium to help detect conditions such as kidney stones, bladder cancer and prostate enlargement (benign prostatic hyperplasia).

4. Mammography- Mammograms are specialized x-rays that create detailed images of the breasts. They are used to screen for and diagnose breast cancer and other breast conditions, such as cysts. The American Cancer Society recommends that women have annual mammograms starting at age 40.

5. Intravenous pyelography (IVP)- These x-rays of the urinary tract use a contrast medium to help detect conditions such as kidney stones, bladder cancer and prostate enlargement (benign prostatic hyperplasia).

6. CAT scan (computed axial tomography)- This noninvasive or minimally invasive test uses multiple x-ray images, taken from different angles, to create three–dimensional images of body structures. It may be performed alone or with the use of a special dye called a contrast medium. This test may be used when an area inside the body needs to be viewed from multiple angles and in greater detail.

7. Arthrography- This minimally invasive test involves injection of a contrast medium into a joint, followed by a standard x-ray, CAT scan or MRI (magnetic resonance imaging). Its uses include identification of tendon and ligament injuries, torn rotator cuff and loosening of joint replacements or other prostheses.

8. Discography- This test is often performed on patients who are considering back surgery or who have not responded well to conventional treatments for back pain caused by conditions such as degenerative disc disease or a herniated disc. The patient wears a metal–free hospital gown and lies on an imaging table. After the skin is numbed with anesthetic, a needle is inserted into the intervertebral disc using x-rays as guidance. Once in place, the needle injects contrast dye to outline any damaged areas and CAT scans are taken. Pain medicines may be administered if pain persists beyond the usual recovery time, typically about one hour.

9. Fluoroscopy - This type of test uses x-rays to image internal body organs while they are in motion. A continuous x-ray beam is focused on the part of the patient being examined to create a detailed, moving image that appears on a monitor, much like a movie. Fluoroscopy can be used in pain management - for example, to guide corticosteroid injections inside a joint.

10. DEXA scan (dual-energy x-ray absorptiometry)- Also known as a bone density scan, DEXA is the standard method of measuring bone mineral density. DEXA scans are often used to screen for the bone-thinning disease osteoporosis, especially in women after menopause. Some DEXA units use ultrasound instead of x-rays.

Angiography- This is an x-ray procedure in which contrast material is injected into one of the arteries of the heart. This allows the physician to detect if there is obstruction in coronary arteries. Angiography may be performed if the patient is experiencing chest pain.

- An x-ray of the chest is normally taken anteroposterioryly or posteroanteriorly, depending upon the direction of the rays from a source to the plate

The postero-anterior (PA) view is the common view in use, because the heart size is less exaggerated and hence more normal than in the anteroposterior (A.P) view Normally the chest x-ray is well centralized so that both the clavicles are at the same level. If they are not at the same level the x-ray is poorly centralized.

If the breast shadows are visualized the plate is of a female patient.

- The right diaphragm is slightly higher than the left with clear costophrenic and cardiophrenic angles.
- The ribcage and clavicles are normally well visualized.

The cardiac shadow consists of a smooth right border formed by the superior vena cava, right atrium and inferior venacava. The left border is formed by a aortic knockles, pulmonary artery, left atrial appendage, right ventricle and left ventricle, from above downwards.

- The ratio of the chest wall to the cardiac shadow is 2:1; If there is cardiac enlargement this ratio becomes less.
- The aortic knuckle is prominent in aortitis, athero sclerosis or aneurysm.
- The pulmoary artery is prominent in pulmonary hypertension.

A normal x-ray chest is described in the following manner:

1. Request form-name, age, sex, clinical information.

2. Technical-adequate inspiration, centering patientposition, exposure, adequate penetration.

3. Trachea-outline position

4. Heart and mediastinum-size shape position

5. Diaphragm-outline, shape, position

6. Pleural space-position of horizontal fissure, costophrenic angle cardiophrenic angle.

Manubrium

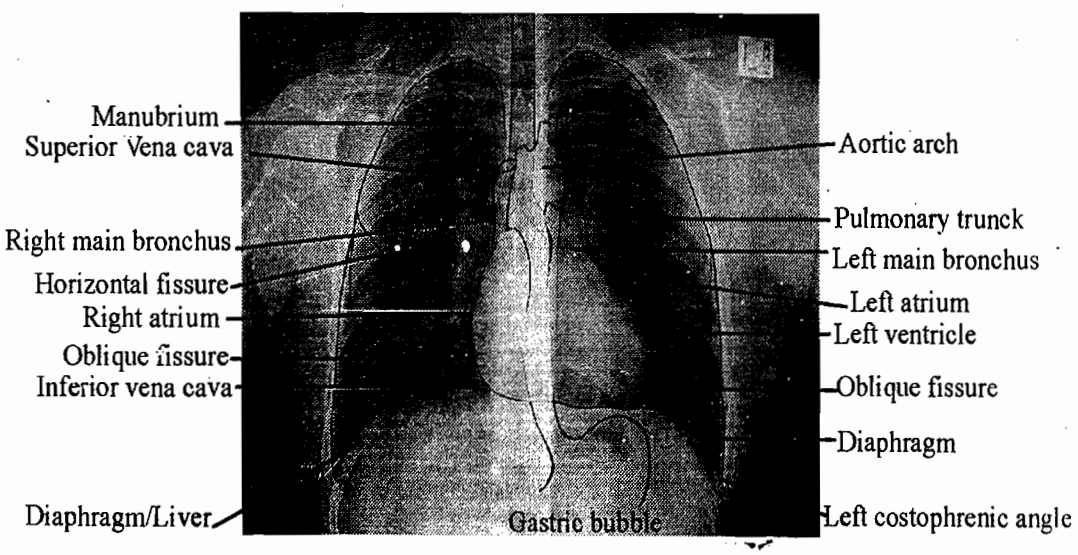

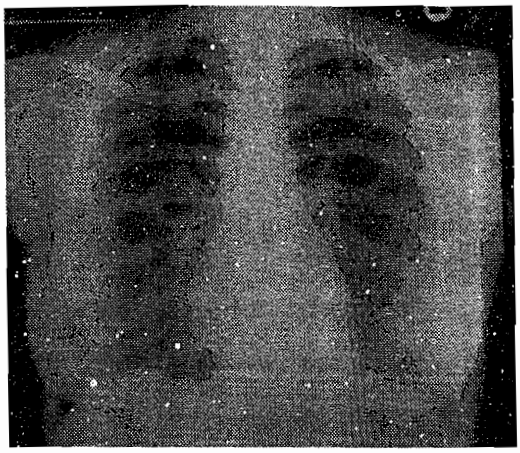

1. Cavitation in T. B.

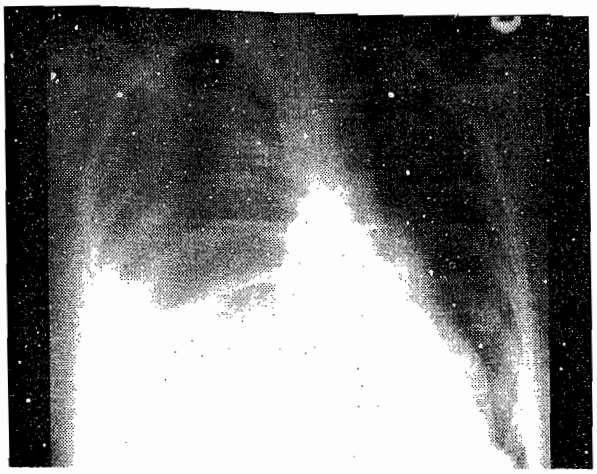

2. Pleural effusion

3. Silhouette sign

चित्र - 11 X-Ray

USG (Ultra Sono Grapy)

Medical ultrasound also known as diagnostic sonography or ultrasonography is an diagnostic imaging technique based on the application of ultrasound. It is used to see the internal body structures such as tendon, muscles, joints vessels and internal organ.

The practise of examining pregnant women using ultrasound is called obstetric ultrasound.

Ultra sound is sound waves with frequencies which are higher than those audible to humans.

Ultra sound image also known as sonograms are made by sending pulse of ultrasound into tissue using a probe. (Trans ducer)

Typical diagnostic scanner operate in the frequency range of 1 to 18 megahertz.

Sonography is widely used to perform both diagnosis & therapeutic procedures using ultrasound to guide interventional procedures. Like biopsy or drainage of fluid collection.

Sonography is effective for imaging soft tissue of the body, superficial structure such as muscles, tendens testis, breast, thyroid, parathyroidgland and the neonatal brain are image at a higher frequency (7-18m12) which provides better axial and lateral resolution. Deeper stricture such as liver & kidney are imaged at a lower frequency 1-6Hz with lower resolution and greater penetration.

Use of ultra sonography in different system.

Gastro intestinal tract- Whole abdomen sonography suggested the solid organ of the abdomen such as the pancrease, aorta, inferior vena cava, Liver, gallbladder, bile duct, kidneys, and spleen are imaged. Sound waves are blocked by gas in the bowel and attenuated indifferent degree by fat.

Different type of sonography in differnt system

Cardiovascular systems

- Arterial sonography assess patency or obstruction of arteries
- Thrombosonography-deep vein thrombosis
- Venosonography-Severity venous insufficiency.
- Urology-Pelvic sonogram to check bladder, prostate, testicle epididymitis, testicular cancer.

Two methods to perform pelvic sonography

1. external (By abdomen)
2. Internal (Trans vaginally)

Trans rectally. It produce important diagnostic information of abnormal pelvic struture.

- The appendix can sometimes be seen when inflammed.
- Endoanal ultrasound is used particularly in the investigation of anorectal symptoms such as fecal incontinence or obstructed defecation. It is able to detect occult defect such as tearing of the anal sphinctes.

Gynecology-Sonography of uterus & adenxa-Usauly trans vaginal is more useful.

Head & neck surgery- Most structure including the thyroid and parathyroid glands, lymphnodes. and salivarygland are well. visualized by high frequency ultrasound.

Neonatology - For basic assessment of intra cerebral structural abnormalities, bleeds, ventriculomegaly or hydrocephalus and the ultrasound can be performed through the soft spots in the skull of a newborn infant (Fontanelle) close at about 1 year of age & form a virtually impenetrable acoustic barrier for the ultrasound.

Neurology-Carotid ultrasonography. For ssessing blod flow and stenosis in the carotid arteries.

Opthalmology - Ocular ultrasonography ultrasound image of the eyes.

Pulmonology - Endo bronchial ultrasound (EBUS) probes are applied to standard flexible endoscopic probes and used by pulmonologist to allow for direct visualization of endobronchiac lesion & lymph nodes.

Laboratory investigation for metabolic & endocrinological disorder

a. Metabolic disorders are the disorder of energy utilization and storage.

b. Endocrinological disorders associatect with the distubance in hormone secreation.

किसी भी चिकित्सक को Endocrinological व Metobolic disorder के निश्चित ज्ञान हेतु प्रयोगशालीय परीक्षणों की आवश्यकता होती है।

सम्पूर्ण विश्व में ही रोग निदान हेतु प्रयोग शालीय परीक्षण अत्यन्त आवश्यक है। प्रयोगशालीय परीक्षण द्वारा रोग निदान के साथ-साथ चिकित्सा की दृष्टि से भी लाभ पहुंचा है।

Investigation for Common Endocrinological disorder

a. Disorder of pitutary gland.

Disorders of pitutary function are implicated in wide variety of endocrine disorder.

(A) Growth hormone deficiency-

Associated with the one year babies they have mild obesity, immature facial apperence etc.

Laboratory investigation - Rule out common cause of short staturs which involve exclusive malnutrition, chronic illness, recurrent infection, complete blood count.

- Urine examination
- Stool examination
- Chest x-ray
- Blood urea
- Serum creatinine
- Serum calcium
- Serum phosphorus
- Serum alkalinephospate
- Liver function test
- Renal function test
- Level of IGF-1
- CT or MRI scan to rule out developmental or acquired CNS lesion.

Growth hormone excess-

Laboratory Investigation

1. Skull x-ray film show enlarge sella tursica
2. CT, MRI Scan determine extent of tumour GH level elevated.

Laboratory investigation

Urine complete examination

1. Urine glucose assesment
2. Ketone bodies assesment
3. Portein-microalbuminuria or proteinuria--

Blood investigation-

1. Blood glucose - Fasting > 70-120 mg%

2. Post prandial (2hrs)=80.139 mg %

3. Glycosylated haemoglobin-It provides an accurate and objective measures of glycaemic control over a period of weeks to month. [abbreviation GHb, HBA 1, HBA_k] Normal value=4-7%.

4. Blood urea mitrogen-indicate pre renal condition due to deranged acid Diabetes mallitus in. Normal range-7-21mg/dl.

5. Serum total cholestrol-Normal value-15-250 mg/dl.

Serum HDL cholestrol-Normal value 30-60 mg/dl.

Serum trigiyceride-Normal value-40-140mg/dl.

Atherosclerosis can be determined.

American diabetes assoiation recommends

First degree relative of patient with IDDM be screened by measuring cyto plasmic islet cell antibodies. these are preclinical test.

ICA=Islet cell antibodies

IAA=Insulin antibodies

2. OGTT-By oral glucose tolerence test (OGTT) significant number of asymtomatic individuals with normal fasting blood glucose may show high postprandial blood glucose values.

Prolactine-Function-Activates the corpus leuteum and stimulates continued progesteron production by develop corpus leuteum.

Serum prolactine determination- Normal range-5-18ng/ml (male) 6-22 ng/ml (Female)

In women- Tumour of prolactine serceating cell cause glactorhoea and amenorhoea.

Gonadotropins(FSH & LH)

Influence the function and materation of the testes & ovary.

Serum FSH determination-

Normal range-2-25 AIU/ml (male)

4-30 AIU/ml (female)

40-250AIU/ml (Post menopausal)

Increased value found in menopause, seminiferous tubules faliure.

Serum LH determination-LH stimulate final maturation of graffian follicle, ovulation & development.

Normal range-7-24 MIU/ml (men)

6-30MIU/ml (women)

High value are associated with primary dysfunction and low value with secondry (pitutary & hypothalamic) faliure.

TSH-Thyroid stimulating hormone.

Serum TSH determination-

High TSH value are observed in primary hypothyroidism low TSH value are observed mainly in primary hyperthyroidism and also in secondry (Pitutary) related and tertiary hypothyroidism hypothalamic related.

Normal range- Adult=0-10 NIU/ml

Adreno corticotropic hormone-(ACTH)

Excess production of ACTH produce cushing syndrome.

Adrenal or suprarenal gland related endocrinological disorder-

The most common disorder of adrenocortical hyperfunction is cushing syndrome.

Screening test for cushing syndrome

- **Morning cortisol**
- Overnight dexamethasone suppression test
- Urine free cortisol screening test
- Low dose dexamethasone suppression test

Pheochromocytoma-It is a catecholamine secreating tumour arising from chromaffin cells of adrenal medula

Laboratory investigation-

Increased urinary excretion of catecho lamine

CT scan

MRI scan

^{123}IMIBG scintigraphy (Metaiodobenzyl gyanidine)

Adrenal insufficiency-It is related with adrenal loss, decrease ACTH production or ACTH resistence.

Other laboratory investigation-

Serum electorlyte

Blood sugar

Plasma renin activity (PRA)-Elevated plasma renin aclivity indicate minrealocorticoid deficiency

ACTH stimulation test - Best test for adreno corticalreserve estimation of ACTH

CTSan.

Estimation of antiadrenal antibodies

Thyroid disorders-

These fall into following main categories.

1. Enlargement of gland
2. Tumour of gland
3. Abnormal secreation of thyroid hormone.

Thyroid gland enlagrment associated with goiter, benigntumour

Goiter-enlarged thyroid gland with or without nodules.

Myxedema-Low T_3, T_4 level result in an abnormality low metabolic rate.

Autoimmune thyroidites-Hashimoto disease, primary myxedema.

Hyperthyroidism-Excessive secreation of T_3,T_4

Gravedisease-There is diffuse hyperplasia of thyroid gland with excess secreation of T_3 & T_4

Laboratory Investigation-

- Estimation of TSH
- Estimation of Total T_3
- Estimation of Total T_4-T_4 Level are better indicator of thyroid status than T_3 due to increased conversion of T_4 to T_3
- Estimation of Free T_3
- Estimation of Free T_4
- Determination of thyroid binding globulin-(TBG)
- Determination of thyroglobulin
- Determination of serum thyroxine binding capacity.

Disorder associated sexual hormone defect

Testesterone-LH stimulate testesteone-Production by binding to recept on the plasma membrane of ledying cell of testes

Laboratory investigation of testosterone done in some condition

1. Primary hypogonadism
2. Secondry hypogonadism
3. Baldness
4. Infertility due to lowspermatogenesis

Estrogen-Ovarian hormone synthesis by the follicle and corpus luteum of ovary. responsible for the maintenance of menstrual cycle.

Laboratory investigation suggested

1. Any abnormality in menstrual cycle-like amenorhoea, menorhageia
2. Infertility (female part)

Metabolism of carbhohydrates

- One in the blood stream absorbed nutrients are distributed to the cells of the body, where they undergo many remarkable changes the total of these changes has been named metabolism.
- Carbohydrate is utilized by the cells mainly in the form of glucose. carbohydrates supply more then 50% of energy requirment of the body.
- Fructose and galactose are readily converted to glucose by liver with help of appropriate enzymes alucose is then either converted to liver glycogen and stored there until it is required to maintain the normal sugar level.

Glucose then passes into the circulatory system & undergoes remarkable metabolic changes.

Hormones that regulate blood glucose Insulin-It is a hypoglycemic hormone secreted by the beta cells of pancreas in response to hyperglycemia.

Glucagon-It is produced by the alpha cells of islets of langerhan of the pancreas its secretions is stimulated by hypoglycemia.

Epinephrine is the hormone secreated by the adrenal medulla. it stimulates glycogenolysis in both the liver & in muscle.

Metabolism of Protein

- Protein form very important constituent of the diet they are mainly involved in building body tissues andsupplying energy. Its main sources are milk, egg, meat, pulses etc.
- Mastication subdivides the food, increasing its solubility and surface area for enzymes attack, Protein digestion however begins in the stomach. proteins are denaturated by Hcl which secreated by the parietal cells of the stomach is activated to pepsin by HCl. pepsin acts on denaturated proteins into large polypeptide derivatives, peptones and proteoses.
- Stomach contents are intermittently introduced into the duodenum and digestion continues in the intestime the pancreatic juice secreted in the small intestine during digestion, contains enzymes-trypsin, chymotrypsin and carboxy peptidase in zymogen forms. In active form these enzymes act as follows.

Protein, proteoses $\xrightarrow[\text{p h 2-6}]{\text{Trypsin}}$ polypeptides, dipeptides

Protein, proteoses peptones $\xrightarrow{\text{Chymotrypsin}}$ Polypeptides, dipeptides.

Polypeptides with free carboxylgroup $\xrightarrow{\text{Carboxy peptidase}}$ lower peptides, freeaminocids

Polypeptides with free amino groups $\xrightarrow{\text{Aminopeptidase}}$ Lower peptides free amino acids

Dipeptides $\xrightarrow{\text{Dipeptidase}}$ Amino acids.

The end products of protein digestion are absorbed as individual amino acids into portal blood these amino acids are activley transported across the intestine from mucosa to the serosa.

- Anino acids are absorbed from the intestine into the portal blood.
- Amino acids pass in the portal system to the liver and deamination of a portion of these amino acids takesplace there.

The amino groups & carbon residues may be used for the synthesis of other amino acids or nitrogenous compounds. The remainder are used for protein synthesis in the cells

- Amino acid metaboloism take place in 2 phases.

(a) Anabolic phase (b) Catabolic phase

1. Synthesis of proteins auch as enzymes, hormones, blood proteins, tissue protein etc.	1. Urea cycle
2. Synthesis of nonprotein nitrogenous substances suchas purines, creatine pyrimidines, choline etc.	2. Transamination
	3. Oxidative deamination
	4. Decarboxylation

Disorders affecting amino acid metabolism.

1. Phenylketonuria-It is due to the deficiency of the hepatic enzyme phenylalanine hydroxylase.

2. Alkaptonuria-It is caused by the deficiency of homogentisate, oxidase in tyrosine metabolism

3.Albinism-It is an inborn error due to the lack of syntheses of the pigment melanin.

4. Parkinson's disease-It is linked with decreased synthesis of dopamine (Intermediate compound of tyrosine metabolisim)

Laboratory methods for the determination of proteins in body proteins-

1. Determination of serum total protein- normal range-6-8g/dl

Normal range decrease in nephrotic syndrome, malnutrition, cirrhosis of liver & in other liver diseases.

Serum Albamin-

2. Normal range-3.3-4.8g/dl

3. Serum globulin-Total globulins=total proteins g/dl-albumin g/dl

4. Determination of individual globulins α–1, α-2, β-and gamma globulin.

5. Determination of urinary proteins

i) Proteinuria

ii) Microalbuminuria

6. CSF protieins-60mg/dl (15-45 average range)

गतवर्षों के प्रश्न पत्र

आयुर्वेदाचार्य (द्वितीय) व्या.

आयुर्वेदाचार्य द्वितीय व्यवसायिक मुख्य/प्रयास परीक्षा–2014

(बैचलर ऑफ आयुर्वेद मेडीसन एण्ड सर्जरी)

(अप्रेल–मई 2014 में आयोजित, बैच 2010/2009)

A-205 (a) : रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(सामान्ययाधिकीय रोग विज्ञानं विकृति विज्ञानं च)

(प्रथम प्रश्न पत्र)

समय : तीन घण्टे

पूर्णांक : 100

नोट : सभी प्रश्न करने अनिवार्य है।

अतिलघुत्तरात्मकप्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक 20 शब्दों में दीजिये, प्रत्येक प्रश्न के 2 अंक निर्धारित है।

Answer should not be given exceed 20 words of following questions. Each question carries 2 marks.

1. **रोग निदान का महत्व एवं परिभाषा।**

   Importance of Roga - Nidana and definition of Roga.

2. **मल प्रदोषज विकार।**

   What means of Mala Pradoshaja vikara.

3. **दोषगति।**

   What means of Dosha Gati.

4. **ख वैगुण्य एवं स्रोतो दुष्टि में क्या भेद हैं?**

   What are differences between Kha Vaigunya and Srotodusthi?

5. साम दोष दूष्य के लक्षण लिखिये।

Write the Sama Dosha-Dushya Lakshnas.

6. धातु पाक के लक्षण लिखिये।

Write the Dhatu Pak Lakshana's.

7. अग्नि दुष्टि के हेतु लिखिये।

Write the Agni dusti ke Hetu's.

8. रोगों का निदान के अनुसार वर्गीकरण।

Nidan ke Anusar- Classification of Diseases.

9. स्रोतोदुष्टि क्या है?

What means of Srotodushti?

10. रोग प्रतिरोधक क्षमता क्या है?

What means of Rog Prti-Rodhak Shamata?

11. विकृति विज्ञान की परिभाषा एवं भेदोपभेद लिखिये।

Write the Subdivisions and Introduction and definition of Pathology.

12. स्तब्धता का संक्षिप्त वर्णन करें।

Write the brief description of shock (stabdhata).

13. औपर्गिक व्याधि परिचय लिखें।

Write the introduction of Infectious disease.

14. हेतु की परिभाषा एवं भेद लिखें।

Write the definition and classification of "hetu".

15. सात्म्य, असात्म्य तथा विरुद्धाहार का विवरण लिखें।

Write the concept of Satmya, Asatmya and Viruddha Ahara.

Write short answers of following questions.

प्रश्न सं. 1 से 6 तक 5-5 अंकों के हैं उत्तर सीमा 100 शब्द

Question Number 1 to 6 carry 5 marks each. Answer limit is of 100 words.

1. उपद्रव का वर्णन लिखें।

Write the description of Updrva.

2. अरिष्ट की परिभाषा प्रकार एवं रोग विज्ञान में महत्त्व प्रतिपादित करें।

Write the definition types and its importance in Rog Vigyan.

3. **रोग विनिश्चय में अष्टस्थान परीक्षा का महत्त्व प्रतिपादित करें।**

Write the importance of Ashtasthan Pariksha in clinical diseases & diagnosis.

4. **साम, निराम दोष एवं दूष्यों के लक्षण लिखिये।**

Write the sama Nirama Dosha's and Dushya's Lakshna's.

5. **संप्राप्ति का महत्त्व एवं विभिन्न प्रकारों का महत्त्व प्रतिपादित करें।**

Write the clinical importance and classification types of Samprapti.

6. **अनुक्त व्याधि के सामान्य सिद्धान्तों का उल्लेख करें।**

Write the general diagnostic principles of Anukta vyadhi.

निबन्धात्मक प्रश्न Long Answer questions

सभी प्रश्नों के 10–10 अंक हैं उत्तर सीमा 300 शब्द

All the questions are of 10 marks each. Answer limit is of 300 words.

1. **पूर्वरूप एवं लक्षण की परिभाषा, भेद एवं रोग निदान में महत्त्व को प्रतिपादित करें।**

Write the definition types and importance of Purva-rupa-and Lakshana in clinical Roga diagnosis.

2. **रोगोतिवृत एवं नैदानिक परीक्षा का महत्त्व रोग विनिश्चय में प्रतिपादित करें।**

Write the methods of history taking and clinical examination in Rog diagnosis.

3. **शोथ का वर्णन लिखिये।**

Write the description of oedema.

4. **साध्या साध्यत्व के प्रकार एवं महत्त्व को प्रतिपादित करें। रोग निदान के परिप्रेक्ष्य में।**

Write the types and importance in diagnosis of Sadhyasadhyatwa.

आयुर्वेदाचार्य (द्वितीय) व्या.

आयुर्वेदाचार्य द्वितीय व्यवसायिक मुख्य/प्रयास परीक्षा-2013

(बैचलर ऑफ आयुर्वेद मेडीसन एण्ड सर्जरी)

(अप्रेल-मई 2014 में आयोजित, बैच 2009/2010)

A-205 (a) : रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(सामान्ययाधिकीय रोग विज्ञानं विकृति विज्ञानं च)

(प्रथम प्रश्न पत्र)

समय : तीन घण्टे

पूर्णांक : 100

नोट : सभी प्रश्न करने अनिवार्य है।

अतिलघुत्तरात्मकप्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक 20 शब्दों में दीजिये, प्रत्येक प्रश्न के 2 अंक निर्धारित है।

Answer should not be given exceed 20 words of following questions. Each question carries 2 marks.

1. **सामान्य एवं विशिष्ट पूर्वरूप में कोई 2 अन्तर लिखें?**
   Write any two difference between Samanya and Vishista Purva rupa.
2. **दोषपाक एवं धातुपाक के लक्षण**
   Dosha pak and Dhatu Pak lakshna.
3. **स्रोतोदुष्टि के सामान्य लक्षण लिखें।**
   Write general symptoms of Srotodushti.
4. **अष्टविध रोगी परीक्षा के नाम लिखिये।**
   Write the name of "Asthvidh-Rogi Pariksha"
5. E. C. G. **का महत्त्व।**
   Importance of E. C. G.
6. **आवरण की परिभाषा लिखें।**
   Write definition of Avaran.

7. **लिंगसंकर क्या है।**

What means of Lingasankara.

8. **उपद्रव की परिभाषा लिखिये।**

Write definition of Upadrava.

9. **स्वप्रतिरक्षा रोग क्या है?**

What means auto immune disease.

10. **घनास्रता एवं रक्त संचार रोधन में कोई–2 अन्तर लिखिये।**

Write any two difference between thrombosis and embolism.

11. **रोगमार्ग क्या है?**

What means of Rog marg.

12. **साम एवं निराम की परिभाषा लिखें।**

Write definition of Sama and Nirama.

13. **सक्रिय एवं निष्क्रिय व्याधिक्षमत्व में कोई 2 अन्तर लिखिये।**

Write any two difference between active and passive immunity.

14. **सम्प्राप्ति की परिभाषा लिखिये।**

Write definition of Samprapti.

15. **प्रकृति एवं विकृति के भेद लिखिये।**

Write types of Prakriti and Vikriti.

Write short answers of following questions.

प्रश्न सं. 1 से 6 तक 5–5 अंकों के हैं उत्तर सीमा 100 शब्द

Question Number 1 to 6 carry 5 marks each. Answer limit is of 100 words.

1. **दशविध परीक्ष्य भाव के ज्ञान का महत्त्व लिखिये।**

Write importance and knowledge of Dashvidh Parikshya Bhava.

2. **साध्यासाध्यता के प्रकार एवं महत्त्व लिखें।**

Write types and importance of Sadhya Sadhyta.

3. **रोग एवं रोगी परीक्षा में अंतर लिखिये।**

Write difference between roga and rogi pariksha.

4. **निदान पंचक का महत्त्व लिखिये।**

Write importance of Nidan Panchak.

5. अग्नि दुष्टि के हेतु, भेद एवं लक्षण लिखें।

Write hetu, bheda and lakshan of Agni dushti.

6. सूक्ष्म पोषक तत्व क्या हैं, लिखते हुए इनकी कमी से होने वाले विकारों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

What are micro-nutrients and shortly describe the micro-nutrients deficiency disorder.

निबन्धात्मक प्रश्न Long Answer questions

सभी प्रश्नों के 10–10 अंक हैं उत्तर सीमा 300 शब्द

All the questions are of 10 marks each. Answer limit is of 300 words.

1. हेतु की परिभाषा, पर्याय एवं भेद का विस्तृत वर्णन कीजिए।

Describe definition, synonyms and types of hetu.

2. षटक्रिया काल का वर्णन करते हुए निदान पंचक एवं षटक्रियाकाल में सम्बन्ध स्थापित कीजिये।

Describing shatkriyakal and simultaneously compare between shatkriyakal and nidan panchak.

3. रोगी इतिवृत्त का महत्त्व लिखते हुए दशविध परीक्षा का वर्णन कीजिये।

Write the importance of patient history taking and describe the Dashvidh Pariksha (Ten fold examination).

4. संक्रमण क्या हैं? विषाणुओं का वर्गीकरण एवं इनसे उत्पन्न कुछ रोगों के नाम लिखिये।

What is infection and classify viruses, name some disease caused by viruses.

आयुर्वेदाचार्य (द्वितीय) व्या.

आयुर्वेदाचार्य द्वितीय व्यवसायिक मुख्य/प्रयास परीक्षा–2013

(बैचलर ऑफ आयुर्वेद मेडीसन एण्ड सर्जरी)

(अप्रेल–मई 2014 में आयोजित, बैच 2009/2008)

A-205 (a) : रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(सामान्ययाधिकीय रोग विज्ञानं विकृति विज्ञानं च)

(प्रथम प्रश्न पत्र)

समय : तीन घण्टे

पूर्णांक : 100

नोट : सभी प्रश्न करने अनिवार्य है।

अतिलघुत्तरात्मकप्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक 20 शब्दों में दीजिये, प्रत्येक प्रश्न के 2 अंक निर्धारित है।

Answer should not be given exceed 20 words of following questions. Each question carries 2 marks.

1. **'व्याधि नामकरण' का सिद्धान्त।**

   Citeria for nomenclature of diseases in Ayurveda.

2. **'ख–वैगुण्य' क्या है?**

   What means of "Kha-Vaigunya"?

3. **नानात्म्ज विकार की परिभाषा लिखिए।**

   Write the definition of Nanatmaj Vikara.

4. **शोथ** (Inflamation) **को परिभाषित कीजिए।**

   Definition of Inflamation.

5. **उपशय के भेद**

   Types of Upashaya.

6. **महागद क्या है? नाम लिखिए।**

   What are Mahagada? Write its names.

7. 'प्रत्यात्म लक्षण' किसे कहते हैं?

What means of "Pratyatm Lakshana".

8. ''क्रियाकाल'' के नाम लिखिये।

Write the names of "Kriyakala".

9. दश-विध-रोगी परीक्षा के नाम लिखियें।

Write the names of "Dash Vidh-Rogi Pariksha."

10. आशयापकर्ष एवं इसका महत्व।

What means of "Ashyapkarsh and its importance."

11. USG का महत्त्व।

Importance of USG.

12. अतिसंवेदनशीलता से आप क्या समझते हो?

Write you know about "Hypersensitivity"?

13. सामान्य एवं ककर्टार्बुद में कोई 2 अन्तर।

Write any 2 difference between benign and malignant tumers.

14. आम की परिभाषा एवं सामान्य लक्षण।

Definition and samanya Laksana of "Ama"

15. निदानार्थकर रोग।

What means of Nidanarthkar Rog.

लघुत्तरात्मक प्रश्न Write short answers

प्रश्न सं. 1 से 6 तक 5-5 अंकों के हैं उत्तर सीमा 100 शब्द

Question Number 1 to 6 carry 5 marks each. Answer limit is of 100 words.

1. व्याधिक्षमत्व की परिभाषा एवं वर्गीकरण लिखिए।

Write the definition and classification of Vyadikshamatva (Immunity)

2. आवरण की परिभाषा एवं महत्त्व लिखिए-

Write the definition of "Avaran and its importance."

3. सूक्ष्म जीवाणुओं का परिचय एवं वर्गीकरण लिखिए।

Write the introduction and calssification of micro organism.

4. निदान पंचक एवं षट्क्रियाकाल में सम्बन्ध स्थापित कीजिए।

Relation between Nidan-Panchak and Shatkriya kal.

5. प्रश्न परीक्षा विधि एवं इसका महत्त्व बताएं।

Method of "Prashna-Priksa and its importance.

6. संक्रामकव्याधियों का सामान्य कारण एवं लक्षण बताएं।

General causes and symptoms of infectious diseases.

निबन्धात्मक प्रश्न Long Answer questions

सभी प्रश्नों के 10–10 अंक हैं उत्तर सीमा 300 शब्द

All the questions are of 10 marks each. Answer limit is of 300 words.

1. व्याधि की परिभाषा, पर्याय एवं वर्गीकरण का विस्तृत वर्णन करें।

Detailed description of definition, synonyms and classification of "Vyadi".

2. सम्प्राप्ति की परिभाषा, भेद एवं महत्व लिखिए।

Write the definition, types and importance of "Samprapti".

3. रोग परीक्षा एवं रोगी परीक्षा क्या है? अष्टविध रोगी–परीक्षा विधि का विस्तृत वर्णन करें।

What means of "Rog-Pariksa" and "Rogi-Pariksha" detail description of "Ashtvidh Rogi-Pariksa".

4. अरिष्ट की परिभाषा, भेद एवं इसके महत्त्व को समझाइये।

Explain the definition types and its importance of "Arista".

आयुर्वेदाचार्य (द्वितीय) व्या.

आयुर्वेदाचार्य द्वितीय व्यवसायिक मुख्य/प्रयास परीक्षा–2012

(बैचलर ऑफ आयुर्वेद मेडीसन एण्ड सर्जरी)

(अप्रेल–मई 2012 में आयोजित, बैच 2009)

A-205 (a) : रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(सामान्ययाधिकीय रोग विज्ञानं विकृति विज्ञानं च)

(प्रथम प्रश्न पत्र)

समय : तीन घण्टे

पूर्णांक : 100

नोट : सभी प्रश्न करने अनिवार्य है।

अतिलघुत्तरात्मकप्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक 20 शब्दों में दीजिये, प्रत्येक प्रश्न के 2 अंक निर्धारित है।

Answer should not be given exceed 20 words of following questions. Each question carries 2 marks.

1. **स्थान, कर्म सहित वात के पंच भेद लिखिये।**

   Write down location, work of Vatas five kinds.

2. **वातवृद्धि, पित्त क्षय तथा कफ सामान्यावस्था के लक्षण लिखें।**

   Write down symptoms of Vata increased pitta decreased and kapha normal state.

3. **आम का सामान्य लक्षण लिखिये।**

   Write general symptoms of "Aam".

4. **उपद्रव को परिभाषित कीजिये।**

   Define updrava symptom.

5. **सहज विकार परिभाषित कीजिये।**

   Define sahaja diseases.

6. **पर्यावरण प्रदूषण से होने वाले विकार लिखिये।**

   Write the environmental pollution bron diseases.

7. अष्ट महागद बतलाइये।

Show the eight great disease described in Ayurved.

8. रोग की परिभाषा लिखिये।

Give definition of Rog.

9. शारीरिक तथा मानसिक विकारोत्पाद दोष लिखिये।

Write the doshas of general and mental diseases.

10. निज तथा आगन्तु रोगों में दोषों की कार्य शैली लिखिये।

write the doshas work type of nija and Aagantuk.

11. सामान्यज तथा नानात्मज को परिभाषित कीजिये।

Define the Samanyaja and Nanaatmaj.

12. ओज ही व्याधिक्षमत्व है, परिभाषित कीजिये।

"Ojas is immunity" define this theory.

13. अर्जित व्याधिक्षमता प्राप्ति के स्रोत बतलाइये।

Write the sources of Acquired immunity.

14. एड्स (AIDS) का शाब्दिक अर्थ स्पष्ट कर सामान्य हेतु लिखिये।

Give meaning of AIDS and write common causes of AIDS.

15. रोग के पर्यायवाची लिखिये।

Write synonyms of Roga.

Write short answers of following questions.

प्रश्न सं. 1 से 6 तक 5-5 अंकों के हैं उत्तर सीमा 100 शब्द

Question Number 1 to 6 carry 5 marks each. Answer limit is of 100 words.

1. निदान पंचक क्या है, रोग निर्माण में इनकी भूमिका लिखिये।

What is Nidanpanchak? Write taking part in pathogenesis.

2. षट् क्रिया काल का वर्णन कर महत्त्व प्रदर्शित कीजिये।

Describe Shat Kriyakala and write its importance.

3. रोगी परीक्षा के विविध प्रकारों का वर्णन कीजिये।

Descibe the many kinds of patient examinations.

4. सम्प्राप्ति निर्माण में भाग लेने वाले घटकों का वर्णन कीजिये।

Describe the Gathaka of taking part in Samprapti process.

5. **असात्म्येन्द्रियार्थ संयोग तथा प्रज्ञापराध का वर्णन कीजिये।**

Describe Asatmyendiyarth Samyog and pragyapradh.

6. **विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा वर्णित रोग वर्गीकरण लिखिये।**

Write the classification of diseases describe by W.H.O.

निबन्धात्मक प्रश्न Long Answer questions

सभी प्रश्नों के 10–10 अंक हैं उत्तर सीमा 300 शब्द

All the questions are of 10 marks each. Answer limit is of 300 words.

1. **नव्यरोग विज्ञान का परिचय उपशाखा विभाजन का वर्णन करके धनास्रता (थक्का) निर्माण पर विस्तृत वर्णन कीजिये।**

Describe the introduction and sub division of modern pathology and give description of formation of thrombosis in detial.

2. **दशविध परीक्षा भावों का विस्तार से वर्णन कीजिये।**

Describe in detail ten folds of patients examinations.

3. **संक्रामक व्याधियों का परिचय प्रदान कीजिये तथा संक्रामकता के आयुर्वेदोक्त संन्दर्भ का समुचित प्रतिपादन कीजिये।**

Introduction of infections diseases and give Ayurvedic concept of infectiousness.

4. **सूक्ष्म जीवाणु विज्ञान का वर्णन करते हुए विषाणु, जीवाणु तथा अन्य रोगोत्पादक कृमियों पर विस्तृत वर्णन प्रस्तुत कीजिये।**

Present detailed description on microorganisms and other disease forming worms.

आयुर्वेदाचार्य (द्वितीय) व्या.

आयुर्वेदाचार्य द्वितीय व्यवसायिक मुख्य/प्रयास परीक्षा-2011

(बैचलर ऑफ आयुर्वेद मेडीसन एण्ड सर्जरी)

(अप्रेल-मई 2011 में आयोजित, बैच 2008)

A-205 (a) : रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान

(सामान्ययाधिकीय रोग विज्ञानं विकृति विज्ञानं च)

(प्रथम प्रश्न पत्र)

समय : तीन घण्टे

पूर्णांक : 100

नोट : सभी प्रश्न करने अनिवार्य है।

अतिलघुत्तरात्मकप्रश्न

निम्न प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक 20 शब्दों में दीजिये, प्रत्येक प्रश्न के 2 अंक निर्धारित है।

Answer should not be given exceed 20 words of following questions. Each question carries 2 marks.

1. **अचय प्रकोप एवं चय प्रकोप**

   Achya & Chaya Prakopa

2. **श्लेष्म क्षय लक्षण**

   Symptoms of Shleshma Kohya.

3. **व्याधि एवं दोष संबंध**

   Relation between the disease and Dosha.

4. **आदिबल प्रवृत व्याधि**

   Aadibala pravritta disease.

5. **अष्टौ महागदा:**

   Eight Mahagada

6. **आतुरबल प्रमाणज्ञान**

   Aatur Bala Pramana Gyan.

7. **अनुमान परीक्षा**

Examination by inference

8. **आकृति परीक्षा**

Aakriti Pareeksha.

9. **शोथ एवं शोफ में अन्तर**

Differential diagnosis in Shotha and Shopa

10. **रक्त का स्कन्दन सिद्धान्त**

The concept of Blood clotting

11. **अंतः स्रावी ग्रंथियों की संख्या एवं प्रकार**

Types & count of Endocrine glands.

12. **सामपित्त लक्षण**

Symptoms of sama pitta.

13. **पर एवं अपर ओज सिद्धान्त**

The concept of Para and Apara ojus

14. **ऊतक निर्माण एवं विकृति।**

Tissue formation and pathology.

15. **अधर्म जनित रोग संप्राप्ति**

Pathogenesis due to Adharma.

Write short answers of following questions.

प्रश्न सं. 1 से 6 तक 5–5 अंकों के हैं उत्तर सीमा 100 शब्द

Question Number 1 to 6 carry 5 marks each. Answer limit is of 100 words.

1. **त्रयोरोग मार्ग एवं मार्गगत रोगों का वर्णन करें।**

Three Rogamarga and their respective disease.

2. **व्याधि का नानात्मजत्व एवं सामान्यत्व में कारणता का स्पष्ट वर्णन करें।**

Give a clear description about the reasoning of Samanyatwa and Nanatmatava of diseases.

3. **व्याधियों के नामकरण सिद्धान्त का प्रतिपादन करें।**

Give the concept for nomenclature of the diseases.

4. **पर्यावरण प्रदोषज विकारों का वर्णन करें।**

Describe the environmental disease.

5. सामता एवं निरामता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करें।

Give the conceptual detail of Samta and Niramta.

6. क्ष–किरण परीक्षण की उपयोगिता इतिहास एवं संबंधित व्याधियों का वर्णन करें।

Describe the importance, historical background and related diseases diagnosable by X-Ray.

निबन्धात्मक प्रश्न Long Answer questions

सभी प्रश्नों के 10–10 अंक हैं उत्तर सीमा 300 शब्द

All the questions are of 10 marks each. Answer limit is of 300 words.

1. आयुर्वेदानुसार स्रोतस् का विकृति वैज्ञानिक महत्व एवं स्रोतों दुष्टि हेतु लक्षण का विस्तृत वर्णन करें।

Define and detail pathological significance of Srotas according to Ayurveda with etiopathology of each srotas.

2. आयुर्वेदीय एवं विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा स्वीकृत व्याधि वर्गीकरण का निर्देश करे।

Ayurvedic and WHO classification of disease in detail.

3. षड् क्रियाकाल एवं निदान पंचक सामंजस्य विस्तार से करें।

The detail collaborative description of Shatkriyakal and Nidan Panchak.

4. आवरण एवं आश्यापकर्ष की सम्प्राप्ति परक भिन्नताओं का वर्णन करें।

Aavarna and Ashyapakarha with differential pathogenesis.

आयुर्वेद उपयोगी पुस्तकें

978-93-83452-49-1	संस्कृत–निलयम् (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. त्रिवेणी शास्त्री	225.00
978-93-83452-37-8	लघुसिद्धान्त कौमुदी (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. अर्कनाथ चौधरी	350.00
978-93-83452-14-9	अभिनव संस्कृत अनुवाद चन्द्रिका (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. श्वेता गौड	100.00
978-93-83452-89-7	पंचतन्त्रम् (अपरीक्षित कारकम्) (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. श्रीराम कुमावत	70.00
978-81-922897-1-7	आयुर्वेद संग्रह (एम. डी. आयुर्वेद प्रवेश हेतु)	डॉ. गोविन्द पारीक	620.00
----------	चरक–चक्र चन्द्रिका	डॉ. गोविन्द पारीक	290.00
----------	सुश्रुत चन्द्रिका	डॉ. गोविन्द पारीक	395.00
----------	अगद तन्त्र	डॉ. शरद मोर्टपोर्टे	यन्त्रस्थ
978-93-83452-45-3	अष्टाङ्गहृदय दर्पण डॉ. विपिन कुमार,	डॉ. सपना खत्री	320.00
----------	चरक मन्थन	डॉ. ललित मोहन साह	350.00
----------	संग्रहग्रन्थ मन्थन (लघुत्रयी) (Nano-Ayurveda)	डॉ. ललित मोहन साह	350.00
----------	संग्रहग्रन्थ मन्थन (लघुत्रयी) प्रश्नोत्तर संग्रह	डॉ. ललित मोहन साह	360.00
----------	**Pathway to Success** (A Modern MCQ)	डॉ. ललित मोहन साह	450.00
978-93-84276-31-7	**Human Anatomy** (BAMS Ist Year) **Part-I**	Dr. D. L. Choudhary	550.00
978-93-84276-28-7	**Human Anatomy** (BAMS Ist Year) **Part-II**	Dr. D. L. Choudhary	450.00
978-93-80857-29-9	(अभिनव) शरीर क्रिया विज्ञान।(BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. गोविन्द प्रसाद गुप्ता	350.00
978-93-8085-76-6	(अभिनव) शरीर रचना विज्ञान। (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. अशोक कुमार शर्मा	250.00
----------	शरीर क्रिया विज्ञान (BAMS प्रथम वर्ष)	डॉ. महेन्द्र सिंह मीना/ डॉ. श्याम सिंह	यन्त्रस्थ
978-93-83452-74-3	शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान (रंगीन चित्रों सहित)	डॉ. छाजू राम यादव	150.00
978-93-83452-01-9	आयुर्वेदीय रसशास्त्र (BAMS IInd year के नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. मोहरपाल मीणा/ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	350.00
978-93-83452-97-2	भैषज्य कल्पना विज्ञान। (BAMS IInd year के नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. मोहरपाल मीणा/ डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	300.00
978-93-84276-01-0	स्वस्थवृत–सुधा(BAMS IIIrd year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. काशीनाथ समगंडी	400.00
----------	स्वस्थ कैसे रहे। डॉ. बलदेव कुमार,	डॉ. (श्रीमती) हेतल दवे	50.00
978-93-80857-17-6	स्वस्थवृत्त। डॉ. कमलेश कुमार शर्मा, डॉ. अर्पणा शर्मा,	डॉ. जयसिंह यादव	150.00

978-93-83452-82-8	**अभिनव शालाक्य विज्ञान** (रंगीन चित्रों सहित) (BAMS IVth year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. अपर्णा शर्मा	400.00
978-93-80857-32-9	**शालाक्यतन्त्र (नेत्र रोग विज्ञान)।**(रंगीन चित्रों सहित)	डॉ. गुलाब चन्द पमनानी	350.00
978-93-83452-44-6	**आयुर्वेदीय पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान**(रंगीन चित्रों स.) (BAMS IVth year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	प्रो. राधेश्याम शर्मा/ डॉ. गोपेश मंगल	4000.00
978-93-83452-29-3	**सचित्र पंचकर्म विज्ञान।** (रंगीन चित्रों सहित)	प्रो. राधेश्याम शर्मा	200.00
----------	**आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान।**	डॉ. सन्तोष कुमार मिश्रा	150.00
978-93-80857-42-8	**आयुर्वेदीय अग्निकर्म चिकित्सा।**(रंगीन चित्रों सहित)	डॉ. महेन्द्र कुमार श्रृंगी	150.00
978-93-80857-02-2	**आयुर्वेदिक एवं प्राकृतिक स्नान।** डॉ. जयसिंह	डॉ. कमलेश कुमार शर्मा	100.00
978-93-84276-07-2	**औषध योग संग्रह।** डॉ. मोहरपाल मीणा/	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा	100.00
978-93-80857-15-2	**औषध द्रव्य परिचय (सचित्र)।**	वैद्य कनक प्रसाद व्यास	150.00
978-93-80857-09-1	**औषध कल्प विज्ञान।** (BAMS IInd year)	डॉ. राजा राम अग्रवाल	100.00
----------	**रसशाला तथा औषध एवं पथ्य निर्माण।**	डॉ. सन्तोष कुमार मिश्रा	200.00
978-93-84276-02-7	**रसप्रकाशिका।**	वैद्य-श्री रामकृष्ण शर्मा ढ़ंढ़	75.00
978-93-84276-04-1	**रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान (प्रथम भाग)** (BAMS IIIrd year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. निक्की बुलानी	300.00
978-93-84276-08-9	**रोग विज्ञान एवं विकृति विज्ञान (द्वितीय भाग)** (BAMS IIIrd year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. निक्की बुलानी	यन्त्रस्थ
978-93-80857-39-8	**रोग निदानम् (रोग एवं विकृति विज्ञान)।**	डॉ. एस. एल. जोशी	855.00
978-93-80857-03-9	**वाजीकरण प्रकाश।**	डॉ. ओम प्रकाश शर्मा	150.00
978-93-80857-12-1	**संक्षिप्त कौमारभृत्य।** (BAMS IIIrd year)	डॉ. राकेश कुमार नागर	200.00
978-93-80857-72-5	**बाल स्वास्थ्य परिचर्या (कौमारभृत्य)**	डॉ. हरीश कुमार सिंघल	150.00
978-93-80857-18-3	**चिकित्सा परिचर्या।** (काय चिकित्सा)	डॉ. जयसिंह यादव	150.00
----------	**परिचर्या के मूल सिद्धान्त।**	वैद्य कनक प्रसाद व्यास	150.00
978-93-83452-38-5	**पातञ्जलयोगसूत्र।** डॉ. गुंजन गर्ग/	डॉ. गोपश मंगल	100.00
----------	**प्रसूति एवं स्त्रीरोग श्लोकावली।**	डॉ. (श्रीमती) हेतल दवे	50.00
978-93-84276-33-1	**Laboratrical Rog Evum Vikriti Vigyan** (According to New Syllabus BAMS IIIrd year)	Dr. Yogeshwar K. Pandit	100.00
978-93-84276-35-5	**प्रायोगिक शरीर क्रिया विज्ञान**	डॉ. नितेश व्यास	140.00
978-93-80857-46-6	**द्रव्यगुण विज्ञान** (प्रथम)	डॉ. गोविन्द प्रसाद मंगल	300.00
----------	**द्रव्यगुण विज्ञान** (द्वतीय प्रथम)	डॉ. महेश चन्द्र शर्मा	यन्त्रस्थ
978-93-84276-03-4	**निदान-तत्त्वावबोध** (संप्राप्ति-लक्षण-सम्बन्ध)	वैद्य जयप्रकाश राम	150.00
978-93-80857-40-4	**मानस रोग विज्ञान (प्रथम भाग)**	डॉ. राम किशोर जोशी	200.00

978-93-80857-41-1	मानस रोग विज्ञान (द्वितीय भाग)	डॉ. राम किशोर जोशी	200.00
978-93-80857-21-3	मानसिक व्याधि एवं परिचर्या।	डॉ. सन्तोष कुमार मिश्र	125.00
978-93-83452-39-2	मानसिक स्वास्थ्य विज्ञान	डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा	150.00
----------	संक्षिप्त चरक संहिता (सचित्र)	डॉ. शंकर बुडमक	यन्त्रस्थ
----------	सिद्धभैषज्य मणिमाला (कृष्णराम भट्ट)	सम्पा. देवेन्द्र नाथ भट्ट	250.00
----------	स्त्री रोग विज्ञान। (BAMS IIIrd year नवीन पाठ्यक्रमानुसार)	डॉ. सुशीला शर्मा	350.00
----------	शरीर क्रिया विज्ञान।	डॉ. सन्तोष कुमार मिश्रा	यन्त्रस्थ
----------	शरीर रचना विज्ञान।	डॉ. सन्तोष कुमार मिश्रा	यन्त्रस्थ
----------	शल्य तन्त्र परिचर्या।	डॉ. श्याम सुन्दर शर्मा	150.00
----------	सक्षिप्त शालाक्य विज्ञान। (सचित्र)	डॉ. श्याम सुन्दर शर्मा	150.00
----------	दिव्या आयुर्वेद नर्स कम्पाउण्डर गाईड।	डॉ. गिरधर गोपाल शर्मा	400.00
978-93-80857-23-7	**Concise-Panchkarma.** (According to New B.A.M.S. Syllabus) Dr. G. P. Sharama		200.00
978-93-80857-63-3	**Essentials of Panchakarma**	O. P. Sharma	150.00
----------	**Pulse Examination in Ayurved.**	Dr. Baldev Kumar, Dr. (Mrs.) Hetal H. Dave	90.00
978-93-84276-06-5	**Healing Secrets of Ayurveda**	Dr. D. P. Mishra	200.00
978-93-84276-25-6	**Recent Trends in Ayurvedic Pharmaceutics**	Dr. Pramod R. Yadav	200.00
----------	**Practical Anatomy**	Dr. Sunil Yadav	यन्त्रस्थ
--------- -	**A Text Book of Ayurved & Mordern Practical Physiology**	Dr. Chaju Ram Yadav	यन्त्रस्थ
978-93-84276-26	**A Practical Guide to Yogic Procedures** & Dr. R. S. Ranawat	Prof. N. S. Chundawat	200.00
978-93-84276-53-9	**Asthi-Bhanga.**	Dr. Namrata Kulshrestha	200.00